जयपुर नगर की सफाई के लिये

नगर परिषद

को

सहयोग दीजिए

★ रास्ते में कूड़ा न फेंकिये

★ मकान साफ करके कूड़ा गाड़ी आने से पहले नियत स्थान पर ढोल, कनस्तर, मटके इत्यादि में डालिये

★ गलियों, रास्तों व नलियों में बच्चों को तहारत के लिये मत बिठाइये

★ फ्लश के तहारत बनाने में जल्दी कीजिये

★ टूटे नालों की मरम्मत कराके खस्सी बनाइये

★ जो गलियां साफ करदी गई हैं उन्हें फिर गन्दी न होने दीजिये

★ बड़े नालों में कूड़ा न डालिये

नगर परिषद, जयपुर, राजस्थान द्वारा प्रसारित

महावीर जयन्ती स्मारिका

सम्पादक
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

★

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
अप्रेल – १९६४

अनुक्रमणिका

शुभ-कामनाएं व संदेश

यह खुशी की बात है कि आप गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह पर महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित करने जा रहे हैं।

समयाभाव के कारण मैं स्मारिका के लिए लेख लिखने में असमर्थ हूं। आशा है कि आप इसके लिए क्षमा करेंगे।

तदैव मैं आपके इस समारोह एवं स्मारिका की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएं भेजता हूं।

जाकिर हुसैन
उपराष्ट्रपति, भारत

• • • •

भगवान महावीर के पावन जयन्ती के अवसर पर मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और आशा करता हूं कि भगवान महावीर के आदर्शों का प्रसार आप के स्मारिका द्वारा पर्याप्त मात्रा में किया जावेगा।

ह. वि. पाटस्कर
राज्यपाल, मध्य प्रदेश

• • • •

I am desired to refer to your letter No. 224 dated the 15th of March, 1964, and to convey the good wishes of the Governor of West Bengal on the occasion of the third anniversary cf Mahavira Jayanti celebration proposed to be held under the auspices of Rajasthan Jain Sabha on the 24th of April, 1964.

Shri S. K. Mukerjei
CALCUTTA *Secretary to the Governor, West Bengal*

भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह पर महावीर जयन्ती स्मारिका इस वर्ष भी प्रकाशित की जा रही है यह जानकर प्रसन्नता हुई। वे आपके कार्य की सफलता चाहते हैं।

जगदीशचन्द्र सक्सेना
सचिव, गृह मन्त्री, भारत सरकार

नई दिल्ली

• • • •

यह जानकर मुझे खुशी हुई कि भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह पर महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है।

जैनी लोग इस देश में पुरातन काल से अहिंसा का प्रचार करते आये हैं। यह परम्परा अटूट रूप से आज तक चली आ रही है। आज के युग में जैन विचारों की ओर लोगों का काफी झुकाव है। इसलिए यह आवश्यक है कि भगवान महावीर की शिक्षा-दीक्षा तथा उनके साहित्य का प्रचार जन-साधारण में हो ताकि लोग उससे लाभ उठायें और अपने जीवन में उसे उतारने का प्रयत्न करें।

मैं इस अवसर पर अपनी शुभकामनायें भेजता हूं।

राम सुभगसिंह
कृषि मन्त्री, भारत सरकार

नई दिल्ली

• • • •

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह के अवसर पर आप एक स्मारिका का प्रकाशन कर रहे हैं। जैन दर्शन और जैन धर्म पर शोधपूर्ण लेखों के लिये आपकी स्मारिका ने साहित्य जगत में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है।

भौतिकता की ओर द्रुतगति से अग्रसर हो रही हमारी आधुनिक सभ्यता के उद्धार के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सर्व जीव समभाव, सर्व जाति समभाव एवं सर्व धर्म समभाव आदि के सिद्धान्तों का अधिक से अधिक प्रचार एवं अनुसरण हो।

इस जयन्ती समारोह के अवसर पर मैं भगवान महावीर की स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और आपकी स्मारिका की सफलता की कामना करता हूं।

मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मन्त्री, राजस्थान

जयपुर

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर की पावन जयन्ती समारोह पर महावीर जयन्ती स्मारिका, राजस्थान जैन सभा द्वारा निकाली जा रही है।

भगवान महावीर ने विश्व को "जीओ और जीने दो" का मूल मंत्र दिया। आज के युग में इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम उनके इस आदर्श का अनुसरण करें और युद्ध की आशंका से त्रस्त मानव समाज को शांति की राह बतायें। उनके अनुसार हमें जीने का अधिकार है पर दूसरे की जिन्दगी छीनने का अधिकार नहीं। दूसरे का जीवन छीन कर हमें अपना जीवन समृद्ध बनाने का कोई अधिकार नहीं है। जिस विश्व बन्धुत्व, पंचशील और सहअस्तित्व की बात हम करते हैं वह तभी साकार हो सकती है जब हम उनके "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त का पूर्ण अंशों में पालन करें।

आज के इस युग में जब कि बुराइयां अच्छाइयों पर बुरी तरह हावी हो रही हैं हम महापुरुषों के आदर्शों पर चल कर ही समभाव समाज व्यवस्था कायम करा सकते हैं।

मुझे आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि "श्री महावीर जयन्ती स्मारिका" में ऐसे लेखों का समावेश होगा जो कि आम जनता के नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान में सहायक होंगे।

इस शुभ अवसर पर मेरी शुभ कामनाएं आप सब के साथ हैं।

रामप्रसाद लढ़ा

जयपुर — उप मंत्री, राजस्व, खनिज एवं देवस्थान, राजस्थान

• • • •

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह पर महावीर जयन्ती स्मारिका दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रही है। भगवान महावीर अहिंसा के पुजारी थे। आज देश में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में अहिंसा से ही शान्ति रह सकती है। इस अवसर पर मैं आपके प्रकाशन की सफलता की कामना चाहता हूं।

हरिश्चन्द्र

जयपुर — मंत्री, निर्माण, विद्युत और उद्योग, राजस्थान

यह आनकर हार्दिक प्रसन्नता है कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर की पुनीत जयन्ती समारोह पर श्री महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित होने जा रही है। यह एक आदर्श और जनोपयोगी प्रयास है। इससे न केवल जैन धर्मावलम्बी ही लाभान्वित होंगे वरन इससे समूचे समाज को जैन धर्म के तत्व और मर्म को समझने में सहायता मिलेगी। भगवान महावीर का जीवन और उनकी शिक्षाएं समस्त मानव के उत्थान के लिये एक खुला पृष्ठ है जो मानव समाज का मार्ग प्रशस्त करने में सदा सहायक रहा है और अनन्तकाल तक रहेगा। भगवान महावीर केवल एक समुदाय विशेष के आराध्य नहीं हैं वरन समूचे पूर्ण विकसित मानव समाज, मानव धर्म के प्रतीक हैं जो सत्य अहिंसा पर आधारित है। यह एक और हर्ष की बात है कि इस ग्रन्थ का संकलन और प्रकाशन एक उच्चकोटि के विद्वान पं० चैनसुखदास न्याय तीर्थ कर रहे हैं। मुझे आशा ही नहीं वरन विश्वास है कि इस ग्रन्थ में पर्याप्त पठनीय और उपयोगी साहित्य रहेगा जो मानव समाज को पर्याप्त प्रेरणा देकर उनका मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

मैं श्री महावीर जयन्ती स्मारिका की सफलता की हृदय से कामना करता हूं।

मिश्रीलाल गंगवाल
योजना तथा विकास मन्त्री, मध्यप्रदेश

भोपाल

• • • •

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि मानव जाति के परमोद्धारक श्री महावीर स्वामी की जयन्ती सदा की भांति इस वर्ष भी राजस्थान जैन सभा द्वारा अप्रैल मास में मनाई जा रही है। महावीर जयन्ती के इस पावन पर्व पर जयन्ती स्मारिका के रूप में जो उपहार ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है वह एक स्तुत्य प्रयास है।

भगवान महावीर जी ने आज से २५६१ वर्ष पूर्व समाज में व्यापक रूढिवादिता के विरोध में नवीन जागृति दी थी सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और स्याद्वाद आदि सिद्धांतों के प्रतिपादन तथा उन्हें अपने जीवन में अपना कर जो पथ बताया था उस पर चलना आज समस्त देश एवं विश्व के लिये आवश्यक है।

मुझे आशा है महावीर जयन्ती स्मारिका अपने उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ होगी।

गायत्री देवी
संसद सदस्या

राजमहल, जयपुर

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इस वर्ष भी महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित की जा रही है और विशेष कर श्री आदरणीय पं० चैनसुखदासजी सा. न्याय तीर्थ के सम्पादकत्व में मैं आपके इस प्रयास की सराहना करता हूं और आशा करता हूं आपकी यह योजना इसी प्रकार से उन्नतशील होती रहेगी। मैं आपके इस सद् प्रयास की सफलता की कामना करता हूं।

अजमेर

भागचन्द्र सोनी

•　•　•　•

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सदा की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर के जयन्ती समारोह के अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि गत वर्षों की भांति स्मारिका में उत्कृष्ट सामग्री के प्रकाशन का आपका प्रयत्न अवश्य सफल होगा।

भगवतसिंह महता

जयपुर

मुख्य-सचिव, राजस्थान

•　•　•　•

श्री महावीर जयन्ती के अवसर पर मेरी भगवान से प्रार्थना है कि मानव में प्रज्ञा-बल या बुद्धि शक्ति का अधिकाधिक उदय हो और उसके साथ ही जीव मात्र के लिए हृदय की महा करुणा का अक्षय स्रोत भी प्रवाहित हो। आज के युग में मानव के संघर्षमय विचारों के लिए महावीर के. आदर्शों का शीतल पुट चाहिए। सर्वहारा हिंसा को कैसे वश में किया जाय यही इस युग की समस्या है जिसके लिए हमारे श्रवण महावीर की अहिंसा वाणी के दो-चार शब्द चाहते हैं।

वासुदेवशरण

बनारस

काशी विश्व विद्यालय

•　•　•　•

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी आप भगवान महावीर के पावन जयन्ती समारोह पर 'महावीर जयन्ती स्मारिका' दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ के सम्पादन में प्रकाशित कर रहे हैं। मुझे आशा है कि आपके इस प्रकाशन से सामान्य जन जैन धर्म, दर्शन शास्त्र, कला और इतिहास आदि के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। तथा उनके नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान में यह परमोपयोगी सिद्ध होगी।

आपके इस प्रयास की सफलता की कामना करता हूं।

नई दिल्ली

राजबहादुर

आप महावीर जयन्ती के पुण्य-पर्व पर विगत-वर्षों के समान ही इस वर्ष भी 'स्मारिका' का प्रकाशन करने जा रहे हैं यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इस माध्यम से आप सचमुच ही भगवान महावीर के मंगलमय उपदेशों का प्रचार एवं प्रसार कर एक ठोस रचनात्मक कार्य कर रहे हैं।

भगवान महावीर एक सच्चे लोकनायक महापुरुष थे। उन्होंने लोकहित के लिये लोकभाषा में अपने कल्याणकारी उपदेशों का प्रचार कर विश्व में एक नवीन क्रान्ति का शंखनाद किया था।

राजस्थान युगों–युगों से भारत की गौरव-भूमि रहा है। एक ओर जहां मातृभूमि की आन–बान की रक्षा के लिये वहां के आबाल–वृद्ध नर–नारी अपना सर्वस्व समर्पण करते रहे, वहीं दूसरी ओर साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा में भी अनवरत एवं अथक श्रम एवं प्रयत्न करते रहे। वहां के विविध प्राचीन शास्त्रागारों में सुरक्षित हजारों–लाखों हस्तलिखित प्राचीन चित्र-विचित्र विविध-विषयक ग्रन्थ रत्न तथा सहस्रों पुरातत्व एवं कलाकृतियां इसके ज्वलन्त साक्षी हैं। इन्हीं सभी गौरवयुक्त कार्यों से आज राजस्थान का एक–एक कण हमारे लिये महान तीर्थ क्षेत्र बन गया है। यथार्थ ही वह भारत माता का शृंगार है।

आपके आयोजनों के सकुशल एवं सफलतापूर्ण सम्पन्न होने की मैं वीर-प्रभु से मंगल कामना करता हूं।

आरा

राजाराम जैन

• • • •

महावीर जयन्ती स्मारिका भगवान महावीर एवं उनके द्वारा उपादिष्ट धर्म दर्शन आदि के विषय में नानाविध दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने वाला एक उपहार ग्रन्थ है। ऐसे साहित्य का लगातार प्रकाशन आवश्यक है।

जैन धर्म का प्राचीन वाङ्मय इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अपने दर्शन, पुरातत्व, आचार संहिता, स्थापत्य कला एवं मूर्ति कला आदि के कारण दुनियां के धर्मों में जैन धर्म का अपना विशिष्ट स्थान है।

सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि जैन सिद्धान्तों को दैनिक जीवन में उतारने से देश एवं विश्व का नैतिक स्तर काफी ऊँचा उठ सकता है। मनुष्य अपनी स्वार्थ वृत्ति छोड़कर ऊंचा उठे इसी में कल्याण है। इससे सम्बन्धित साहित्य से मानव की बहुत बड़ी सेवा हो सकती है।

मैं भगवान महावीर के प्रति अपनी श्रद्धांजली अर्पित करता हुआ राजस्थान जैन सभा के प्रयास की सराहना करता हूं।

सवाई मानसिंह

राजमहल, जयपुर

सम्मतियां

Mahabir Jayanti Smarika Contains a mine of information of which quite a number of us are ignorant. The book is of great value to me.

Balbhadra Prasad,
Vice-Chancellor,
University of Allahabad.

Mhavir Jayanti Smarika presented a large volume of information on Jainism, and a number serves as a valuable Book of Reference

—**Dr. W. Nolle of Germany.**

राजस्थान जैन सभा, जयपुर की ओर से महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन इधर दो वर्षों से हो रहा है। यह संकलन सदा संग्रहणीय होता है, विशेषकर स्मारिका का इस वर्ष का अंक इसके योग्य संपादक चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के उद्यम से सविशेष उपादेय बन पड़ा है। महावीर के जीवन काल के देश व समय का आकलन और चित्रण तो हुआ ही है इसके अतिरिक्त उनकी देशना और शासना का व्याख्यान भी प्रस्तुत संग्रह से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भी जैन तत्व के सम्बन्ध में प्रभावशाली और उपयोगी सामग्री एक स्थान पर संकलित मिलजाती है। पं० चैनसुखदासजी हमारी बधाई के पात्र हैं और राजस्थान जैन सभा का यह उद्यापन सराहनीय और स्तुत्य है।

—जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली

महावीर जयन्ती स्मारिका १९६३ की प्रति मिली। कितनी उपयोगी सामग्री का संकलन आपने इसमे किया है। भगवान महावीर और उनके सिद्धांतों पर तो आपने रचनाएं दी ही हैं पर साथ ही अन्य विषयों का भी समावेश करके आपने इस संग्रह को लोकोपयोगी बना दिया है। इसकी सामग्री में उतनी विविधता है कि पाठक उसके अध्ययन से ऊबता नहीं है, बल्कि उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी सभी रचनाएं गंभीर और ज्ञानवर्द्धक है।

आजके युग मे जबकि लोक-रुचि हलकी-फुलकी चीजों की ओर आकर्षित हो रही है, इतनी गंभीर सामग्री देना साहस का काम है और मैं इसके लिये हृदय से अभिनंदन करता हूं। मुझे आशा है कि प्रति वर्ष इस प्रकार की स्मारिका निकालने का आपका सकल्प पाठकों के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा और परिश्रम से स्थायी महत्व की बहुत सी सामग्री एकत्र हो जायगी।

—यशपाल जैन, दिल्ली

महावीर जयन्ती स्मारिका की प्रति मिली, इसे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। कलेवर को देखते हुये आपने इसमें काफी खोजपूर्ण, रोचक और उद्बोधक सामग्री जुटादी है। इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिये मेरी हार्दिक बधाई।

—सत्यनारायण मिश्र, बम्बई

आपकी भेजी महावीर जयन्ती स्मारिका मिली। इसके लिये आभारी। स्मारिका की वाचनक्षम सामग्री देखकर प्रसन्नता हुई।

—कस्तूरभाई, अहमदाबाद

महावीर जयन्ती स्मारिका के लेख, चित्र, कागज छपाई, गेटअप सब एक से एक उत्कृष्ट है। जैनकोष-साहित्य, यशस्तिलक का अध्ययन, वेदों में अहिंसा समन्वय की आवश्यकता आदि लेख तो बहुत ही उत्कृष्ट हैं। वस्तुतः आज के घासलेटी साहित्ययुग में आपका यह कार्य सर्वथा आशातीत, उत्कृष्ट तथा अभिनंदनीय है। सफलता के लिये हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

—चिम्मनलाल गोस्वामी,
सम्पादक, कल्याण

महावीर जयन्ती स्मारिका १९६३ देखकर हृदय में जो प्रसन्नता हुई उसे किन शब्दों में व्यक्त करूं ? यह स्मारिका युगों तक भगवान महावीर और उनकी दिव्यदेशना के विविध अंगों का स्मरण दिलाती रहेगी। ऐसी स्मारिका प्रतिवर्ष प्रकाशित होनी चाहिए। एक हजार व्याख्यान सभाएं भी उतनी प्रभावना नही कर सकती जितनी एक स्मारिका अनायास ही कर सकती है। इस नवीन प्रणाली के लिये आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।

—अमृतलाल, वाराणसी

महावीर जयन्ती स्मारिका १९६३ के अंक का भी महत्व निःसंदिग्ध है। भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर नूतन प्रकाश डालने वाला यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है। इसके कतिपय लेख शोधमूलक हैं और उस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति का मार्गदर्शन करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

—वासुदेवसिंह, सीतापुर

महावीर जयन्ती स्मारिका १९६३ वास्तव में अत्यन्त सुन्दर बन पडी है। धर्म, संस्कृति, साहित्य और पुरातत्व आदि के अनेक गवेषणापूर्ण एवं आधुनिक शैली में लिखे गये लेख उसे नवीनता और गौरव प्रदान कर रहे हैं।

—पं० गोपीलाल, अमर सागर

महावीर जयन्ती स्मारिक में जिन लेखों का संचयन हुआ है, उनके पीछे साधना और संस्कार का बल है। यही कारण है कि स्मारिका स्थाई महत्व की वस्तु बन गई है।

—कन्हैयालाल सहल, पिलानी

युग प्रवर्तक भगवान महावीर की पावन जयन्ती के शुभअवसर पर प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रेल १९६३ का मैंने आद्योपान्त अध्ययन किया। इसमें जैन धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, साहित्य पुरातत्व आदि जैन वाङ्मय के प्रभृति विषयों का अनेकानेक जैन एवं जैनेतर उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। इसके अनेक लेख अन्वेषणात्मक, अनुसंधानात्मक, तुलनात्मक-दृष्टिकोण से परमोपयोगी अमूल्य तथा प्रेरणात्मक हैं। प्रस्तुत स्मारिका किसी भी विश्व विद्यालय से स्वीकृत जैन धर्म संबंधी विषयों पर शोधात्मक निबन्ध लिखने वालों, इतिहास के तत्ववेताओं एवं जैन दर्शन के जिज्ञासुओं के निमित्त वस्तुतः संग्रहणीय एवं उपादेय उपलब्धि ही कही जा सकती है। यही नहीं, यदि इसे भारतीय धर्मों की विविधता में भी भावात्मक एकता लाने का सफल प्रयास कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। निःसन्देह स्मारिका के अन्तः पक्ष एवं बाह्यपक्ष दोनों ही आकर्षक हैं। ऐसी सुन्दर ठोस, सुव्यवस्थित, सुसम्पादित, प्रकाशित अमूल्य सामग्री के लिये सम्पादक एवं राजस्थान जैन सभा जयपुर दोनों का प्रस्तुत प्रयास स्तुत्य तथा पूर्ण रूपेण सफल रहा है। एतदर्थ दोनों बधाई के पात्र हैं। सभा की आर्थिक स्थिति को स्थाई बनाने मे योगदान देकर स्मारिका को प्रतिवर्ष निकालने मे सभी को योग देना चाहिए।

—सुलतानसिंह, शामली

गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी जैन सभा ने महावीर जयन्ती के शुभावसर पर प्रस्तुत पर स्मारिका प्रकाशन किया है। प्रसिद्ध विद्वान पं० चैनसुखदासजी के सुयोग्य सपादकत्व एवं निर्देशन में यह योजना जिस प्रकार कार्यान्वित हो रही है उससे यह स्मारिका एक उच्चकोटि की वार्षिक जैन शोध पत्रिका का रूप लेती दीख पड रही है। लेखों एवं निबन्धों का ऐसा सुन्दर एवं उपयोगी संकलन जैनाध्ययन में प्रेरक और उसकी प्रगति का सूचक है।

—शोधांक, जैन सन्देश

राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती के अवसर पर स्मारिका निकालती है वह महावीर के विचारों और सिद्धांतों का प्रतीक है। इससे जैन धर्म और जैन संस्कृति पर ही प्रकाश नही पड़ता है बरन भारतीय दर्शन का ज्ञान होता है जो भारतीय धर्मों की विविधता में भावात्मक एकता की ओर प्रेरित करती है। साहित्यिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है।

—नवभारत टाईम्स, दिल्ली

महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका अनूठा प्रयास है । स्मारिका १९६३ में विभिन्न विषयों के और विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये लेख हैं । इस स्मारिका के अनेक शोधपूर्ण निबन्ध उत्तम सामग्री से समृद्ध बनाए गये हैं । हिन्दी के विकास में जैन धर्म, अपभ्रंश साहित्य आदि का विशेष योग है । इस दृष्टि से भी यह अंक संग्रहणीय है । इस ज्ञानवर्द्धक और उपयोगी अंक के लिये संपादक महोदय का प्रयत्न अभिनन्दनीय है ।

—नवभारत टाईम्स, बंबई

राजस्थान जैन सभा द्वारा महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन हो रहा है । आज के इस यांत्रिक युग में जब आत्मा, परमात्मा, धर्म और दर्शन सम्बन्धी मूल्यों का विघटन हो रहा है ऐसे प्राणजीवी और लोकोपदेशक साहित्य का प्रकाशन एक शुभ कदम है । यह स्मारिका जैन धर्मावलम्बी के लिये ही उपयोगी नहीं है वरन् जिसे कला, साहित्य और संस्कृति से थोडा भी प्रेम है उसके लिये भी संग्रहणीय है ।

—शोध पत्रिका एवं जिनवाणी

महावीर जयन्ती स्मारिका मे चयन की गई सामग्री जैन धर्म, दर्शन, तत्व साहित्य, संस्कृति कला और संस्थान के साथ साथ कतिपय अध्यात्म मनीषियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी एक सुन्दर प्रकाश डालती है । अधिकारी विद्वानों के शोधपूर्ण हिन्दी व अंग्रेजी निबन्धादि का यह संग्रह पाठको को एक खुराक एवं विद्वानों को एक स्फुरणा और विभिन्न तथ्यों को जानकारी देने वाला है । प्रकाशक और सम्पादक इस हेतु अवश्य ही बधाई के पात्र हैं ।

—जैन भारती, कलकत्ता

सभी लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है और उनके यशस्वी लेखकों ने उन्हें निश्चय ही बड़े श्रम से लिखा है । जैन प्रकाशनों में इस प्रकार की उच्चकोटि की रचनाओं का संकलन विरला ही देखा जाता है । प्रकाशन अभिनन्दनीय है ।

—जैन सन्देश

महावीर जयन्ती स्मारिका के लेखों को पढ़ने से हृदय प्रसन्न हो जाता है और विद्वान सम्पादक को बधाई देने की इच्छा होती है । सभी लेख पढ़ने और मनन करने योग्य हैं ।

—श्वेताम्बर जैन

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रकाशित स्मारिका सभी दृष्टियों से सर्वाङ्ग सुन्दर बन पड़ी है । प्राचीन जैन साहित्य को प्रकाश में लाने की दिशा में जैन सभा को यह एक सराहनीय प्रयास है । ऐसी स्मारिका की काफी अर्से से कमी महसूस की जा रही थी । ऐसी स्मारिकाओं का प्रकाशन प्रति वर्ष होता रहे तो साहित्य की एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो सकती है । स्मारिका की छपाई सुन्दर है तथा पृष्ठ संख्या को देखते हुए मूल्य दो रुपया काफी कम हैं । ऐसे प्रकाशन का हम स्वागत करते हैं ।

—दैनिक राष्ट्रदूत

सभी लेख पठनीय हैं । सभी लेखकों ने विभिन्न विषयों पर अपने दृष्टिकोण को लेकर मौलिक एवं नूतन लेख लिखे हैं जो अत्युपयोगी हैं । प्रत्येक को इस विशेषांक को मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये । इस स्मारिका द्वारा जैन धर्म, दर्शन, कला, इतिहास आदि की जनता को सच्ची जानकारी प्राप्त होती है । चित्र तो बड़े ही सुन्दर हैं जिनमे वैराग्यता प्रगट होती है ।

—जैनमित्र, सूरत

प्रकाशकीय

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका का तीसरा अंक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुये हमें अत्यन्त हर्ष अनुभव हो रहा है। गत दो वर्षों से प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका का पाठकों ने जो स्वागत किया है तथा विद्वानों ने उसकी जो सराहना की है उसी से प्रेरित होकर हम स्मारिका का यह तीसरा अङ्क प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें विश्वास है, पाठकों ने जिस सहृदयता से दोनों अङ्कों को अपनाया है उसी सहृदयता से इस तृतीय अङ्क को भी अपनायेंगे।

गत दो वर्षों में प्रकाशित स्मारिकाओं के अनुरूप यह स्मारिका नहीं बन पाई है, इसका हमें खेद है। इसका मुख्य कारण धनाभाव रहा है। स्मारिका के प्रकाशन तथा राजस्थान जैन सभा के अन्य कार्यक्रमों में जैन समाज का जो सहयोग प्राप्त होना चाहिये वह नहीं मिल पा रहा है। अपने अथक प्रयासों के बावजूद भी हम इस प्रकाशन के लिये वांछित धन संग्रह नहीं कर पा रहे हैं। सभा के सामने सदा ही आर्थिक संकट रहा है। यदि आर्थिक कष्ट की समस्या न हो तो इस प्रकार के अनेक प्रकाशनों की योजना बनाई जा सकती है तथा इस स्मारिका को भी अधिक सुन्दर एवं उपयोगी बनाया जा सकता है।

स्मारिका के प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जिन महानुभावों ने सहयोग प्रदान किया है उनके हम आभारी हैं। हम विशेष तौर पर उन सभी विज्ञापन दाताओं के भी कृतज्ञ हैं जिनकी सहायता के फलस्वरूप स्मारिका का प्रकाशन सम्भव हो सका है।

हम सम्पादक मण्डल के अध्यक्ष पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ एवं सम्पादक मण्डल के सदस्य सर्व श्री राजमल संघी एवं डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल के भी अत्यधिक आभारी हैं जिनके अथक प्रयास से इस स्मारिका का प्रकाशन सम्भव हो सका है। हम स्मारिका के मुद्रक अजन्ता प्रिन्टर्स के श्री सौभागमल जैन को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने इसके समय पर प्रकाशन में पूर्ण सहयोग दिया है।

हमें आशा है, पाठक गणों तथा जैन समाज के धनी मानी सज्जनों से भविष्य में अधिक सहयोग प्राप्त होगा ताकि इस स्मारिका को हम अधिक विकसित रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें।

रतनलाल छाबड़ा
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा

जयपुर
२४-४-६४

सम्पादकीय वक्तव्य

सन १९६४ की यह महावीर जयन्ती स्मारिका पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। सन १९६२ और सन १९६३ की महावीर जयन्ती स्मारिकाएं हमारे विद्वान पाठकों ने बहुत पसन्द की हैं। हिन्दी के प्रख्यात दैनिक एवं साप्ताहिक आदि पत्रों ने भी इनकी अनुकूल समालोचनाएं की हैं। संक्षेप में सभी ने हमारे इस प्रयत्न की प्रशंसा की है। इससे सचमुच हमें बड़ा बल मिला है और हमारे उत्साह में वृद्धि हुई है। इस सबके लिए हम उनके बहुत बहुत कृतज्ञ हैं।

हम सब से अधिक कृतज्ञ उन विद्वान लेखकों के हैं जिन्होंने हमें इन स्मारिकाओं के लिए अपनी खोज पूर्ण रचनाएँ भेजकर उपकृत एवं अनुगृहीत किया है।

हम इन स्मारिकाओं में जो कमियां रही हैं उनसे अच्छी तरह अवगत हैं। इनसे हमें स्वयं असन्तोष है; किन्तु हमारे साधन बहुत सीमित हैं और इसका कारण है आर्थिक कठिनाई। मुख्य रूप से यही कठिनाई मनुष्य के किसी भी लौकिक काम में बाधा उपस्थित कर देती है। इस बाधा पर विजय प्राप्त करना भी कोई सरल कार्य नहीं है। यदि जैन समाज के धनी सज्जन ऐसे पावन पवित्र कार्यों में अपने दान का सदुपयोग करें तो भगवान श्री महावीर की सर्व जीवन कल्याणकारिणी पुनीत वाणी को जन साधारण तक पहुंचाने में हमें बहुत मदद मिल सकती है।

आवश्यकता इस बात की है कि जैन वाङ्मय के प्रचार प्रसार के लिए कोई योजना बद्ध काम हो। भारत की विविध भाषाओं में निबद्ध इस निधि के उपयोग की ओर अभी तक किसी का भी यथेष्ट ध्यान नहीं गया है। जो इस वाङ्मय में युगानुसारी एवं लोकोपयोगी तत्व है उससे सर्व साधारण तभी लाभ उठा सकता है जब यह हरएक के लिए सुलभ बना दिया जाय। चाहे किसी भी धर्म का

वाङ्मय हो वह राष्ट्र की सम्पत्ति है, क्यों कि वह मानव मात्र के उपयोग की वस्तु है। इसमें जो चिरंतन सत्य निहित होता है मानव निर्माण में उसका बहुत बड़ा हाथ होता है। जो कभी पुराना नहीं होता और नित्य नूतन होना ही जिसकी विशेषता है वही सत्साहित्य कहलाता है। ऐसे साहित्य पर काल और क्षेत्र की सीमाओं का कोई असर नहीं होता इसलिए कुछ लोगों का यह कहना कि प्राचीन साहित्य आज के युग के लिए उतना उपयोगी नहीं है जितना अपने निर्माण के समय था बिलकुल व्यर्थ है। यह ठीक है कि प्राचीन को सदा ही संस्कार की जरूरत रहती है इसलिए नये निर्माण द्वारा उसका संस्कार होते रहना चाहिए। इसके लिए सतत प्रयत्नों की जरूरत है।

महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन एक प्रकार से ऐसा ही एक प्रयत्न है। हमें बहुत बहुत प्रसन्नता होगी अगर हमारा यह सत् प्रयत्न आगे आने वाले अनेक वर्षों तक चालू रहा।

इस सन १९६४ की महावीर जयन्ती स्मारिका में जिन विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएं भेजकर हमें अनुगृहीत किया है उनके प्रति फिर एक बार कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम आशा करते हैं कि वे भविष्य में भी हम पर ऐसा ही अनुग्रह रखेंगे।

—चैनसुखदास

भगवान् महावीर का स्तवन

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुति गोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वय मद्यवीरं विशीर्ण दोषाशय पाश बन्धम् ।।१।।

याथात्म्य मुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुति भूरि गुणो दधेस्ते ।
अणिष्ठ मप्यंश भशक्नुवन्तो वक्तुं जिनत्वां किमिव स्तु यामः ।।२।।

तथापि वैयात्य मुपेत्य भक्त्या स्तोतास्मि ते शक्त्यनु रूप वाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथा स्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ।।३।।

त्वं शुद्धिशक्त्यो रुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शाति रूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म पथस्य नेता महानितीयन् प्रतिवक्तु मीशाः ।।४।।

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा स्तोतुः प्रवक्तुर्वचना नयो वा ।
त्वच्छास नैकाधि पतित्व लक्ष्मी-प्रभुत्वशक्ते रपवाद हेतुः ।।५।।

(युक्त्यनु शासन-आचार्य समन्तभद्र)

जगत में अपनी महान कीर्ति से चारों ओर जिनका आदर बढ़ रहा है ऐसे कर्म (विकार) विजेता भगवान वर्द्धमान महावीर को आज हम अपनी स्तुति का विषय बना रहे हैं अर्थात् स्तवन कर रहे हैं । ।।१।। गुणों को अधिक बढ़ाकर कहना ही जगत मे स्तुति कहलाती है । किन्तु गुणों के समुद्र स्वरूप आपके गुणों के छोटे से छोटे अंश को भी कहने में असमर्थ हम आपका कैसे स्तवन करें ? ।।२।। तो भी धृष्टता से शक्ति के अनुसार वाक्य बोलकर मैं यथाशक्ति आपका स्तवन करूंगा । क्या अपनी योग्यता के अनुसार अपने इष्ट विषय में लोग उत्साह नहीं करते ? ।।३।। हे जिन ! शुद्धि और शक्ति के उदय की उपमा हीन शान्ति स्वरूप दशा को तुम प्राप्त हो । तुम ही ब्रह्मपथ मुक्ति के मार्ग के नेता हो । (आपके अपार गुणों का हम वर्णन नहीं कर सकते) । हम तो आपको केवल एक शब्द में यही कह सकते हैं कि आप महान हैं ।।४।।

यह कलिकाल है । श्रोता का आशय कलुषित है और वक्ता तत्त्व प्रतिपादन में नय दृष्टि का प्रयोग नहीं करता । यही तीनों तुम्हारे शासन की एकाधिपतित्व रूप प्रभुत्व शक्ति के अपवाद के कारण हैं ।।५।।

जरा जरत्याः स्मरणीयमी श्वरं-स्वयं वरी भूत मनश्वरश्रियः ।
निरामयं वीत भयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृ सुरा सुरैः स्तुतं ॥१॥

(चन्द्र प्रभ चरित-महाकवि वीर नन्दी)

जरा रूपी वृद्धा स्त्री के द्वारा जो सदा स्मरण करने योग्य है अर्थात जिनको जरा कभी प्राप्त नही होती, जो अनंत शक्तिमान हैं, जिनको शाश्वत लक्ष्मी ने स्वयं संवरण किया है, जो रोग रहित, भय रहित, भव बन्धन के विनाशक अतएव जो मनुष्य, सुर और असुरों के द्वारा स्तुत हैं ऐसे महावीर को मैं प्रणाम करता हूं ।

भूयाद गाधः स विबोध वार्धि-र्वीरस्य रत्नत्रय लब्धयेवः ।
स्फुरत पयो बुद्बुद विन्दु मुद्रा-मिदं यदन्त स्त्रिजगत्तनोति ॥१॥

(धर्म शर्माभ्युदय—महाकवि हरिचन्द्र)

महावीर का वह अगाध ज्ञान समुद्र तुम्हारे लिए रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक चारित्र-की प्राप्ति का कारण हो जिसज्ञानरूपी समुद्र में यह तीनों लोक एक जल के बुदबुदे के समान मालूम होते हैं ।

भगवान महावीर एक सिद्धान्त थे

• पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

हम यह समझने का प्रयत्न करें कि महावीर कोई व्यक्ति नहीं है। वह तो एक सिद्धान्त है, अहिंसा और अनेकान्त की बहती हुई विचार धारा है, मानव की लोकोत्तर जीवन पद्धति है। बुद्ध और ईसा पैथा गोरस और गांधी ने भी इसी जीवन पद्धति पर जोर दिया। इन सबने प्रेम सहानुभूति दया और करुणा का पावन स्रोत मानव मन में प्रवाहित करने का प्रयत्न किया है। महावीर केवल हमारे हैं यह कहकर कोई महावीर को नहीं समझ सकता। सूरज और चाँद के विशाल प्रकाश को सीमा में आबद्ध मानने का आग्रह करने वाला न सूरज को समझता है और न चाँद को।

महावीर की महत्ता को समझने के लिए हमें अपने हृदय को असंकीर्ण, उदार और महान् बनाना होगा।

भगवान महावीर बिहार के कुण्डलपुर नगर में राजा सिद्धार्थ के यहाँ उनकी रानी माता त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

उनकी आयु करीब ७२ वर्ष की थी। ३० वर्ष की अवस्था तक वे घर में रहे! फिर जगत् से विरक्त होकर तपस्वी जीवन की दीक्षा ले ली। १२ वर्ष तक उन्होंने ऐसा घोर तप किया जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य होता था। उनका तपस्वी जीवन परीषह और उपसर्गों से भरा पड़ा था, पर वे एकस्थ और एकनिष्ठ होकर विनिश्चल भाव से अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लगे रहे और अन्त में ज्ञानावरण और दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चारघाति कर्मों का नाशकर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त हुए। इसके बाद ३० वर्ष तक सारे भारतवर्ष में भ्रमण कर वे अहिंसा सत्य और असम्प्रदायवाद का प्रचार करते रहे।

भगवान महावीर संसार के महान उपदेष्टा थे। उनका आदर्श हमें जीवन शुद्धि की प्रेरणा देता है। बंधन-मुक्ति बिना-जीवन शुद्धि के नहीं हो सकती और जीवन शुद्धि का आधार अहिंसा है, इसलिए उन्होंने अपने प्रवचनों में सर्वाधिक जोर अहिंसा पर दिया। उनकी अहिंसा का विस्तार मनुष्य तक ही नहीं, पशु पक्षियों तक ही नहीं कीट-पतंग भृंग तक ही नहीं अपितु पेड़-पौधे और लताओं तक है।

महावीर ने अहिंसा में ही विश्व कल्याण देखा और उनका संपूर्ण जीवन अहिंसामय बन गया। किसी भी धर्म, जाति, प्रांत, और देश का मनुष्य उनके लिए मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उनकी अहिंसा की तेजस्विता इतनी प्रभावक थी कि शेर और गाय जैसे जाति विरोधी जीव भी उनके सामने अहिंसक हो जाते थे।

हम यह समझने का प्रयत्न करें कि महावीर कोई व्यक्ति नहीं हैं। वह तो एक सिद्धान्त है, अहिंसा और अनेकान्त की बहती हुई विचार धारा है, मानव की लोकोत्तर जीवन पद्धति हैं। बुद्ध और ईसा, पैथा गोरस और गांधी ने भी इसी जीवन पद्धति पर जोर दिया है। इन सब ने प्रेम, सहानुभूति, दया और करुणा का पावन स्रोत मानव मन में प्रवाहित करने का प्रयत्न किया है। महावीर केवल हमारे हैं यह कहकर कोई महावीर को नहीं समझ सकता। सूरज और चांद के विशाल प्रकाश को सीमा में आबद्ध मानने का आग्रह करने वाला न सूरज को समझता है और न चांद को। महावीर की महत्ता को समझने के लिए हमें अपने हृदय को असंकीर्ण, उदार और महान बनाना होगा।

महावीर का जीवन, संघर्ष का ज्वलत उदाहरण है। पर यह संघर्ष किसी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के साथ नहीं अपितु अपनी ही बुराइयों के साथ था। वे पहले अपनी ही बुराइयों पर विजय प्राप्त कर जिन अथवा जिनेन्द्र कहलाये और फिर मानव मन की शुद्धि के प्रयत्न में लगे। कोई भी आदमी उनके लिए बुरा न था केवल बुराइयां बुरी थीं।

महावीर के मानस में विश्व कल्याण की प्रेरणा थी और इसी प्रेरणा ने उन्हें तीर्थंकर बनाया। उनका सर्वोदय तीर्थ आज भी उतना ही ग्राह्य, ताजा और प्राण प्रद है जितना उनके समय में था। उनके तीर्थ मे न संकीर्णता थी और न मानवकृत सीमाएं। जीवन की जिस धारा को वे मानव के लिए प्रवाहित करना चाहते थे वही वस्तुतः सनातन सत्य है। महावीर परिस्थितियों के दास नहीं थे। विपत्तियों की चट्टानों के बीच रहकर उन्होंने आत्मा के चैतन्य स्वरूप का अनुभव किया था। कठिनाइयों और यातनाओं के विष को घोलकर मानो वे इस तरह पी गये थे कि उनका उन पर कुछ भी असर नहीं होता था। यही कारण है कि जगत की कोई भी प्रतिकूल स्थिति उन्हें क्षुब्ध नहीं कर सकी। जीवन की सुविधाएं उन्हें ग्राह्य नहीं थी। स्वर्ग उनके पैरों में में लोटता था, पर उस ओर उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया क्योंकि उन्होंने अपने गहरे अनुभव से यह जान लिया था कि वह भी जगत की एक नाशवान विभूति मात्र है।

त्रिकाला बाधित सत्य को प्रकट करने वाली उनकी दिव्य वाणी मे मानव की सभी समस्याओं का हल था। उनके उपदेश निवृत्ति मय भी थे और प्रवृत्तिमय भी। उनकी शिक्षाएं न एकान्त आध्यात्मिक थीं और न एकान्त भौतिक। वे पारलौकिक होकर भी ऐहिक थीं। उनमें आग्रह का मोह नहीं था। यह आग्रह का मोह ही मनुष्य को सांप्रदायिक मूढ़ बनाता है। वे संप्रदाय के मोह को एक भयंकर हलाहल मानते थे। क्योंकि सांप्रदायिकता के किले में कैद होने से मनुष्य विश्व में विस्तृत सत्य के कणों को एकत्रित कर उनका यथार्थ उपयोग नहीं कर सकता और न कभी व्यापक सत्य के दर्शन ही कर सकता है। जगत कल्याण के लिये सांप्रदायिक बुद्धि कितनी भयंकर है इसकी चर्चाएं उनकी समवसरण सभा मे खूब रहती थी।

भगवान महावीर ने ब्रह्म भेष पर कभी जोर नहीं दिया वे तो आत्मा की अभ्यंतर शुद्धि को महत्त्व देते थे।

एक स्थान पर उन्होंने कहा है :—

न वि मुंडि एण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्ण वासेण, कुस चीरेण न तावसो।।

अर्थात्—मूंड मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता और न 'ओं' के उच्चारण मात्र से ब्राह्मण होता है। बनवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता—और न बल्कल–चीर धारण करने से कोई तापस हो जाता है—

गो वालो भंडवालो वा जहा तद्दव्वणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि सामण्णस्य भविस्ससि।।

जैसे ग्वाल गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो सकता और न भंडारी धन की संभाल करने से धन का मालिक। वैसे ही केवल वेष की रक्षा करने मात्र से कोई साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकता।

आत्म विजय पर जोर देते हुए भगवान ने कहा है कि :—

इमेरा चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेरा बज्झग्रो जुद्धा-रिहं खलु दुल्लभं ।

अर्थात् तेरी आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध करने से क्या प्रयोजन है। दुष्ट आत्मा के समान युद्ध करने योग्य दूसरी चीज नहीं है ।

क्योंकि:—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पग पुप्प एणं 31
जो राग दोसे हि समो स पुज्जो ।।

अर्थात्—मनुष्य गुणों से साधु होता है और दोषों से असाधु ।

इसलिए सद्गुणों को ग्रहण करो और दुर्गुणों को छोड़ो । जो अपनी ही आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है वही पूज्य है ।

सुखी होने का उपाय बतलाते हुए भगवान एक जगह कहते है कि :- -

आयाब याही चय सोग्रमल्लं
कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणयेज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराये ।।

अर्थात—आत्मा को तपाओ, सुकुमारता का त्याग करो, कामना को दूर करो अवश्य ही दुःख दूर होगा, संयम के प्रति द्वेष भाव को छिन्न-भिन्न करो, विषयों के प्रति राग भाव का नाश करो, ऐसा करने से ही संसार में सुखी होंगे ।

मनुष्य को कर्त्तव्य के प्रति सावधान करते हुए भगवान महावीर अपने प्रधान गणधर गौतम को सम्बोधन करते हुए कहते हैं :—

दुम पत्तए पंडुयए निवडइ राइ गणाण अच्चए
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ।

जैसे अनेक रात्रियों के चले जाने पर वृक्ष के पत्ते पीले पड़कर झड़ जाते हैं उसी तरह मनुष्य जीवन भी आयु के समाप्त होने पर खत्म हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! क्षणभर भी प्रमाद मत करो ।

आज की दुनियां में संसार के राष्ट्र परस्पर अनेक संघर्षों में लगे हुए है ।

किसी को शान्ति नहीं है । एक दूसरे से भय भीत है । वे भयभीत ही सोते हैं और भयभीत ही उठते हैं । सब के मन में हिंसा है, इसलिए किसी का दिल साफ नहीं है और घातक शस्त्रों के निर्माण की होड़ में एक दूसरे को पीछे धकेलना चाहते हैं । यह एक ऐसी समस्या है जिसका हल किसी के पास नहीं है । यदि वे भगवान महावीर के उपदेशों का अनुसरण कर अहिंसा, सत्य, और अपरिग्रह वाद को अपने जीवन में उतारें तो उनकी सभी समस्याएं हल होकर जगत में स्थायी शान्ति उत्पन्न हो सकती है ।

श्री महावीर अतिशय क्षेत्र के जिन मन्दिर का प्रवेश द्वार।

...या ॥ पुरुपान उरहस्या ॥ अंगिअगारे दलिया ॥ ज्यौतुलप दहस्या ॥
... ॥ यह सतगुरु दीदेसना ॥ करि आ अवदीवाडि लषीपयडीमो
चदी ॥ करमक पाटउ घाडि ॥ नवणिति जिन्ह की घटि गइ ॥
॥ तिन्हकौं यह उपदेस ॥ कहत बनारसिदास यौं ॥ मूढन समुफे
... ॥

॥ संवत १७५२ वर्षे ॥ ... सा॰ वर्धमानकी
पोथी लिपीकृतं ॥ लिषतं ॥ मथेन जैमल ॥ गढ श्रीबावती मध्ये ॥ ॥

प्रसिद्ध जैन कवि श्री बनारसीदास द्वारा रचित एवं १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिपिबद्ध किये उनके एक प्रमुख ग्रन्थ का एक पृष्ठ।
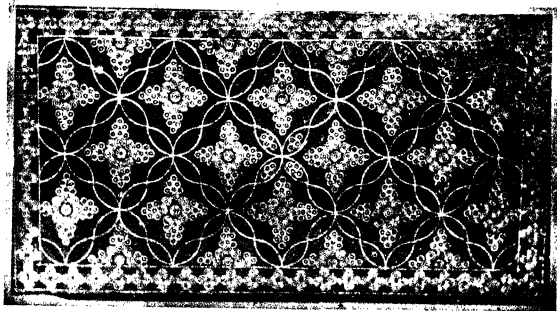
चौधरियों के मन्दिर, जयपुर का कलात्मक पुट्ठा।

भारतीय संस्कृति को जैन संस्कृति का योगदान

• डा० छविनाथ त्रिपाठी
हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

ऋषिभदेव, अरिष्ट नेमि, पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक परम्परा त्याग और तप को प्रमुखता देती रही, इसीलिए वे सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए आदर के पात्र रहे, ...संन्यास, साधना, कृच्छतप, निस्पृहता और वैराग्य के प्रतिष्टापक इन जैन तीर्थङ्करों ने समाज को संतुलित रखने का महान् प्रयत्न किया। बृहस्पति और चार्वाक हेय और निंद्य माने गये, परन्तु जैन तीर्थङ्कर सदाचार के कारण ही समाज के आदरणीय बने।

संसार-भर मे जो कुछ सर्वोत्तम है, उसमे परिचित होना ही संस्कृति मे परिचित होना है। सर्वोत्तम क्या है? इसका निर्णय करना किसी के लिए भी संभव नही है। देश, काल और परिस्थिति भेद मे एक ही वस्तु, एक ही विचार और एक ही सिद्धान्त उत्तम, मध्यम और अधम की श्रेणी में बिठा दिये जाते है। मानसिक शक्तियों और उनके प्रतिफलन को अभिव्यक्त करने वाली संस्कृति भी देश-काल और परिस्थिति मे परे, उसके प्रभाव से रहित, कोई अलिप्त वस्तु नही है। अतः कालक्रम मे आ पड़ने वाले मानव-मन पर; उसके आचार और उसकी रुचियो पर विकृति की मलिनता को परिष्कृत या संस्कृत करने वाली शक्ति का नाम ही संस्कृति है। संस्कृति का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। सभ्यता के जड़ आवरण में संस्कृति की चेतना आबद्ध होकर भी अपनी दीप्ति से, अपना महत्त्व स्थापित कर लेती है। बाह्य-परिवेष्ठन की भिन्नता संस्कृति के बाह्य रूप को भी परिवर्तित कर देती है, फिर भी उसके मूल तत्वों में से कुछ ऐसे शाश्वत और चिरन्तन होते हैं जिनके आधार पर न केवल उसे पहचाना जा सकता है, अपितु उसके अतीत का-इतिहास का भी अन्वेषण कर सकना संभव हो जाता है। सातत्य और परिवर्तन की शक्तियों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। परिवर्तन की गति शक्तिशालिनी होती है, वह विजयिनी भी होती है, परन्तु सातत्य की शक्ति अपनी छाप, अपनी मुहर, उस पर ठोक देती है जिसे सर्वथा मिटा पाना परिवर्तन के लिए भी संभव नहीं हो पाता। संस्कृति के स्थायी तत्त्व इन्ही मे निर्मित होते है।

भारत में आज अनेक जातियां बसती हैं। इसकी कोई भी जाति यह दावा नही कर सकती कि भारत के समस्त मानव-मनों और विचारो पर उसी की छाप है, उसी का आधिपत्य है। आज के इस भारत की संस्कृति न वैदिक है न हिन्दू, न जैन है न बौद्ध, न यवन है न मुसलिम, वह पूर्ण रूप से आंग्ल भी नही है। इस पर इन सभी की छाप है, केवल इन्हीं की नहीं अपितु उन जातियों की भी, जो भारतीय जनसागर में पूर्णतः विलीन हो गई हैं। ईरानी, पार्थियन, वैक्ट्रियन, सीथियन हूण, तुर्क, यहूदी आदि समय समय पर आये, भारतीय समाज में घुल मिल गये, अपनी विशेषताओं और संस्कृति-जन्य विचारों और परम्पराओं की भेंट इस भारतीय संस्कृति को देकर। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डाडवेल के शब्दों में भारतीय-संस्कृति उस महासमुद्र के समान है

जिसमें अनेक संस्कृति–सरितायें आकर विलीन हो गई हैं। भारत में आज जो कुछ है उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। जोड ने भारतीय समाज की इसलिए प्रशंसा की है कि उसमें विभिन्न जातियों, वादों और विचारों तथा धर्मों को एक ही सांचे में ढाल लेने की अद्भुत क्षमता रही है। भारतीय समाज की बहुविधता, उसकी संस्कृति की बहुमुखता सदा विश्व-समाज और विश्व संस्कृति का प्रतीक रही है। आज भी वह विश्व के परस्पर विरोधी विचारों के लिए आदर्श बन सकती है। ऐसी महान् भारतीय संस्कृति के स्वरूप निर्माण में, उसके निखारने में, जैन-संस्कृति का महान् योग रहा है। आज की भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति स्वयं समाहित है, अतः उसके योगदान के लिए तो अतीत के इतिहास पर ही दृष्टिपात करना होगा।

जैन धर्म और उसकी प्रमुख विचारधारा प्राग्वैदिक मानी जाने लगी है। इतिहासकारों की दृष्टि मोहेनजोदरो में प्राप्त चित्रों की मुद्राओं की ओर गई है और वे उसमें जैन–भावना का दर्शन करने लगे है। खड़े मूर्तिचित्रों में कायोत्सर्ग की छाया दीख पड़ी है। बैल, हाथी, घोड़ा आदि प्रतीक चिन्हों और चैत्यवृक्षों के अंकन से भी इसकी पुष्टि होती है। जो तर्क या तथ्य जैन पक्ष में प्रस्तुत किए जाते है, वे ही शैव या रुद्र–पक्ष में। ऋषभ–देव और वृषभ–देव (शिव) की एकता पर खोज का कार्य बहुत कम हुआ है। योग और तप की प्रमुखता के कारण आरम्भ में दोनों एक ही रहे हों यह तथ्य संभावना से परे नहीं है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चौदह मनु हुए हैं। अन्तिम मनु नाभिराज थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव ने अहिंसा और अनेकान्तवाद का प्रवर्तन किया। लिपि की देन इन्हीं की मानी जाती है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस त्रिवर्ग की रचना उन्होंने ही की। उनके पुत्र भरत ने ही तीनों वर्णों में से व्रत और चरित्र धारण करने वाले व्यक्तियों को ब्राह्मण बनाया। इस अनुश्रुति में सत्य का पर्याप्त अंश है। यह तो निश्चित है कि वैदिक संहिताओं के काल में, वर्णव्यवस्था का परवर्ती स्वरूप नहीं था। "ब्राह्मणस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य :" जैसे एकाध मन्त्र बाद के सिद्ध हो जाते हैं। वैदिक जीवन की जैसी कल्पना ऐतिहासिकों और अध्येताओं ने की है उसके अनुसार उस जीवन में उल्लास था, स्वच्छन्दता थी; परलोक के भय से मुक्त वे इह लोक के भौतिक सुखों के अर्जन में अधिक संलग्न थे। स्वर्ग के लिए भी त्याग करते थे पर स्वर्गीय देवताओं से वे ऐहिक सुख की अधिक याचना करते थे। यही के शत्रुओं का संहार चाहते थे। वे भावुक थे, अतः प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में देवत्व की प्रतिष्ठा कर लेते थे। जीवन का प्रत्येक कर्म यज्ञ था—वे सुखी थे। इस जीवन में कृच्छ्र तप और शरीर कष्ट देने वाले विविध व्रतों का मेल बिठाना संभव नहीं है। इसका अर्थ यही है कि वैदिक संहिताकाल में ही दोनों विचारधारायें समान रूप मे प्रवाहित हो रही थी। ऋत और सत्य के साथ तप का उल्लेख करने वाले अनेक मन्त्र उपलब्ध हो जाते हैं–ऋतं च सत्यं चाभिधात्तपसो ऽध्यजायत—जैसे मन्त्रों की कमी नहीं है। यज्ञ और तप मार्ग में निरत मानव सृष्टि के बहुविध रूपों के साथ प्रकृति-सृष्टि के अनेक रूपों को देख कर यदि कोई वैदिक ऋषि—

> इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
> योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
> । नासदीयसूक्त ७ ॥

कह उठता है कि ये नाना सृष्टियां कहां से हुई ? किसने की, किसने नही की ? परमधाम में रहनेवाला इसका अध्यक्ष भी यह जानता है या नही ? तो आश्चर्य नही होना चाहिए। ऋषभ देव और अरिष्ट नेमि दोनों ही वैदिक ऋषि हैं और उन दोनों की विचारधारा ने—तपोमार्ग ने–वैदिक संहिताओ के मन्त्रों को भी प्रभावित किया है। सदाचार और तप एवं अहिंसा की जो त्रिवेणी ऋषभ देव ने प्रवाहित की उसका वेग संहिता—क्षेत्र में कम है पर उसकी धारा का अभाव नहीं।

> ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ऋक् ९।७३।६
> अहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजुः १।५॥
> ऋतस्य यथा प्रेत । यजुः ७।४५॥

नानृतं वदेन्न मांसमश्नीयात् न स्त्रियमुपेयात् ॥
तैत्तरीय सं० २,५,५,३२

ये या इसी प्रकार के बहुत से मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि कर सकते है कि ऋत, सत्य, अहिंसा और सदाचार को वैदिक संहिता काल में पूर्ण मान्यता प्राप्त थी।

पुराण, वैदिक आख्यानों एवं संकेतों के वर्द्धित, पल्लवित और पुष्पित, स्वरूप हैं। पुराणों की भावना, वैदिक भावना के मार्ग का ही अनुसरण करती है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव का चरित विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है और उन्हें पुण्यश्लोक माना गया है—

'इति ह स्म सकल वेद लोक देव ब्राह्मण गवां परमगुरो र्भगवतः
ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसो समस्त दुश्चरितानां हरणम्'

ऋषभदेव का चरित्र विष्णुपुराण में भी वर्णित है और दोनों ही स्थानों पर उन्हें चरम योगिन् और गृह-त्यागी कहा गया है। वे संन्यस्त हैं श्रमण हैं। श्रमण संस्कृति को अवैदिक या प्राग्वैदिक सिद्ध करने की भी कोशिश होती है। वेद, लोक, देव और ब्राह्मण का गुरुत्व ऋषभदेव को कदापि न प्राप्त होता यदि वे अवैदिक होते। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैदिक साहित्य में तप और सदाचार को कुछ मन्त्रों मे जो प्रमुखता प्राप्त हुई है, वह ऋषभदेव की साधना का ही फल है।

परवर्ती अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी यह परम्परा उत्तरोत्तर बल पकड़ती गई है। संहितागत मन्त्रों की अपेक्षा, ब्राह्मण ग्रन्थों में अहिंसा तप और सदाचार के निर्देशक उद्धरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं।

मधुमती वाचमुदेयम्। अथर्व ७।५२।८
मा जीवेभ्यः प्रमदः। अथर्व ८।१।७।

देवावै यज्ञेन, श्रमेण, तपसाऽऽहुतिभिः
स्वर्गलोकमायन् ॥ ऐतरेय ३।४२।

मधुरवाणी बोलनी चाहिए। जीवों के प्रति प्रमाद न हो। देवताओं ने यज्ञ से श्रम से, तपस्या से और आहुतियों से स्वर्ग लोक को प्राप्त किया। स्पष्टतः यहाँ जिन चार मार्गों का निर्देश है, उनमें तप भी है। ऐतरेय तो ऋग्वेद का ब्राह्मण है, पर उससे अधिक परवर्ती अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में जब—

ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत्'। पूर्वार्ध २।२१ ॥

जैसा निर्देश मिलता है, तब उस जैन अनुश्रुति की पुष्टि ही होती है, जिसके अनुसार ऋषभदेव के पुत्र भरत ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों में से व्रत और चरित्र धारण करने वाले व्यक्तियों को ब्राह्मण बनाया। उनके शील और सदाचार के कुछ निश्चित नियम निर्धारित किए गये। ब्राह्मण काल में ब्राह्मणों के अभ्युदय का श्रेय उनके शील और सदाचार को ही दिया जा सकता है। इसके व्यवस्थापक भरत थे। गृहस्थ जीवन का नियन्त्रण ब्राह्मणों के हाथ आया और ब्राह्मणों तथा गृहस्थ जीवन दोनों का ही नियन्त्रण, उन गृह त्यागी श्रमणों और तपोनिरत सन्यासियों के हाथ आया, जो समाज से यत्किंचित् लेकर प्रचुर देते थे। इसी द्वितीय वर्ग के प्रतीक ऋषभ देव थे। यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय, तो आगे का सारा इतिहास अपने आप स्पष्ट हो जाता है, तीर्थंकरों की देन सामने आ जाती है। जब जब गृहस्थ जीवन और उसके नियन्त्रकों में विकृतियां आई, तीर्थकरों ने उन्हें सचेत, सजग और सतर्क किया। उनके चिन्तन, ध्यान तप और समाधि में व्यक्ति निष्ठता ही नहीं, समाज निष्ठता भी थी।

आरण्यक और उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थो के ही भाग माने जाते हैं। उपनिषद् काल की जो भी सांस्कृतिक विचारधारा थी, उसी के ये तीन रूप हमारे सामने आते हैं। यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से सम्पन्न ब्राह्मण प्रधान गृहस्थ जीवन की विचारधारा, अरण्य में तपोनिष्ठ, ज्ञान और चिन्तन को प्रमुखता देने वाले आरण्यक और उपनिषदों के मनीषियों की विचारधारा, तथा वैखानस और श्रमण जीवन की विचारधारा। उपनिषदों के चिन्तन की

मुख्यता इस बात का प्रमाण है कि इस क्षेत्र में न तो संकीर्णता थी, न किसी प्रकार की निश्चित विचारधारा ही बन पाई थी। उपनिषदों से एक तथ्य निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि उस समय तक यज्ञ एवं उसकी दक्षिणा का स्वरूप विकृत हो गया था। वह एक आडम्बरपूर्ण दिखावा मात्र रह गया था। कठोपनिषद् का नचिकेता जब अपने पिता के दान का विरोध करते हुए कहता है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया :
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्।१३।

तो दोनों ही स्थितियां हमारे सामने आ जाती है, दान में ठठरी और निकम्मी गायें दी जाने लगी, जो रिटायर्ड हो चुकी होती और ऐसे प्रदर्शन का विरोध स्वयं नई पीढ़ी (अपना पुत्र ही) करने लगी थी। इस परिस्थिति ने श्रमण संस्कृति को बल दिया। साधना और तप, चिन्तन और ज्ञान यज्ञ उन आडम्बरपूर्ण यज्ञों से उत्तम समझे जाने लगे, जिनका नेतृत्व गृहस्थ जीवन में ब्राह्मण करते थे।

उपनिषद् का ऋषि, स्वर्गसुख को हेय समझता था। वह जीवन व मृत्यु के वास्तविक रहस्यों के उद्घाटन के लिए सचेष्ट था। उसे आत्मविद्या के विकास का श्रेय प्राप्त हुआ। पंचतत्व, महत्तत्व के लोम और विलोम गति से वह परिचित हुआ। शरीर की क्षणभंगुरता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, कर्मफल, संस्कार और शुद्धि, द्वैत और अद्वैत का द्वन्द्व, ऋत और अनृत के द्वन्द्व मे नीति और अनीति के द्वन्द्व की प्रतिष्ठा, संबुद्धिजन्य सहजज्ञान को साधना का अंग मानना, आदि उपनिषद् के चिन्त्य और प्रतिपाद्य थे। आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान किसी जाति विशेष की सम्पत्ति या उसके साध्य नहीं रह गये। उपनिषद् के ऋषियों मे सत्य काम जाबाल जारज था, जनश्रुति शूद्र थे, रेक्व गाड़ी वाला था। यज्ञीय हिंसा से विरत वैराग्य और संन्यास को प्रमुखता देने वाले इन उपनिषदों के स्वरों में यज्ञवाद का विरोध तो है ही, उन यज्ञ कराने वालों पर भी आक्रमण किया गया है। इस दिशा में छान्दोग्योपनिषद् अधिक कटु है। वह दान ग्राहक पुरोहितों की पंक्ति को श्वान पंक्तिवत् कहने में संकोच नही करता। केवल हिंसा ने ही नहीं, अति लोभ ने भी यज्ञों के प्रति विद्रोह को बल दिया।

आचार्य नरेन्द्र देव ने बौद्ध दर्शन मे लिखा है कि 'ब्राह्मण आस्तिक थे वे निस्पृह और सरल होते थे, उन्हें विद्या का व्यसन था, इसीलिए वे समाज में आदरणीय समझे जाते थे। ब्राह्मण काल में पुरोहित मानुषी देवता हो गए थे, किन्तु जब वे संकीर्ण हृदय और स्वार्थी होने लगे एवं अपने को समाज में सबसे ऊंचा समझने लगे, तब समाज में उनके प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। इस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति उपनिषदों के चिन्तन मे हुई। इसका नेतृत्व नई पीढ़ी के हाथ में था जो वैदिक या जैन अनुश्रुति के अनुसार निर्मितवर्ण व्यवस्था को नहीं मानता था। जो नरबलि से पशुबलि तक और पशुबलि से भी अन्नबलि तक मानव को खींच लाने में सफल हो गये, वे जैन तीर्थंकर भी इस नेतृत्व मे योगदान कर रहे थे। निश्चय ही ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में वर्णित नरबलि के विधि की पूर्ण व्यवस्था हो जाने पर भी उसके रोकने मे सफल विश्वामित्र जाति व्यवस्था के शैथिल्य के ही पक्षपाती थे। ऋषियों की, ऋषभदेव और विश्वामित्र की परम्परा का मिलन उपनिषद् काल में ही हो गया। दोनों को समान मंच मिला और भारतीय समाज का नेतृत्व उन श्रमणों और सन्यासियों के हाथ आ गया जो अपने शील और सदाचार, तप और कृच्छ साधना द्वारा समाज में ब्राह्मणों से अधिक आदरणीय बन गये थे।

वेद को प्रमाण मानने वाले छः आस्तिक दर्शनों का मूल तो उपनिषदों में ढूंढ लिया जाता है पर जैन और बौद्ध दर्शन के मूल स्रोतों को उपनिषदों में ढूंढने का प्रयास त्याज्य माना गया। कुछ कुछ उपेक्षा के कारण और कुछ कुछ साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण। उपनिषदों की देन श्रमणवर्ग की है जो वैदिक और अवैदिक, ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही थे। पर न जाने क्यों, जैन और बौद्ध दर्शन ने उपनिषदों से अपना

घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं समझा। आगे चल कर जैन दर्शन में जिस स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा हुई उसके पोषक सैकड़ों उद्धरण उपनिषदों में भरे पड़े है। केनोपनिषद् का एक मन्त्र देखिए—

नाहं मन्ये सुवेदति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥२।२

मेरा विचार है कि जैन और बौद्ध दर्शन के मूल उत्स भी उसी प्रकार उपनिषद् है जिस प्रकार अन्य छः आस्तिक दर्शनों के। इन्हें नास्तिक दर्शन भी केवल इसलिए कहा गया कि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते। जैन दर्शन का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, तर्क की दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक भी है और वैशेषिक के अणुवाद से इसका विशेष अन्तर भी नहीं है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश में पुद्गल मूर्त और शेष अमूर्त है। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध के प्रति जैन दृष्टिकोण वेदान्त के कर्म और संस्कारवाद के अधिक समीप है। जीव अजीव, आश्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्रक्रिया, कर्मसंस्कारों से मुक्ति प्रक्रिया की ही कहानी है। कर्म शरीर से मुक्ति ही जैन दर्शन का भी मोक्ष है। आस्रव पर नियन्त्रण तप से ही सम्भव है। संस्कारों पर प्रतिबन्ध भी योग और तप पर ही निर्भर करता है। वेदान्त का जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ, परमहंस वही है जो जैनों का अर्हत् है। वह स्वयं सशरीर परमात्मा है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य अर्हन एवं सिद्ध आत्मा के गुण हैं। पुद्गल के गुणों से उसे सर्वदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। योगियों का ईश्वर भी मनुष्यों के उच्चतम विकास का प्रतीक है। साधना के द्वारा वहां तक पहुंचना ही मानवता का लक्ष्य है। समन्वय सह–अस्तित्व और सहिष्णुता को ही शारीरिक स्तर पर रखने का नाम अहिंसा है और मानसिक स्तर पर उसे ही अनेकान्तवाद कह सकते हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखंडपिण्ड है। किसी भी वस्तु को एक व्यक्ति जिस दृष्टिकोण से देख रहा है वह उतनी ही नहीं है। उस वस्तु में अनेक दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट स्वरूप, अनन्त-धर्मात्मक है। किसी भी विरोधीदृष्टिकोण में सत्य का अंश विद्यमान हो सकता है। जैन–भावना के इस स्वरूप की–अनेकान्तवाद की स्थिति की–घोषणा सारे ही उपनिषद् कर रहे हैं। केनोपनिषद् का उक्त उद्धरण साक्षी रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। जैन दर्शन का यह समन्वयवादी दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के लिये एक बहुमूल्य तात्त्विक देन है।

उपनिषद् के परवर्ती काल में श्रमण-संस्कृति का विकसित और प्रतिवादी रूप भी हमें रामायण आदि में दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि अब्राह्मण ऋषि थे। रामायण के माध्यम से उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र द्वारा सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप और आदर्शों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। शरभंग और सुतीक्ष्ण आदि की कृच्छ्रतप साधना जैन मुनियों की साधना का ही रूप प्रस्तुत करती है। दुर्धर्षतप, चान्द्रायण व्रत, कृच्छ्र साधना पंचाग्नि सेवन आदि का उद्देश्य मुक्ति के मार्ग में बाधक इस शरीर से मुक्ति पाना ही था। राम का चरित्र ऐसा है, जिसने अयोध्या से लेकर लंका तक की संस्कृति को एक मंच पर प्रस्तुत कर दिया। उत्तर का ब्राह्मणवाद, मध्य भारत का जाति-विहीन तप और कृच्छ्रसाधनावाद, दक्षिण का भोगवाद, सभी राम के प्रयत्न से एक ही संस्कृति के अंग बन गये। ब्राह्मण धर्म में विष्णु के अवतार, शैव धर्म में परम शैव, बौद्ध धर्म में बोधिसत्व और जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में राम की प्रतिष्ठा हुई। विविध विचारधाराओं, सामाजिक व्यवस्थाओं, वर्णों और जातियों के संगम–स्थल इस भारत के, राम प्रतीक बन गये और भारतीय संस्कृति का प्रतीक राम का चरित। बौद्धों का दशरथ जातक और स्वयंभू का पउम चरिउ इसी सांस्कृतिक एकता के दो साहित्यिक रूप है। उपनिषद् काल में जिस संन्यास या श्रमण मार्ग का जोर बढ़ा, उसके उच्छेद का प्रयास उत्तर के ब्राह्मणवाद में नहीं, दक्षिण के भोगवाद ने किया। राम ने विश्वामित्र की प्रेरणा से इसी ऋषि, संन्यास या श्रमण मार्ग की रक्षा के लिए दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था।

तपोनिरत श्रमणों को अस्थियों के राम को करुणाविगलित कर दिया। उन्होंने उनकी रक्षा का सफल प्रयत्न किया और वे जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

महा भारत काल में जैन सम्प्रदाय के तीर्थंकर नेमिनाथ थे। नेमिनाथ का सम्बन्ध घोर आंगिरस से जोड़ा जाता है। आंगिरस भरत के ही अवतार माने जाते हैं। आंगिरस के उपदेश छान्दोग्य उपनिषद् में है; जिसका दृष्टिकोण यज्ञ की ब्राह्मण-पद्धति के सर्वदा विपरीत है। श्री कृष्ण भी घोर आंगिरस के शिष्य थे और उन्होंने अर्जुन को जो उपदेश दिया उसमे यज्ञ का अर्थ ही बदल दिया। उनकी दृष्टि में—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।४।२८।

द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ तो हैं हीं, हठ योग यज्ञ (४।२९) नियताहार-व्रत यज्ञ (४।३०) भी है; परन्तु उन्होंने स्वयं माना है कि—

श्रेयान्द्रव्य मयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥४॥३३॥

ज्ञान यज्ञ सबमे श्रेष्ठ है। निश्चय ही यह मान्यता उपनिषदों की परम्परा को ही सूचित करती है। गीता का समन्वयवादी दृष्टिकोण है; जिसमे ज्ञान, भक्ति, और कर्म को ही नहीं, अनेकानेक पद्धतियों को भी समेटने का प्रयत्न किया गया है। मुण्डको-पनिषद् में, विद्या के परा (आत्म) और अपरा (भोगदा) विद्या के विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। कृष्ण ने उन पद्धतियो में भी समन्वय करने का प्रयत्न किया पर श्रेष्ठता पर या आत्मविद्या को, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ को, कर्म की अपेक्षा सन्यास को, और सामान्य जीव से स्थितप्रज्ञ, या सिद्ध को ही महत्त्व दिया है। नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर थे और श्री कृष्ण के चचेरे भाई माने जाते हैं। महाभारत से पूर्व २१ तीर्थंकरों की स्थिति ही जैन धर्म और उसकी सांस्कृतिक देन की परम्परा को सुदूर अतीत तक खींच ले जाने में समर्थ है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। इनका समय लगभग आठवीं सदी ई० पू० माना जाता है। ये काशीवासी थे। सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान काशी और ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि सारनाथ के समीप रहने के कारण इन्हें अवसर मिला कि श्रमणों का सुदृढ़ और सुगठित संघ स्थापित कर सकें। अहिंसा-धर्म और अहिंसक-यज्ञ की कल्पना तो पार्श्वनाथ से पूर्व ही साकार हो चुकी थी। इसके प्रतिष्ठाता तो ऋषभदेव तथा घोर आंगिरस थे। बाद के तीर्थंकरों ने इसका प्रचार और प्रसार भर किया। सन्यासियो या श्रमणो के लिए तपस्विता रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता को प्रमुखता मिली और गृहस्थो के लिए सदाचार के पृथक् नियमों के निर्देश किए गये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह गृहस्थो के लिए अनिवार्य व्रत-नियम घोषित किये गये। श्रमण और गृहस्थ दोनो के लिए समान रूप से बुद्धि, धार्मिकता, वंश जाति, शरीर यौगिक शक्तियां, योग और तप, तथा रूप और सौन्दर्य-जन्य अहंकारो को त्याज्य माना गया। पार्श्वनाथ जी के समय श्रमणो के लिए कृच्छ्र तप और गृहस्थो के लिए सदाचार के नियम कठोरता ग्रहण करने लगे। इस समय तक ब्राह्मण-परम्परा मे दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण रहे होगे। एक अभी प्राचीन यज्ञ शैली और उसके दृष्टिकोण का अनुयायी रहा होगा और दूसरे ने श्रमण वर्ग की सांस्कृतिक देन को अपना कर धर्म और उसके स्वरूप को पुनर्मूर्तित कर दिया होगा। इस द्वितीय वर्ग के प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण था—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः
धो विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥मनु०॥

धर्म के इन दश लक्षणों में सदाचार के नियमों का ही समावेश किया गया है।

ई० पू० ५९९ या ५६७ में जब भगवान महावीर का जन्म हुआ, उस समय तक अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सदाचार के निश्चित नियमों का पालन करना अनिवार्य बन गया था। हिंसक यज्ञों को मान्यता देने वाले ब्राह्मण सम्प्रदाय का प्रभुत्व क्षीण हो चुका था। मनु की उपरोक्त धर्म व्यवस्था मे यह भी स्पष्ट

हो जाता है कि जैन तीर्थंकरों के सुधारवादी दृष्टिकोण को वैदिक, हिन्दू या तत्कालीन भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों में समाविष्ट कर लिया गया था। भगवान महावीर उसके पोषक थे, प्रवर्तक नहीं। यह सत्य है कि सांसारिकता पर विजयी होने के कारण वे जिन कहलाये और सारा सम्प्रदाय ही जैन कहलाने लगा। परन्तु जिन वचनों में अहिंसा और सदाचार पर जितना बल दिया गया है, उतनी कठोरता के साथ ब्राह्मण विरोध जन्य वचन उपलब्ध नहीं होते।

बुद्ध का गृह त्याग वैदिकी हिंसा के विरुद्ध नहीं था। वे जरा, रोग और मृत्यु से छुटकारा चाहते थे। स्वयं महावीर का गृह त्याग केवल ज्ञान की उपलब्धि द्वारा विश्व-प्राणी का कल्याण था। उन्होंने बारह वर्षों तक घोर तप किया। जीवन, जाति और धर्म के समभाव पर बल देना, अहंकार से मुक्ति का निर्देश करना, अनेकान्त दृष्टि से अहिंसा का प्रतिपादन करना ऐसे तथ्य है जो प्रतिक्रियात्मक नहीं, समाज-व्यवस्था के क्रियात्मक समन्वयन की चेष्टा हैं; जिसका प्रारम्भ ऋषभदेव से हुआ था। बुद्ध का मध्यम मार्ग भी एक सुधारवादी आन्दोलन था। यदि इसे प्रतिक्रियात्मक माना जाय तो यह वैदिकी हिंसा के प्रति उतना नहीं था, जितना अपरिमित कष्ट-सहिष्णुता और कृच्छ्र साधना के प्रतिवाद के प्रति। बुद्ध के समय तक श्रमणों के लगभग ६३ संघ थे, सभी यज्ञ विरोधी थे—अहिंसक थे। उनके अपने दृष्टिकोण थे। इनमें पूर्ण कश्यप का अक्रियवाद, मक्खलि गोसाल का देववाद, अजित का उच्छेदवाद पकुध कात्यायन का अकृततावाद, निगंठ नाथपुत्त का समन्वयवाद, संजय बेलट्ठिपुत्त का अनिश्चिततावाद, दीर्घनिकाय में चर्चा के विशेष विषय बने हैं। श्रमण-संघ के ये अधिष्ठाता स्वयं एक मत न थे, किन्तु साधना और तप द्वारा समाज का आदर अवश्य प्राप्त कर चुके थे। ये सभी कृच्छ्र साधना के प्रतिवाद से भी पीड़ित थे—फलस्वरूप जब बुद्ध ने मध्यम मार्ग का निर्देश कर दिया तो उस सहज साधना को सबने अपना लिया। बुद्ध-संघ प्रबल हो गया और शेष संघ उसमें समाहित हो गये—बावेरू जातक के इस कथन से इसकी पुष्टि होती है—

'यदा च सर सम्पन्नो बुद्धो धम्मं आदेसयि।
अथ लाभो च सक्कारो तित्थियानं अहायथा' ति॥

जैन संघ का बल भी क्षीण हो गया। यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध ने वही सुधारवादी पद्धति अपनायी जिसका प्रचलन ऋषभदेव आदि से हुआ था। अतः ऋषभदेव और बुद्ध तो अवतारों में परिगणित हो गये, पर अतिवादी साधना के कारण महावीर तीर्थंकर ही रहे। ऋषभदेव, अरिष्ट नेमि, पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक परम्परा त्याग और तप को प्रमुखता देती रही, इसीलिए वे सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए आदर के पात्र रहे; भले ही उन्होंने यज्ञीय हिंसा का विरोध करते करते वेदों का ही विरोध कर डाला हो। सन्यास, साधना, कृच्छ्रतर निस्पृहता और वैराग्य के प्रतिष्ठापक इन जैन तीर्थंकरों ने समाज को संतुलित रखने का महान् प्रयत्न किया। बृहस्पति और चार्वाक हेय और निंद्य माने गये; परन्तु जैन तीर्थंकर सदाचार के कारण ही समाज के आदरणीय बने।

मौर्यकाल में जैन तपस्वी समस्त सिन्धुतटवर्ती प्रदेश में फैले हुए थे। मगध में तो जैन धर्म प्रबल था ही। चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में भी यह अनुश्रुति है कि वे जैन थे और मगध में पड़ने वाले अकाल के कारण दक्षिण भारत की ओर सदल-बल आये और अनशन द्वारा प्राण त्याग किया। इस सम्बन्ध में एक शिलालेख भी मिलता है पर यह जैन शिलालेख चन्द्रगुप्त मौर्य से लगभग बारह तेरह सौ वर्ष बाद का है और अनुश्रुति पर ही आश्रित है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मौर्य काल तक जैन परम्परा, उसके नियम, भारतीय समाज के सामान्य वर्ग के लिए ही नहीं राजवर्ग के लिए भी अनुकरणीय बन गये थे। जैन धर्म के प्रचार का पता अशोक के कुछ अभिलेख भी देते है मौर्य काल में ही भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन श्रमणों ने मैसूर और दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचार किया। ई० सन् की पहली शताब्दी में खारवेल ने जैन धर्म स्वीकार किया। कुशन काल में मथुरा और श्रमण बेल गोला जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र रहे।

कुशन काल और उसके कुछ पूर्व से ही बौद्ध चैत्यों, गुहा मन्दिरों, स्तूपों और बौद्ध मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था। कुशन काल शिल्प विद्या का उत्कर्ष काल था। कुशन, मथुरा और अमरावती की शैलियों का प्रचलन हुआ। जैनों ने भी इसमे योगदान किया। चैत्य मन्दिर और गुहामन्दिरों के निर्माण के साथ जिन मूर्तियों और तीर्थकरों की मूर्तियों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। बक्सर और सिंहभूमि (बिहार) से जैन तीर्थकरों की कायोत्सर्ग मूर्तियां मिली हैं। मथुरा की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों से ज्ञात होता है कि ५वी सदी से पूर्व की तीर्थकरों की मूर्तियां नग्न ही बनाई जाती थीं और दिगम्बर सम्प्रदाय अधिक शक्तिशाली था। हां, आदिनाथ के केश, पार्श्व और सुपार्श्व के सर्पफण, मूर्तियों में अवश्य दिखलाये जाते थे, शेष मे नहीं। इतिहासविद् चौधरी के अनुसार तीर्थकरों की मूर्तियों के साथ यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियां भी बनाई जाती थीं। कुछ मूर्तियों से ऐसा आभास होता है कि जिन पूजन के कार्य में गणिकायें और नर्तकियां भी भाग लेती थी। आठवीं से दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी तक के प्राप्त जैन साहित्य मे, जैन मन्दिरों मे नृत्यादि के निषेध के वर्णन मिलते हैं, इनसे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इस काल के तीर्थकरों के विशेष चिह्न, बैल आदि बनाने की प्रथा न थी और मोहेन जोदरो की शैली इससे सर्वथा भिन्न थी।

गुप्तकाल और उसके बाद जैन सम्प्रदाय और जैन मुनियों का योगदान केवल साधना और चिन्तन के क्षेत्र में ही नहीं साहित्य और कला के क्षेत्र में बहुत अधिक बढ़ जाता है। दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ महाश्रमण, श्वेतपट महाश्रमण तथा यापनीय और कूर्चक संघों की विद्यमानता से उनके बल का पता चलता है। यापनीय संघ का विकास अधिक हुआ और आगे के अनेक गण और संघों का सम्बन्ध इसी से है। यह द्रष्टव्य है कि मगध मे चौबीसवें तीर्थकर ने जिस परम्परा की नींव सुदृढ़ की, उसका जोर दक्षिण और दक्षिण पश्चिम भारत में अधिक रहा। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत की एकता में जैन मुनियों का कार्य अधिक सराहनीय रहा। बौद्ध-धर्म वट-वृक्ष की भांति ही मूल के नष्ट होने पर भी विदेशों में फैले शाखा-प्रशाखाओं में जीवित और हराभरा रहा, पर जैन धर्म एक सबल वृक्ष की तरह भारत में सदा ठोस और सुदृढ़ रहा तथा भारतीय एकता और समाज-संगठन का परम्परागत कार्य करता रहा।

जैन सम्प्रदाय को पांचवी से बारहवी शताब्दी तक गंग कदब, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों का आश्रय प्राप्त रहा। अतः इस काल में जैन मुनियों, कवियों और दार्शनिकों ने संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और तमिल आदि में एक विशाल वाङ्मय का निर्माण किया। सच तो यह है कि छठी से बारहवी शताब्दी तक का जो कुछ साहित्य हमें उपलब्ध होता है, उसमें जैन साहित्य मात्रा, गुण और प्रभाव की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

तमिल साहित्य की सर्वाधिक प्राचीन रचना 'शिलप्पदिकारम्' जैन कवि इलंगो की देन मानी जाती है। एक और तमिल मे चौथी से दसवीं शताब्दी तक के भक्तिकाल में जैन मुनियो की बहुमूल्य देन सामने आती है, तो दूसरी और प्राकृत और अपभ्रंश मे ही नहीं संस्कृत में भी काव्य के नये नये प्रयोग उनके द्वारा हुए। ईसा की नवीं शताब्दी मे रचित 'श्री पुराणम्' तथा 'गद्य-चिन्तामणि' तमिल की प्रसिद्ध जैन कृतियां है।

तमिल में मणि प्रवाल शैली के प्रयोक्ताओं में जैन कवि प्रमुख रहे हैं। संस्कृत में गद्य-काव्यों से भिन्न चम्पूकाव्यों और मिश्र शैली के प्रवर्तक जैन मुनि और आचार्य थे। जैन शिलालेखों से ही चम्पूकाव्यों के निर्माण की प्रेरणा मिली। अपभ्रंश में रास, रासक और रासा काव्यों का श्रीगणेश जैन मुनियों द्वारा हुआ। 'उपदेश रसायन रास' उपलब्ध रास ग्रन्थों में सबसे प्राचीन एवं जैन मुनि जिनदत्त सूरि की रचना है। 'यशस्तिलक चम्पू' सोमदेव सूरि की वह अमर रचना है जिसमें तत्कालीन सारा भारतीय समाज चित्रित हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र पहले आचार्य हैं जिन्होंने संस्कृत की प्रचलित काव्य परम्परा को विवेच्य बना कर पिष्ट पेषण करना आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने काव्य

की नूतन विधाओं को आचार्य की सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण और विवेचन का विषय बनाया। हिन्दी और गुजराती के प्राचीन साहित्य का अधिकांश जैन कवियों की देन है। उन्हीं की परम्परा का विकास आगे चल कर इन दो भाषाओं के विशाल समुद्र का रूप ग्रहण कर सका।

मुगल काल में जैन परम्परा और उसका बल उसी प्रकार दब गया, जिस प्रकार अन्य धर्मों और सम्प्रदायों का। इसके पूर्व कि आधुनिक युग में जैन संस्कृति के योग दान की चर्चा की जाय; इतिहास पर जिस विहंगम दृष्टि से विचार किया गया है उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत कर देना आवश्यक है।

(१) जैन धर्म कोई बाहर से आया धर्म नहीं था। उसका लक्ष्य वैदिक धर्म का सुधार था। ऋषभदेव और अरिष्टनेमि वैदिक ऋषियों में ही थे जो यज्ञीय आडम्बरों से पृथक्, तप, साधना और सदाचार पर अधिक बल देते थे। वैदिक मन्त्रों का सृजन जिस वातावरण में हुआ था उस पर ऋषभदेव का प्रभाव था अनेक मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

(२) मोहेनजोदड़ों से प्राप्त रेखा-चित्रों से ऋषभदेव और वृषभदेव (शिव) की एकता सिद्ध करने में सहायता मिलेगी। क्योंकि आगे जब कुशन काल और बाद में तीर्थंकरों और बाहुबली की मूर्तियां बनी तो उनमें प्रतीक पशु-मूर्तियां नहीं मिलती।

(३) तप, कृच्छ्र साधना, यज्ञाडम्बरों का विरोध, अहिंसा कार बल और गृहस्थ जीवन के सदाचारपूर्ण बनाने पर बल देने का कार्य, जैन श्रमणों के प्रयत्नों का फल है। उपनिषदों की विद्रोही भावना में नई पीढ़ी और जैन साधकों की समान भावना देखी जा सकती है।

(४) जैन संस्कृति समन्वयवादी रही है। दर्शन के क्षेत्र में भी और साधना तथा उपासना के क्षेत्र में भी। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के साथ-साथ गीता के अहिंसक यज्ञों की देन इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण संभव हो सकी। भारतीय संस्कृति के प्रमुख मूल तत्वों में से यह एक है।

(५) वैदिक और हिन्दू संस्कृति ने जैन तीर्थंकरों का सदा आदर किया और सामाजिक विकृतियों को दूर करने के लिए उनके द्वारा सुझाये गये सुधारों को सदा स्वीकार किया। ऋषभदेव की गणना अवतारों में की गई। जैन प्रतिवाद को कभी स्वीकार नहीं किया गया और बौद्ध धर्म इसकी प्रतिक्रिया का एक रूप था।

(६) जैन धर्म के सदाचार सम्बन्धी नियम भारतीय समाज के सर्वमान्य धर्म के दश लक्षण बन गये। भगवान् महावीर के उपदेश वैष्णवों को मान्य हो गये।

(७) पुनर्जन्मवाद, कर्मफलवाद और संस्कारवाद पर बल देकर जैन संस्कृति ने जहां भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं में इन्हें शामिल करा दिया वहां मुक्ति के लिए तप, साधना और सदाचार के साथ साथ संन्यास की आवश्यक प्रतिष्ठा कर दी।

(८) अहिंसा पर अत्यधिक बल दिए जाने के कारण भारतीय संस्कृति अधिक मानवतावादी बन गई। नरबलि-अश्वबलि भेड़ और अनावली अन्न और पुरोडाश की बलि के क्रमिक विकास में मानवता के विकास की कहानी छिपी हैं। दसवीं शताब्दी तक का जैन साहित्य अन्न और आटे के कुक्कुट की बलि का भी विरोध करता रहा है—यशस्तिलक, जसहरचारिउ आदि रचनायें देखी जा सकती हैं। अन्नबलि में भावनात्मक—हिंसा है इसका विरोध होता रहा। भारतीय संस्कृति के इस मानवता वाद के उत्कर्ष और विकास में जैन मुनियों और उनकी संस्कृति का महत् योगदान है।

(९) संस्कृति मूलतः विचार और भावना जगत् की वस्तु है। इसके परिष्कार का सतत प्रयत्न जैन मुनियों ने किया है। इन विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति, साहित्य, दर्शन, कला और सामाजिक आन्दोलनों में होती है। जैन-साहित्य का भण्डार विशाल है। काव्य और साहित्य की अनेक धाराओं के प्रवर्तन, नवीकरण और प्रचलन का नेतृत्व जैन साहित्य ने किया है। भारतीय साहित्य को उसकी महान् देन है। हिन्दी

और गुजराती साहित्य उसके विशेष ऋणी हैं। कन्नड़ का प्रारंभिक साहित्य जैनो की रचना है। दार्शनिक चिन्तनधारा को इसने अधिकाधिक युक्ति संगत, तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक रखने का प्रयत्न किया है। समन्वयवादी दृष्टिकोण ने उसे कभी भी असहिष्णु नही बनाया।

कला के क्षेत्र मे भी मन्दिरो, मूर्तियो, स्तूपो, चैत्यगृहों और गुहा-चित्रो के रूप मे जैन कलाकारो ने प्रचुर योग दिया है। बक्सर, सिंहभूमि उड़ीसा, बुन्देलखण्ड और मथुरा मे प्राप्त मूर्तियो के अतिरिक्त, श्रवण बेलगोला-कारकल की विशाल गोमटेश्वर की प्रतिमा अपने ढंग की अनूठी है। उडीसा की हाथी गुफा के भित्तिचित्र जहां ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के माने जाते हैं; वहा ग्वालियर के पास चट्टानो पर जैन मूर्तिकारो के नमूने १५वी सदी तक के उपलब्ध हैं।

दसवी शताब्दी तक के सम्पूर्ण सामाजिक आन्दोलनो को हिन्दू, बौद्ध या जैन मुनियो द्वारा नेतृत्व प्रदान किया गया। ऋषभदेव से लेकर सोमदेव तक और वशिष्ठ से लेकर शकर तक सभी ऋषि थे, मुनि थे।

आधुनिक भारत के निर्माताओ मे महात्मागाधी सर्वोच्च स्थान पर विराजमान हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन ऋषिकल्प रहा है। विश्व-मानव और अन्य प्राणियो के कल्याणार्थ उन्होंने जिस सत्य और अहिंसा को अपनाया उस पर वैष्णवो और जैन मुनियो तथा परम्पराओ का समान प्रभाव दिखाई पडता है। सामाजिक व्यवस्था को आदर्श माना वह न तो केवल बाल्मीकि के राम है, न तुलसी के, न कबीर के, न कम्बन के, नही केवल स्वयंभू के; उनके राम समन्वय के प्रतीक हैं। सत्य, अहिंसा, विश्वकल्याण, जाति विहीन मानवता और समन्वयवादी के प्रतिफलन हैं।

आज भी भारतीय समाज की विकृतिया उसे दुर्बल और हीन बना रही हैं। भ्रष्टाचार, नैतिक-पतन और अति भौतिकवादिता ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल और दमकते रूप पर मलिनता का आवरण डाल रखा है। विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया इन विकृतियो के पंक मे फस गई है। विश्व शान्ति के लिए भारतीय स्वर नही सबल हो पा रहा है, क्योकि उसके विचारो और सिद्धान्तो को स्वर देने वाला गला फटा हुआ है। घर में ही सिद्धान्तो और आचरण के विरोधाभास ने विश्व के सामने उसका फटा हुआ व्यक्तित्व प्रस्तुत किया है। इन विकृतियो के सुधार का बोझ वैदिक काल से ही जैन तीर्थकरो और मुनियो पर रहा है। आचार्य तुलसी और उनके ही सदृश जैन मुनियो और आचार्यों ने जिस अणुव्रत-सामाजिक आन्दोलन का श्रीगणेश किया है वह उसी सुधारवादी आन्दोलनो से प्रथम प्रथम गतिशीलता मिली, पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर ने जिसको बल दिया और आज अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे जिसने नया मोड लिया है। जैन सस्कृति तप और सदाचार से पूर्ण उस सोहागे का कार्य करती रही है जो भारतीय सस्कृति के स्वर्ण को समय-समय पर खरा बनाने मे, दीप्तिमय और विकृति रहित करने मे, सहायक रही है। यही उसकी महत्त्वपूर्ण देन रही हैं और युग धर्म के सतत परिवर्तनो के मध्य आज भी अपनी छाप लगाने का कार्य सम्पन्न कर रही है।

जीवितात्तु पराधीनात् जीवानां मरणं वरम् ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥१॥

'वादीभसिंह'

पराधीन जीवन जीने की अपेक्षा जीवों का मर जाना श्रेष्ठ है।
जंगल में सिंह को सिंहत्व किसने दिया है?

जैन धर्म की प्राचीनता

• डा० ज्योतिप्रसाद जैन
एम ए , एल एल बी , पी एच डी ,
लखनऊ

बौद्ध साहित्य मे वैशाली के लिच्छवियो का निर्ग्रन्थो के प्राचीन चैत्यालयो के पूजक होने के उल्लेख तथा तीर्थङ्कर पार्श्व के चातुर्याम धर्म के उल्लेख से स्पष्ट है कि प्राद्य बौद्ध लोग तेइसवे तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से सम्बन्धित जैनो की महावीर पूर्व परम्परा से भी अवगत थे। बौद्ध धम्मपद मे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ और अतिम तीर्थङ्कर महावीर के नामोल्लेख हैं और बौद्धाचार्य आर्यदेव ने अपने षट्शास्त्र मे ऋषभदेव को ही जैनधर्म का मूल प्रवर्तक बताया है।

किसी धर्म की श्रेष्ठता उसकी प्राचीनतम अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यत निर्भर नही होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ ही साथ सुदीर्घ काल पर्यन्त सजीव सक्रिय एव प्रगति-वान बनी रहती है और लोक की उन्नति, नैतिक वृद्धि तथा सास्कृतिक समृद्धि मे प्रबल प्रेरक एव सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी वह प्राचीनता जितनी अधिक होती हैं वह उतनी ही अधिक उक्त धर्म के स्थायी महत्व एव उसमे निहित सर्वकालीन एव सार्वभौमिक तत्वों की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त, किसी भी संस्कृति के उद्भव एव विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनो का उचित मूल्याङ्कन करने के लिये भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म की प्राचीनता में शका करने की अथवा उसे एक अत्यन्त प्राचीन धार्मिक परम्परा सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यो हुई ? स्वय जैनो की परम्परा अनुश्रुति तो सुदूर अतीत में जब से भी वह मिलनी प्रारंभ होती है निर्विवाद एव सहजरूप में उसे सर्वप्राचीन धर्म मानती ही चली आती है और बौद्ध अनुश्रुतिया ही नही ब्राह्मणीय (हिन्दू) अनुश्रुतियां भी अत्यन्त प्राचीनकाल से जैन धर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। इस विषय में भारतवर्ष के पुरातन आचार्यों एव मनीषियो मे से किसी ने कभी कोई विवाद ही नही उठाया। अतएव जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने को कोई आवश्यकता न थी। किन्तु आधुनिक प्राच्यविदो एव इतिहासकारो ने भारतीय इतिहास की अन्य अनेक बातो की भाति उसे भी एक समस्या बना दिया।

अठारहवीं शती के अन्तिम पाद में यूरोपीय प्राच्य-विदो ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारंभ किया तो उन्होने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमे वर्तमान को स्थिर बिन्दु मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम स्थान या उदय काल तक खोजते चला जाता था। जो तथ्य प्रमाणसिद्ध होते जाते और अतीत मे जितनी दूर तक निश्चित रूप से लेजाते प्रतीत होते वही उनका अथवा उनकी ऐतिहा-सिकता का आविष्काल निश्चित कर दिया जाता। कालान्तर में नव उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में उक्त

अवधि को और अधिक पीछे को ओर हटालेजाना संभव होता तो वैसा करने में भी विशेष संकोच न होता। १६वी शती के प्राच्यविदों द्वारा पुरस्कृत एवं कार्यान्वित यह खोज शोध पद्धति ही आज के युग की सर्वमान्य वैज्ञानिक अनुसन्धान पद्धति मानी जाती है इस परीक्षा प्रधान बौद्धिक युग में प्रत्येक तथ्य को परीक्षा द्वारा प्रमाणित करके ही मान्य किया जाता है। इसी पद्धति के अवलम्बन द्वारा गत डेढ़सौ वर्षों में जैनधर्म की ऐतिहासिकता सातवीं शताब्दी ईस्वी में बौद्धधर्म की शाखा के रूप में प्रगट होने वाले एक छोटे से गौण सम्प्रदाय की स्थिति से शनैः शनैः उठकर कम से कम वैदिक धर्म जितने प्राचीन एवं सुसमृद्ध संस्कृति से समन्वित एक महत्त्वपूर्ण भारतीय धर्म की स्थिति को प्राप्त होगई है। आधुनिक युग में जैनधर्म सम्बन्धी ज्ञान के विकास की तथा परिणामस्वरूप उसकी ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता के निर्णय एक अपनी कहानी हैं जो रोचक होने के साथ ही साथ ज्ञानप्रद भी है। इस समय उस में न जाकर जैन परम्परा की आपेक्षिक प्राचीनता के कतिपय प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

जैन परम्परा के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थङ्कर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान वर्द्धमान महावीर का निर्वाण सन् ईस्वीपूर्व ५२७ (विक्रमपूर्व ४७० और शकशालिवाहन पूर्व ६०५) में हुआ था और वे बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक एवं संस्थापक शाक्य मुनि तथागत गौतमबुद्ध के, जिनकी कि परिनिर्वाण तिथि ईस्वीपूर्व ४८३ प्रायः मान्य की जाती है, ज्येष्ठ समकालीन थे। बौद्धों के पालित्रिपिटक नामक प्राचीनतम धर्म ग्रन्थों में भ० महावीर का उल्लेख 'निगंठनातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) नाम से हुआ हैं और उन्हें श्रमणपरम्परा में उत्पन्न उस काल के छः तीर्थकों (सर्व महान धर्म मार्ग प्रवर्त्तकों) में परिगणित किया गया है। बौद्धग्रन्थों के भ० महावीर एवं जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेखों से डा० हर्मन जेकोबी आदि प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने यह फलित निकाला है कि 'इस विषय में कोई सन्देह नहीं हैं कि महावीर और बुद्ध एक दूसरे से स्वतन्त्र किन्तु परस्पर प्रायः समकालीन धर्मोपदेष्टा थे। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म का एक प्रबल प्रतिद्वन्दी धर्म के रूप में तो उल्लेख किया गया है किन्तु इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं हैं कि वह एक नवस्थापित समुदाय था। इसके विपरीत उनके उल्लेख इस प्रकार के हैं कि जिनसे यह सूचित होता है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थों (जैनों) का सम्प्रदाय पर्याप्त प्राचीन हो चुका था—वह बौद्ध धर्म की स्थापना के बहुत पूर्व से प्राचीन था—बौद्ध साहित्य से यह भी प्रतीत होता हैं कि बोधिप्राप्त करने के पूर्व गौतमबुद्ध ने सत्यान्वेषण के लिये जो विभिन्न प्रयोग किये थे उनमें एक जैन मुनि के रूप में रहकर जैन विधि से तपश्चरण आदि करना भी था। इस तथ्य का समर्थन उस जैन अनुश्रुति से भी होता है जिसके अनुसार बौद्ध धर्म की स्थापना एक जैन साधु द्वारा हुई थी। दोनों धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि बौद्धधर्म पर जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और बुद्ध ने अनेक बातें जैनधर्म से लेकर अपने धर्म में समाविष्ट की थी।

बौद्ध साहित्य में वैशाली के लिच्छवियों का निर्ग्रन्थों के प्राचीन चैत्यालयों के पूजक होने के उल्लेख तथा तीर्थङ्कर पार्श्व के चातुर्याम धर्म के उल्लेख से स्पष्ट है कि आद्य बौद्धलोग तेइसवें तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ के उपदेशों से सम्बन्धित जैनों की महावीर पूर्व परम्परा से भी अवगत थे। बौद्ध धम्मपद में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के नामोल्लेख हैं और बौद्धाचार्य आर्यदेव ने अपने षट्शास्त्र में ऋषभदेव को ही जैनधर्म का मूल प्रवर्त्तक बताया है।

महावीर और बुद्ध के प्रायः समकालीन मक्खलि गोशाल ने, जो कि आजीविक नामक एक अन्य श्रमण सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था, समस्त मानव जाति को छः समूहों मे विभक्त किया है जिनमें से तीसरा समुदाय निर्ग्रन्थों का बताया है। इस पर विद्वानों का कहना है कि मानव जाति के ऐसे मौलिक विभाजन में किसी नवीन, गौण या थोड़े समय से प्रचलित सम्प्रदाय को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था।

इसके अतिरिक्त जैसा कि डा० जैकोबी का कहना है, जैनों जैसे 'एक बहुसंख्यक सम्प्रदाय की स्थितिक

परम्परा अनुश्रुति को निरर्थक एवं असत्य पुञ्ज मानकर अस्वीकार करने के लिये भी तो कोई उचित कारण होना चाहिये। वे समस्त तथ्य एवं घटनाएं जो जैनों की अत्यन्त प्राचीनता की सूचक हैं प्राचीन जैन ग्रन्थों में भरी पड़ी है और ऐसी वास्तविकता के साथ लिखी गई हैं कि उन्हें तब तक अस्वीकार नहीं किया जासकता जब तक कि उन तर्कों एवं युक्तियों से अधिक सबल प्रमाण प्रस्तुत न किये जाँय जिन्हें कि जैन धर्म की प्राचीनता में शंका करने वाले विद्वान बहुधा प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः भ० महावीर के निर्वाण से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व (ई० पू० ७७७ में) एक सौ वर्ष की आयु में सम्मेद शिखर (बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में स्थित पारसनाथ पर्वत) से निर्वाण प्राप्त करने वाले २३ वें तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में अब प्रायः किसी पौर्वात्य या पाश्चात्य विद्वान को सन्देह नहीं है।

इतना ही नहीं, जैसा कि भारत के वर्तमान राष्ट्रपति एवं सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन का कहना है 'इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ के भी बहुत पहिले से प्रचलित था।' डा० नगेन्द्रनाथ वसु का मत है कि 'भ० पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाईसवें जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ भ० कृष्ण के ताऊजात भाई थे। यदि हम कृष्ण की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं तो कोई कारण नहीं कि हम उनके समकालीन २२ वें तीर्थङ्कर भ० नेमिनाथ को एक वास्तविक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति मान्य न करें।' प्रो० करवे, कर्नल टाड, मेजर फलाङ्क, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान भ० नेमिनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद आदि में भी तीर्थङ्कर नेमिनाथ अपरनाम अरिष्ट नेमि का उल्लेख पाया जाता है। और डा० काशीप्रसाद जायसवाल आदि विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद में उल्लेखित व्रात्य वह व्रात्यक्षत्रिय या क्षोभ बन्धु थे जिनकी निन्दा अवैदिक होने के कारण वैदिक साहित्य में की गई है और जो वस्तुतः जैनधर्म के अनुयायी थे।

प्राचीन भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार महाभारत में वर्णित घटनाओं के पूर्व रामायण में वर्णित घटनाओं का युग था। इस महाकाव्य के नायक अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी (अथवा सूर्यवंशी) भ० राम का जैन परम्परा में भी हिन्दू परम्रा जैसा ही आदरणीय स्थान है। वे बीसवें जैन तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुए थे। उसके भी पूर्व काल की राजा वसु और वेन सम्बन्धी पौराणिक कथाएं जैन अनुश्रुतियों से समर्थित हैं।

वास्तव में 'भारत वर्ष का प्राचीन इतिहास,' जैसा कि प्रो. जयचन्द्र विद्यालङ्कार का कहना है, 'उतना ही जैन है जितना कि वह अपने आपको वेदों का अनुयायी कहने वालों का है। जैनों की मान्यता के अनुसार महावीर के पूर्व २३ अन्य तीर्थङ्कर हो चुके थे। इस विश्वास को सर्वथा भ्रमपूर्ण और निराधार मानलेना तथा समस्त पूर्व तीर्थङ्करों को काल्पनिक और अनैतिहासिक मान बैठना न तो न्याय संगत ही है और न उचित ही है। इस मान्यता में विश्वास न करने योग्य बात कुछ भी नहीं है।'

जैनों की असन्दिग्ध मान्यता कि प्रथम तीर्थङ्कर भ० वृषभदेव (आदिनाथ) ने ही सर्वप्रथम धर्म का प्रवर्तन किया एवं कर्म युग का सूत्रपात किया, उन्हीं ऋषभदेव को पुराणों में विष्णु का एक प्रारंभिक अवतार तथा आर्हत (जैन) मत का प्रवर्त्तक मानना और ऋग्वेदादि में उनका नामोल्लेख होना तथा प्रागार्य एवं प्राग्वैदिक सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेषों में उन्हीं वृषभ लांछन योगी ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ आकृतियां मुद्राङ्कित पाया जाना, इसके अतिरिक्त जीववाद आदि सम्बन्धी जैनों की अत्यन्त मौलिक, आदिमयुगीन तात्त्विक एवं दार्शनिक मान्यताएं इस धर्म को न केवल एक सर्वथा स्वतन्त्र एवं शुद्ध भारतीय धार्मिक परम्परा सिद्ध करती हैं वरन् उसे प्राग्वैदिक कालीन भी सूचित करती हैं।

अस्तु, उपरोक्त प्रमाण बाहुल्य के आधार पर अनेक प्रख्यात विद्वान जैन परम्परा की आपेक्षिक प्राचीनता में सन्देह नहीं करते। यदि कुछ विद्वानों के अनुसार

यह अहिंसा प्रधान जैनधर्म अधिक भी नही तो कम से कम वेदों और वैदिक धर्म जितना प्राचीन अवश्य है' तो कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि "जैनो और उनके धार्मिक साहित्य सम्बन्धी वर्तमान ज्ञान के आधार पर हमारे लिये यह सिद्ध करना तनिक भी कठिन नही है कि बौद्धधर्म अथवा वैदिक धर्म की शाखा होना तो दूर की बात हैं, जैनधर्म निश्चयतः भारत वर्ष का अपना एक सर्वप्राचीन धर्म है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है।' अतएव यह बात प्रायः निस्संकोच कही जासकती है कि प्राग्ऐतिहासिक काल के प्रकृत्याश्रित पाषाण युग से ही—जब से भी भारतवर्ष एवं भारतीयो का इतिवृत्ति किसी न किसी रूप मे मिलना प्रारभ हो जाता है तभी से उसके साथ वर्तमान मे जिसे जैनधर्म और जैन संस्कृति के नाम से जाना जाता है उस धार्मिक परम्परा एवं तत्संबंधी संस्कृति का सम्बन्ध बराबर मिलता चला आता है।

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
क. समः खलु मुक्तोऽयं, युक्त. का येन चेदपि ॥१॥

'वादीभसिंह'

दूसरे दोष की तरह जो अपने दोष को भी देखता है उसके बराबर कौन है? ऐसा मनुष्य यद्यपि शरीरसहित है फिर भी कर्मयुक्त–सिद्धात्मा है।

• • • • •

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने – ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते ॥१॥

'गुणभद्राचार्य'

यह निश्चित है कि ज्ञान का प्रशंसनीय फल कभी नष्ट नहीं होने वाला ज्ञान ही है। यह तो मोह का माहात्म्य ही समझिए कि अनश्वर ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान का अन्य कोई फल ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है।

भारतीय भाषाओं को जैन साहित्यकारों की देन

• मुनि श्री बुद्धमल्लजी

जैनों के मूल आगम संस्कृत में न होकर उस समय जनसामान्य की भाषा प्राकृत (अर्ध-मागधी) में लिखे गए। स्वयं भगवान् महावीर ने आबाल-गोपाल द्वारा समझी और बोली जाने वाली अर्ध-मागधी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाया। उसका बिहार क्षेत्र मुख्यतः मागध और उसके आस-पास का क्षेत्र था। मागध में बोली जाने वाली उस समय की जन-भाषा को मागधी कहा जाता था। भगवान् महावीर की भाषा को अर्ध-मागधी इसलिए कहा गया कि वह मागधी से कुछ भिन्न थी। मागध के सीमान्त प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों की अठारह भाषाओं का उस पर प्रभाव रहता था। इस नाम के पीछे दूसरा कारण यह भी बतलाया जाता है कि वह आधे मागध देश में बोली जाती थी।

मानव-संस्कृति के विकास में भाषा का अप्रतिम योग रहा है। आज तक के सम्पूर्ण कला-विकास तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के मूल में भाषा का ही वरद हाथ रहा है। मनुष्य में यदि भाषा-शक्ति का विकास नहीं होता तो यह संसार पशुओं के विभिन्न चीत्कारों से ही भरा होता, न बातें होतीं और न पुस्तकें, न सरस भावाभिव्यक्तियां होतीं और न विचारों का आदान-प्रदान, सब कुछ या तो मूक ही होता या फिर चीत्कार पूर्ण ही। वस्तुतः भाषा का जल-सेक पाकर ही मानवीय संस्कृति और सभ्यता का यह उपवन अपनी सर्वाङ्गीण शोभा के साथ लहलहा रहा है।

हर प्रदेश की अपनी भाषा होती है। लोग उसे प्यार करते हैं। जो उनकी भाषा में बोलता है उसकी बात आदर सहित सुनी और समझी जाती है। जो वैसा नहीं करता या नहीं कर पाता उसे असफलता का मुंह देखना पड़ता है। जैन श्रमणों ने इस तथ्य को बहुत गम्भीरता से ग्रहण किया था। इसीलिए भाषा के विषय में वे बहुत ही उदार रहे हैं। वे जहां भी गए प्रायः वहीं की भाषा को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रयास किया। वे उस कार्य में सफल तो हुए ही साथ ही साथ उन-उन भाषाओं को भी उन्होंने बहुत बड़ी देन दी। एक प्रकार से उन्होंने विभिन्न जन-भाषाओं के साहित्य की सरिता बहा दी।

जैनों के मूल आगम संस्कृत में न होकर उस समय जन-सामान्य की भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) में लिए गए। स्वयं भगवान् महावीर ने आबालगोपाल द्वारा समझी और बोली जाने वाली अर्धमागधी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाया[1]। उनका विहार-क्षेत्र मुख्यतः मगध और उसके आसपास का क्षेत्र था। मगध में बोली जाने वाली उस समय की जनभाषा को मागधी कहा जाता था। भगवान् महावीर की भाषा को अर्धमागधी इसलिए कहा गया कि वह मागधी से कुछ भिन्न थी। मगध के सीमांत प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों की अठारह भाषाओं का उस पर प्रभाव रहा था। इस

१—"बालस्त्रीमन्द मूर्खाणां, नृणां चारित्र काङ्क्षिणाम् अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ।१।"

नाम के पीछे दूसरा कारण यह भी बतलाया जाता है कि यह आधे मगध देश में बोली जाती[1] थी।

अपने साहित्य के प्रारम्भकाल से ही जैनों का दृष्टिकोण जनभाषाओं को महत्व देने का रहा, फिर भी उन्होंने संस्कृत की कभी कोई अवज्ञा नहीं की। संस्कृत को नीचा गिरा देने की भावना नहीं, किन्तु प्राकृत को ऊंचा उठा देने की भावना ही उनके अन्तरंग में काम करती रही थी। संस्कृत को देवभाषा और प्राकृत को ग्राम्यभाषा बतलाने वालों को जैनों का उत्तर था—सक्कयं पागयं चेवे, पसत्थं इसि भासियं[2] ' अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों ही ऋषि भाषित हैं अतः दोनों ही महान् हैं। भाषा विषयक इस उदार दृष्टिकोण के कारण ही वे अनेक भाषाओं की समान रूप से सेवा कर सके। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एक सुफल यह हुआ कि भारत के विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न कालों की भाषाएं ५००-६०० ईस्वी पूर्व से लगाकर आज तक के जैन साहित्य में अपने-अपने वास्तविक रूप में सुरक्षित रह गई।

भारत की अनेक लोकभाषाओं को समृद्ध बनाने तथा अनेकों को साहित्यिक रूप प्रदान करने का श्रेय जैन श्रमणों को ही है। ऐसी भाषाओं में भारत के उत्तर और पश्चिम प्रदेशों में प्रचलित शौरसेनी, पूर्व में अर्धमागधी, दक्षिण में कन्नड़ तथा तमिल आदि को गिनाया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय भाषाओं के समान ही हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी आदि अर्वाचीन भाषाओं की भी जैन साहित्यकारों ने उतनी ही लगन से सेवा की है। उन सभी में यहां तक कि फारसी में भी जैन साहित्य उपलब्ध है। उदाहरण स्वरूप फारसी में जिनप्रभ रचित 'ऋषभ स्तोत्र' तथा विक्रमसिंह रचित 'फारसी भाषानुशासन' आदि ग्रन्थ गिनाए जा सकते हैं। इस भाषानुशासन में १ हजार फारसी शब्दों के संस्कृत पर्याय दिए गए हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के तो मूल का सेवन जैसा जैन-साहित्यकारों ने किया है वैसा और किसी ने किया भी नहीं होगा।

उपर्युक्त भाषाओं में भी जो साहित्य लिखा गया है, विषय की दृष्टि से वह केवल जैन-धर्म विषयक ही नहीं; अपितु भारतीय वाङ्मय के हर अंग को पुष्ट करने वाला है। अध्यात्म, योग, तत्व निरूपण और दर्शन जैसे गम्भीर साहित्य के समान ही काव्य, कथा और नाटक आदि ललित-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। इनके अतिरिक्त इतिहास, पुराण, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश, छंद, अलंकार, भूगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयों पर भी जैन साहित्यकारों ने अधिकार पूर्ण साहित्य लिखा है। इतना ही नहीं; उनकी लेखनी मंत्र, तंत्र, संगीत और रत्न-परीक्षा जैसे विषयों पर भी चली है। इससे जैन-साहित्यकारों के व्यापक दृष्टिकोण तथा सर्वाङ्गीण ज्ञान का परिचय सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

प्राकृत भाषा

जैनों का प्राचीनतम आगम-साहित्य प्राकृत भाषा में है। भगवान् महावीर की उपदेशात्मक प्रकीर्ण वाणी का गणधरों ने जब सूत्ररूप में गुंफन किया, तब वह गणिपिटक नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके मुख्य बारह भाग-अंग थे अतः द्वादशांगी भी उसे कहा गया। वे बारहें अंग ये हैं—१ आचारांग २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ भगवती ६ ज्ञातृ-धर्म कथा, ७ उपासक दशांग, ८ अन्तकृद्दशा, ९ अनुत्तरोपपातिक दशा, १० प्रश्न व्याकरण, ११ विपाक, १२ दृष्टिवाद। स्थविरों ने उस साहित्य का पल्लवन किया। सहस्रों प्रकरण-ग्रन्थ बनें। उसके पश्चात् आगामों के व्याख्या ग्रन्थ लिखे जाने लगे। वे निर्युक्ति भाष्य और चूर्णी के रूप में प्राकृत की विशालकाय साहित्य-राशि हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं जबकि चूर्णियां गद्यात्मक, चूर्णियों की भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत

१—"मगदद्ध विसय भासा णिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसी भासा णिभयं वा अद्धमागहं (निशीथ चूर्णी)
२—अनुयोग द्वार

है। ये रचनाए ऐसे सक्रमरग काल की हैं जिसमे कि जैन लेखको का रुझान सस्कृत की ओर होने लगा था।

निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु ने वि० पाचवी–छठी शती से निम्नोक्त ११ निर्युक्तिया लिखी थी—

१ आवश्यक निर्युक्ति	७ बृहत्कल्प निर्युक्ति
२ दशवैकालिक निर्युक्ति	८ व्यवहार निर्युक्ति
३ उत्तराध्ययन निर्युक्ति	९ पिण्ड निर्युक्ति
४ आचाराग नियुक्ति	१० ओघ निर्युक्ति
५ सूत्रकृताग निर्युक्ति	११ ऋषिभाषित निर्युक्ति
६ दशाश्रतस्कध निर्युक्ति	

भाष्यकार थे धर्मसेन गणी और जिनभद्र क्षमा-श्रमण। एक का समय छठी शती और दूसरे का सातवी शती था। धर्मसेन ने पचकल्प भाष्य लिखा था जबकि जिनभद्र ने दशवैकालिक, व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और विशेपावश्यक के भाष्य लिखे थे।

चूर्णिकार विभिन्न हुए है तथा विभिन्न समय मे हुए है। निम्नोक्त आगम ग्रथो पर चूर्णिया उपलब्ध हैं—

१ आवश्यक	१० दशाश्रुतस्कध
२ दशवैकालिक	११ बृहत्कल्प
३ नदी	१२ जीवाभिगम
४ अनुयोगद्वार	१३ भगवती
५ उत्तराध्ययन	१४ महानिशीथ
६ आचाराग	१५ जीतकल्प
७ सूत्रकृताग	१६ पचकल्प
८ निशीथ	१७ ओघनिर्युक्ति
९ व्यवहार	

प्रथम आठ चूर्णियो के कर्ता जिनदासगणी महत्तर है। उनका समय सातवी शती है। जीतकल्प चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरी है। उनका समय बारहवी शती है। बृहत्कल्प चूर्णि के कर्त्ता प्रलम्ब सूरि हैं। शेष चूर्णिकारो के नाम अभी अज्ञात हैं। दशवैकालिक की एक अन्य चूर्णि भी प्राप्त है। उसके कर्त्ता अगस्त्यसिंह मुनि हैं।

श्वेताम्बर आचार्यों के समान ही दिगम्बराचार्यों ने भी प्राकृत साहित्य का महत्त्वपूर्ण-पल्लवन किया है। उनका परम मान्य आद्य ग्रन्थ षट्खडागम है। यह पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य द्वारा वि० दूसरी शताब्दी मे लिखित है। इसी प्रकार आचार्य गुणधर का कषाय–प्राभृत भी परम मान्य ग्रन्थ है। वि० नवम शताब्दी मे आचार्य वीरसेन ने षट्खडागम पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका लिखी। उन्होंने कषाय–प्राभृत पर भी टीका लिखनी प्रारम्भ की थी बीस सहस्र श्लोक–प्रमाण लिखी भी थी पर वे उसे पूर्ण नही कर सके। बीच में ही दिवगत हो गए। उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने उसे पूर्ण किया। वह ६० श्लोक प्रमाण है और जयधवला नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वि० दूसरी शती मे कुदकुदाचार्य के प्रवचनसार, समयसार और पचास्तिकाय आदि ग्रन्थ अध्यात्म का नया स्रोत बहाने वाले हुए हैं। वि० दसमी शती आचार्य नेमीचन्द्र रचित गोम्मटसार और लब्धिसार ग्रन्थ भी बहुत महत्त्व-पूर्ण माने जाते हैं।

उपर्युक्त आगम साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने प्राकृत मे प्रचुर मात्रा मे काव्य तथा कथा साहित्य भी लिखा है। पादलिप्त की तरगवइ, विमलसूरि का पउमचरिय, सघदासगणी की वसुदेवहिंडी, हरिभद्र की समराइच्चकहा आदि एतद् विषयक महत्त्वपूर्ण कृतिया हैं।

इनके अतिरिक्त व्याकरण, निमित्त, ज्योतिष सामुद्रिक, आयुर्वेद आदि के विषयो पर भी प्राकृत भाषा मे प्रचुर मात्रा मे लिखा गया है।[1]

साधारणतया प्राकृत साहित्य का काल-विभाजन तीन युगो मे किया जाता है (१) ईस्वी पूर्व ५०० से १०० ईस्वी तक प्राचीन प्राकृतो का युग, (२) १०० ईस्वी से ६०० ईस्वी तक अन्तरकालीन महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि साहित्यिक प्राकृतो का युग और (३) ६०० ईस्वी से १२०० ईस्वी तक अपभ्र श युग कहा जाता है। अपभ्र श के विषय मे आगे पृथक रूप से बतलाया जाएगा।

१—विशेष जानकारी के लिए देखिये 'पाइए भाषाओ अने साहित्य'

संस्कृत भाषा

जैन साहित्यकारों ने धर्म-प्रचारार्थ जनभाषा को महत्व दिया था, परन्तु कालान्तर में उन्होंने विचार-प्रसार के क्षेत्र में संस्कृत को भी उतना ही महत्व दिया। अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों के मंतव्यों को समझने तथा उनका खंडन कर अपने मंतव्यों को स्थापित करने के लिए जैन साहित्यकारों ने इस क्षेत्र में पदन्यास किया और शीघ्र ही प्राकृत भाषा के समान संस्कृत पर भी अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया।

परम्परा से यह एक जनश्रुति चली आ रही है कि जैनागम द्वादशांगी के अंगभूत चौदह पूर्व संस्कृत भाषा में ही रचे गए थे। उनके रचनाकाल के विषय में दो विचार-धाराएं हैं—एक विचारधारा के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से जो ज्ञान चला आ रहा था उसी को उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय 'पूर्व' कहा गया। दूसरी विचार धारा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए थे इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया। साधारण बुद्धि वाले इन्हें पढ़ नहीं सकते थे। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई। वर्तमान में पूर्वज्ञान विच्छिन्न हो चुका है अतः कहा नहीं जा सकता कि उनमें प्रयुक्त संस्कृत-भाषा वैदिक संस्कृत (प्राचीन संस्कृत) थी या लौकिक संस्कृत (वर्तमान मे प्रचलित अर्वाचीन संस्कृत)।

वर्तमान में उपलब्ध जैन संस्कृत-साहित्य में आचार्य उमास्वामि का तत्वार्थसूत्र प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसे मोक्षशास्त्र' भी कहा जाता है। जैन दर्शन का परिचय पाने के लिए आज भी यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से व्यवहृत होता है। उम स्वामि का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह ग्रन्थ इतना मान्य हुआ कि विविध समयों में इसकी बीसियों टीकाएं लिखी गईं। सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलंक और विद्यानन्द जैसे धुरंधर विद्वानों ने भी अपने दार्शनिक मंतव्यों की स्थापना के लिए तत्वार्थ सूत्र की टीकाएं रचीं। यहां तक कि अठारहवीं शती में जैन नव्य न्याय के संस्थापक उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी नई परिभाषा में इसकी टीका की। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अधिकांश जैन-दार्शनिक-साहित्य का विकास तत्वार्थ सूत्र को केन्द्र में रखकर ही हुआ है।

उसके पश्चात् तो जैन-संस्कृत-साहित्य का एक स्रोत ही उमड़ पड़ा। प्रत्येक विषय के आकार-ग्रन्थों की मानो होड़-सी लग गई। उन सबका परिचय देना तो एक बड़ा सा ग्रन्थ बना डालने जैसा कार्य है। यहां उनमें कुछ की केवल सूचनामात्र ही दी जा सकती है।

जब भारतीय दर्शनों में नवजागरण हुआ तब सभी ओर से खंडन-मंडन की प्रवृत्ति बढ़ी। युक्तियों का आदान-प्रदान हुआ। इस संघर्ष में पड़कर दार्शनिक प्रवाह बहुत पुष्ट हुआ। जैनों को भी अपने विचारों की सुरक्षा के लिए दर्शन-ग्रन्थ लिखने की तैयारी करनी आवश्यक हो गई। उन्होंने अपनी कलम को दर्शनशास्त्र की ओर मोड़ा। बहुत शीघ्र ही अन्य दार्शनिक-ग्रन्थों से टक्कर लेने योग्य ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस क्रम में पहल करने वाले थे प्रचंड तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर। आगमों में विकीर्ण अनेकान्त के बीजों को पल्लवित करने तथा जैन-न्याय की परिभाषाओं को व्यवस्थित करने का प्रथम प्रयास उनके ग्रंथ 'न्यायावतार' में ही मिलता है। उन्होंने जो बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं रची थीं उनमें भी उनकी प्रखर तार्किक प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। समंतभद्र भी इसी कोटि के दार्शनिक गिने जाते है। उनका समय कुछ इतिहास कार चतुर्थ शताब्दी और कुछ सप्तम शताब्दी बतलाते[1] है। उनकी रचनाएं देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र आदि हैं। उनके पश्चात् अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनसेन, सिद्धर्षि, हेमचन्द्र, देवसूरि, यशोविजय आदि अनेकानेक दार्शनिकों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। दार्शनिक-ग्रन्थों में न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, लघीयस्त्रय, अनेकान्त जयपताका, षड्दर्शन समुच्चय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा परीक्षामुख, वादमहार्णव, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्याय कुमुदचन्द्र, स्याद्वादोप-

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रस्तावना, पृष्ठ १५७

निषद्, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वाद रत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, प्रमाणमीमासा, व्यतिरेकद्वात्रिंशिका, स्याद्वाद मजरी, जैन तर्कभाषा आदि के नाम प्रमुख रूप गिनाए जा सकते है।

प्राकृत-भाषा के आगम ग्रन्थो पर सस्कृत-टीकाए लिखने का क्रम प्रारम्भ करने वालो मे हरिभद्र का नाम सर्व प्रथम आता है। उनका समय ८वी शती है। उन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर विशद टीकाए लिखी है। मलधारी हेमचन्द ने अनुयोगद्वार पर और मलयगिरी नन्दी, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, बृहत्कल्प, व्यवहार, राजप्रश्नीय, चन्द्रप्रज्ञप्ति पर और आवश्यक पर टीकाए लिखी। इनके अतिरिक्त दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि आगमो पर और भी अनेक विद्वानो ने टीकाए तथा वृत्तिया लिखी है।

सस्कृत-व्याकरण क्षेत्र मे भी जैनो का योग बहुत महत्वपूर्ण रहा। जैनेन्द्र, स्वयभू, शाकटायन, शब्दाम्भोज-भास्कर आदि सस्कृत-व्याकरणो के पश्चात् हेमचन्द्राचार्य का सर्वागपूर्ण हेमशब्दानुशासन उस क्रम का उन्नत प्रयास कहा जा सकता है। उसके पश्चाद्वर्ती शब्दसिद्धि व्याकरण, मलयगिरी व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण, और देवानन्द व्याकरण रहे है। ये सब तेरहवी शती तक के हैं। व्याकरण रचना का यह क्रम वही समाप्त नही हो गया। बीसवी शती मे तेरापथ श्रमणसघ के विद्वान मुनि चौथमलजी ने भिक्षु शब्दानुशासन नामक महाव्याकरण लिखकर उस कडी को वर्तमान काल तक पहुचा दिया है।

इसी प्रकार कोश ग्रन्थो मे धनजय नाममाला, अपवर्ग नाममाला, अमर कोश, अभिधान चिन्तामणि, शारदीया नाममाला आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

काव्य क्षेत्र मे भी जैन विद्वान किसी से पीछे नही रहे हैं। उन्होंने पद्यमय तथा गद्यमय अनेक उत्कृष्ट कोटि के काव्यो की रचना की है। उनमे पार्श्वाभ्युदय, द्विसन्धानकाव्य, यशस्तिलक, भरत बाहुबलि महाकाव्य, द्वयाश्रय काव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, नेमि निर्वाण महाकाव्य, शातिनाथ महाकाव्य, पद्मानन्द महाकाव्य, धर्माभ्युदय महाकाव्य जैनकुमार सम्भव, यशोधर चरित्र, पाडवचरित्र आदि की गणना प्रमुख रूप से कराई जा सकती है।

नाटको मे सत्य हरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यदुविलास, रघुविलास, नलविलास, मल्लिका मकरद, रोहिणी मृगाक, वनमाला, चन्द्रलेखा विजय, मानमुद्रा भजन, प्रबुद्ध रौहिणेय, मोहपराजय, करुणाबज्रायुध, द्रौपदी स्वयवर आदि उल्लेखनीय हैं। हेमचन्द्राचार्य के प्रधान शिष्य रामचन्द्र ने अकेले ने ही अनेक नाटको की रचना की थी। इसी प्रकार उपमिति भवप्रपचा, कुवलयमाला, आराधना कथाकोष, आख्यानमणिकोश, कथारत्नसागर आदि कथा-साहित्य द्वारा जैन विद्वानो ने सस्कृत के कथा-साहित्य को भी अपूर्व देन दी है। आदि पुराण, उत्तर पुराण शातिपुराण, महापुराण, हरिवश पुराण आदि ग्रन्थो से उनके पुराण-साहित्य की समृद्धि को भी अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत, अर्हन्नीति आदि नीतिग्रन्थ, समाधितत्र, योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योग विद्या, अध्यात्म रहस्य, ज्ञानार्णव, योगचिन्तामणि, योगदीपिका आदि योग सम्बन्धी ग्रन्थ, सिद्धान्तशेखर, ज्योतिष रत्नमाला गणित तिलक, भुवनदीपक, आरम्भसिद्धि, नारचद्रज्योतिषसार, वृहतपर्वमाला आदि ज्योतिष ग्रन्थ, छन्दोनुशासन, छन्दोरत्नावली आदि छन्दोग्रन्थ, काव्यानुशासन, अलकार-चूडामणि, कवि शिक्षा, वाग्भटालकार, कविकल्पलता, अलकारप्रबोध, अलकार महोदधि आदि अलकार-ग्रन्थ और भक्तामर, कल्याणमन्दिर, एकीभाव स्तोत्र, जिनशतक, यमकस्तुति, वीरस्तव, वीतराग स्तोत्र, महादेव स्तोत्र, ऋषिमण्डल स्तोत्र आदि स्तोत्र ग्रन्थ अपने-अपने क्षेत्र के महत्वपूर्ण ग्रन्थो मे गिनाए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त रत्नपरीक्षा, सगीतोपनिषद्, सगीतसार, सगीतमण्डल, यत्रराज, सिद्धमंत्र चक्रोद्धार, वैद्यसारोद्धार, वैद्यवल्लभ आदि ग्रन्थ भी जैन विद्वानो के विस्तीर्ण ज्ञान क्षेत्र का बोध कराते हैं।

जैन विद्वानो ने बहुत से जैनेतर-ग्रन्थों की टीकाएं भी लिखी है। साहित्य क्षेत्र में उनका यह उदार

दृष्टिकोण अभिनन्दनीय रहा है। अनेक ग्रन्थों की टीकाएं बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हैं। जैनेतर-ग्रन्थों पर लिखे गए कुछ प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ इस प्रकार हैं—पाणिनिव्याकरण पर शब्दावतारन्यास, दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्यायकंदली पर टीका, नागार्जुन की योग रत्नमाला पर वृत्ति, अक्षपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्याय-भाष्य पर टीका भारद्वाज के वार्तिक पर टीका वाचस्पति की तात्पर्य टीका पर टीका, उदयन की न्यायतात्पर्य-परिशुद्धि की टीका, श्रीकंठ की न्यायालंकार वृत्ति की टीका। इनके अतिरिक्त मेघदूत, रघुवंश, कादंबरी, नैषध और कुमार सम्भव आदि काव्यों की टीकाएं भी सुप्रसिद्ध हैं।

जैन विद्वानों ने साहित्य-क्षेत्र में कुछ ऐसे नए तथा विचित्र प्रयोग भी किए है जो उनकी विद्वत्ता का प्रमाण तो देते ही हैं पर साथ ही अपने प्रकार के केवल वे ही कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ सत्रहवीं शती के जैन विद्वान श्री समयसुन्दर का 'अष्टलक्षी' नामक ग्रन्थ गिनाया जा सकता है। उसमे 'राजानों ददते सौख्यम्' इस एक पद के १०२२४०७ अर्थ किए गए हैं। ग्रन्थ के नामकरण में उन्होंने आठलाख से ऊपर की संख्या को शायद इसलिए छोड़ दिया कि भूल से कहीं पुनरुक्त हो गया हो तो उसके लिए पहले से ही अवकाश छोड़ दिया जाए। आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ करने का सामर्थ्य असाधारण ही कहा जा सकता है। उन्होंने वह ग्रन्थ सं० १६४६ मे अकबर सम्राट की विद्वन मण्डली के समक्ष रखा था। सभी विद्वान उनकी इस विचित्र प्रतिभा से चमत्कृत हुए थे। शब्दों की अनेकार्थता के लिए यह ग्रन्थ एक प्रतिमान के रूप में कहा जा सकता है।

इसी प्रकार का एक अन्य विचित्र प्रयोग आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा अपने 'भूवलय' नामक ग्रन्थ में किया है। वह ग्रन्थ अक्षरों में न होकर अंकों में है। एक से लगाकर चौसठ तक के अंकों का उसमें विभिन्न अक्षरों के स्थान पर प्रयोग हुआ है। वह कोष्ठकों में ही लिखा गया है। उसकी सर्वाधिक विशेषता तो यह है कि उसे यदि सीधी लाइन में पढ़ा जाए तो एक भाषा के श्लोक पढे जाते हैं और खड़ी लाइन में पढ़ा जाए तो दूसरी भाषा के। इसी प्रकार टेढ़ी लाइनों से पढ़े जाने पर अन्य-अन्य भाषाओं के श्लोक सामने आ जाते हैं। वह ग्रन्थ अभी कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ है। अभी उसे पूर्ण रूप से पढ़ा भी नही जा सका है। वह एक वृहत्काय-ग्रन्थ है और कहा जाता है कि अपने समय के सभी विषयों का उसमें समावेश किया गया है। उसमें उत्तर तथा दक्षिण भारत की भाषाओं ने तो स्थान पाया ही है पर अरबी आदि अनेक अभारतीय भाषाओं का भी उसमें प्रयोग हुआ है। कहा नही जा सकता कि उसके कर्त्ता कितनी भाषाओं के धुरंधर विद्वान थे और कितने विषयों में उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखलाया था। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद से जब आचार्य श्री तुलसी का दिल्ली मे मिलन हुआ था तब उन्होंने इस विषय मे विस्तीर्ण जानकारी देते हुए आचार्य श्री से कहा था कि यह संसार के अनेक आश्चर्यों में से एक आश्चर्य कहा जा सकता है।

उपलब्ध जैन-संस्कृत-साहित्य का स्रोत विक्रम की तीसरी शती से प्रारम्भ हुआ और १८वी शती तक विभिन्न उतार चढ़ावों के साथ प्रबल वेग से बहता रहा। उसके पश्चात् वह ह्रासोन्मुख हो गया। वह ह्रास केवल जैन-संस्कृत साहित्य में ही आया हो ऐसी बात नही है, अपितु वह सार्वत्रिक ह्रास था; जो कि जैनों में भी आया। फिर भी उसका प्रवाह सर्वथा रुक गया हो—ऐसी बात नही है। आज भी अनेक जैन विद्वान विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत-साहित्य का निर्माण कर रहे है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक आचार्य श्री तुलसी और उनके संघ का इस दिशा में विशेष परिश्रम चल रहा है। इन चारों दशकों में व्याकरण काव्य, दर्शन निबंध, टीका और स्तोत्र आदि विषयक अनेकानेक महत्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। उनमें भिक्षुशब्दानुशासन-महाव्याकरण, भिक्षुशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति, भिक्षुशब्दानुशासन, लघुवृत्ति, कालकौमुदी, तुलसी प्रभा आदि व्याकरण-ग्रन्थ, भिक्षु चरित, अर्जुनमालाकार, प्रभव प्रबोध, अश्रु वीणा आदि

गद्य और पद्य काव्य, जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षु न्याय-कर्णिका, युक्तिवाद, अन्यापदेश आदि दर्शन-ग्रन्थ, शिक्षाषण्णवति, कर्त्तव्य षट्त्रिंशिका, मुकुलम्, उत्तिष्ठत! जागृत !!, निबन्ध-निकुंज आदि विभिन्न स्फुट ग्रंथ, शांतसुधारस टीका ग्रन्थ और समुच्चय जिनस्तुति, देवगुरु स्तोत्र, जिनस्तव, कालुभक्तामर, कालुकल्याण मन्दिर, तुलसी स्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र ग्रन्थ गिनाए जा सकते हैं। पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ द्वारा रचित जैनदर्शन-सार, भावना विवेक, पावन प्रवाह संस्कृत की अच्छी रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश भाषा

किसी समय प्राकृत भाषा लोकभाषा थी, पर कालान्तर मे उसका अध्ययन केवल व्याकरण की सहायता से ही सुलभ रह गया था। विद्वानों की भाषा बन जाने पर जन साधारण तक पहुँचने के लिए उसका कोई विशेष उपयोग नही रह गया। जनता के कल्याणार्थ फिर तत्कालीन लोक भाषा का सहारा लेना आवश्यक था। अपभ्रंश के साहित्यकारों ने साहसपूर्वक वैसा करने का निश्चय किया। पण्डित समाज जैसे पहले प्राकृत को हेय दृष्टि से देखा करता था और उसे निम्न कोटि के मनुष्य की भाषा माना करता था, वैसे ही उस समय वह स्थिति अपभ्रंश के लिए थी। पंडित समाज संस्कृत और प्राकृत में लिखने वालों को आदर की दृष्टि से देखता था पर अपभ्रंश के लेखकों का उसकी दृष्टि में कोई आदरणीय स्थान नहीं था। वस्तुतः अपभ्रंश नाम भी उन्हीं पण्डितों का दिया हुआ है जो कि अनादर-सूचक ही हैं। जैन साहित्यकारों ने पंडितजनों की इस अनादर सूचक प्रवृत्ति की न तो प्राकृत को अपनाते समय कोई परवा की थी और न अपभ्रंश को अपनाते समय ही। उन्होंने सदैव साहसपूर्वक जनभाषा को आगे बढ़ाने में ही अपनी शक्ति को लगाया था।

अपभ्रंश के जैन-साहित्यकारों ने लोक कथाओं को अपने रंग में रंगकर अपने धार्मिक संस्कारों को जन-सुलभ बनाने का सफल प्रयास किया है। यही कारण है कि लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्र अपभ्रंश-काव्य में बहुलता से प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश भाषा का काल ईस्वी छट्ठी से सत्रहवीं शती तक का माना जाता है। उसके पश्चात् उसका स्वरूप धीरे-धीरे प्रांतीय भाषाओं के रूप में ढलने लगता है। इसीलिए बारहवी शती के पश्चाद्‌वर्ती अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के आदि युगीन साहित्य में गिन लिया जाता है।

अपभ्रंश को प्रान्तीय भाषाओं की जननी कहा जाता है। उसका प्रारम्भ छट्ठी शती से हुआ और स्वल्पकाल में ही वह जन-साधारण की भाषा बन गई। ७-८ वी शती में उसका प्रसार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिंध से ब्रह्मपुत्रपर्यंत हो गया था। यह एक बहुत ही सजीव और भाव-प्रवण भाषा रही है। जैनाचार्यों ने इसमें स्तोत्र काव्य से लेकर चरित्र-काव्य, खण्ड काव्य और महाकाव्य तक लिखें हैं।

अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि जोइंदु (योगींदु) माना जाता है। उसका समय छट्ठी शताब्दी था। उसके ग्रन्थ परमात्म प्रकाश और योगसार अपभ्रंश भाषा के उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ माने जाते हैं। जोइंदु ने इन ग्रन्थों में दोहा छंद का प्रयोग किया है। यह अपभ्रंश का प्रमुख छंद रहा है। जोइंदु को इसका एक सफल प्रयोक्ता कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त गाहा, घत्ता, पद्धड़िया, चौपाई, दुवई, सग्गिणी और त्रिभंगी आदि छंद अपभ्रंश के अपने मुख्य छंद रहे हैं।

जोइंदु के पश्चात् ८-९वीं शताब्दी में स्वयंभू अपभ्रंश के अतिश्रेष्ठ कवि हुए हैं। उन्होने पउमचरिय (रामायण) और रिट्ठणेमिचरिय महाकाव्य की रचना की थी। उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू भी श्रेष्ठ कवि थे। स्वयंभू को महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने विश्व का महाकवि माना है। उनके मतानुसार तुलसी रामायण स्वयंभू रामायण से बहुत प्रभावित रही है। स्वयंभू और उनकी रामायण के विषय में एक जगह वे लिखते हैं—"स्वयंभू कविराज कहे गए है किन्तु इतने से स्वयंभू की महत्ता को नहीं समझा जा सकता। मै समझता हूं—८वीं से लेकर २०वी शती तक की १३ शताब्दियों में जितने कवियों ने अपनी अमर कृतियों से हिन्दी-कविता-साहित्य को पूरा किया है, उनमें स्वयंभू सबसे बड़े कवि हैं। मैं ऐसा लिखने की हिम्मत न करता, यदि हिन्दी के कुछ जीवित

चोटी के कवियों ने स्वयंभू-रामायण के उद्धरणों को सुनकर यही राय प्रकट न की होती। [1]

इन आदिकालीन साहित्यकारों के पश्चात् १०वी शती में पुष्पदन्त मान्य कवि हुए। उन्होंने महापुराण की रचना की। इन्हीं शताब्दियों में देवसेन, महेश्वरसूरी, पद्मकीर्ति धनपाल, हरिषेण, नयनंदि, धवल, आदि ने तथा उनके पश्चात् वीर, श्रीधर, कनकामर, धाहिल. यशकीर्त्ति प्रभृति जैन कवियों ने संसार को अपभ्रंश की अति सरस कृतियां प्रदान की। तेरहवी शती में कलिकाल सर्वज्ञ सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का जो व्याकरण लिखा; उसमें उदाहरण स्वरूप दोहों का बहुत ही सुन्दर उपयोग हुआ है। उनका वह व्याकरण श्रृंगार, करुण, वीर, भय एवं शांत आदि सभी रसों के जन-प्रचलित दोहों का संरक्षण करने वाला सिद्ध हुआ है। उपर्युक्त सभी साहित्यकारों को अपभ्रंश के मध्यकालीन साहित्यकार कहा जा सकता है।

पश्चाद्वर्ती कवियो मे नरसेन, सिंह, धनपाल, माणिक्यराज, पद्मकीर्ति और रइधू आदि प्रसिद्ध कवि है। महाकवि रइधू की २३ अपभ्रंश कृतियां उपलब्ध है। उनमें पुराण, कथा, चरित्र, आचार, सिद्धान्त और पूजा सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। ये उस समय के कवि थे जब अपभ्रंश भाषा का विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में परिणमन प्रारम्भ हुआ था।

अपभ्रंश भाषा प्राकृत और वर्तमान भाषाओं को जोड़ने वाली बीच की कड़ी के रूप में रही है। उनका आदिमकाल प्राकृत से और अंतिमकाल हिन्दी आदि वर्त्तमान भाषाओं से सम्बद्ध रहा है। अपभ्रंश भाषा के साहित्य ने भावधारा, विषय, छंद, शैली आदि अनेक प्रकार के साहित्यिक उपकरण हिन्दी आदि वर्त्तमान भाषाओं के साहित्य को प्रदान किए हैं। अभी तक अपभ्रंश-साहित्य बहुत कम मात्रा में प्रकाश में आया है; अतः उसके प्रभाव का पूरा-पूरा अनुमान नहीं लगाया जा सका है, परन्तु ज्यों-ज्यों उसका साहित्य प्रकाश में आता जाएगा, त्यों त्यों यह प्रभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जाएगा।

हिन्दी भाषा

हिन्दी भाषा का आदि स्त्रोत अपभ्रंश भाषा है जिस प्रकार प्राकृत का अंतिमकाल अपभ्रंश का आदिमकाल माना जाता है, उसी प्रकार अपभ्रंश का अंतिमकाल ही हिंदी आदि प्रान्तीय भाषाओं का आदिमकाल माना जाता है। कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि अपभ्रंश के सम्पूर्ण साहित्य को हिन्दी भाषा का अभिन्न अंग मानकर उसे उसका आदिकालीन साहित्य मानना चाहिए। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल इस विषय में लिखते हैं—हिंदी काव्यधारा का मूल विकास सोलह आने अपभ्रंश काव्यधारा में अन्तर्निहित हैं, अतएव हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक क्षेत्र मे अपभ्रंश भाषा को सम्मिलित किए बिना हिंदी का विकास समझ में आना असम्भव है। भाषा, भाव, शैली तीनो दृष्टियों से अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी भाषा का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश (८ से ११ तक), देशी भाषा (१२ से १७ तक) और हिन्दी (१८ से आज तक) ये ही हिंदी के आदि, मध्य और अंत तीन चरण [2] है।

मूलतः अपभ्रंश की प्रकृति में १३वीं शती से जो परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ था, वह १७वीं शती तक एक क्रम से ढल चुका था। वही हिन्दी का आदिकाल या प्राचीन हिंदीकाल माना जाना चाहिए। १६वीं शती तक उसका मध्यकाल और उसके पश्चात् अर्वाचीनकाल का प्रारम्भ होता है।

अपने प्राथमिक काल में प्राकृत और अपभ्रंश के समान प्राचीन हिन्दी साहित्यकारों को भी उस समय के विद्वानों की अवज्ञा का शिकार होना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। तभी तो उस समय का प्रायः प्रत्येक लेखक जनभाषा में लिखने के लिए अपनी ओर से कोई न कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। अपभ्रंश के कवियों ने जब काव्य की श्रेष्ठता का

१—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
२—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास-भूमिका

मापदंड उसका अर्थ-गांभीर्य बतलाया और भाषा को केवल बाह्य आवरण मात्र कहा, तब उनको उस दार्शनिकता के नीचे यही तो ध्वनित होता था कि हमारे भाषा के माध्यम पर मत सोचिए, अर्थ-गांभीर्य को देखिए। और यह प्रकारान्तर से एक विद्वतापूर्ण स्पष्टीकरण ही तो था। हिन्दी के प्राचीन कवि भी विभिन्न प्रकार के स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। विद्यापति 'देसिल बयना सबजन मिट्ठा' कहकर यह बतलाना चाहते हैं कि उन्होंने देशी भाषा को इसलिए स्वीकार किया है कि वह सबको मिठास देने वाली है। कबीर अपने दबंग स्वभाव के अनुसार संस्कृत की कमजोरी और देशी भाषा की विशेषता बतलाते हुए अपना कारण प्रस्तुत करते हैं कि 'संसकिरत है कूपजल, भाखा बहता नीर। इसी प्रकार संतमना तुलसीदासजी अपनी भक्त-प्रकृति के अनुकूल नम्रता प्रदर्शित करते हुए' भाखा भणित मोर मति थोरी, कहकर बतलाते हैं कि मैं तो देशी भाषा में अपनी बात कहने वाला अल्पज्ञ व्यक्ति हूं। यह सब यहां बतलाने का तात्पर्य यह है कि उस समय देशी भाषा का पक्ष लेना साधारण कार्य नही था। बड़े-बड़े कवियो को भी स्पष्टीकरण देना आवश्यक प्रतीत होता था। परन्तु जैन साहित्यकारों की प्रारम्भ मे ही यह प्रकृति रही थी कि वे जनता तक पहुंचने के लिए जनभाषा को ही अपना माध्यम स्वीकार करते आए थे। हिन्दी भाषा के आदिकाल मे भी उन्होने अपनी उस प्रकृति के अनुसार कार्य किया था।

तेरहवीं शती से अपभ्रंश-प्रभावित प्राचीन हिन्दी में रचना होने लगी थी। जैन लेखकों की कृतियों में सोमप्रभ का कुमारपाल प्रतिबोध, मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि आदि हिन्दी साहित्य के उसी आदिम युग की कृतियां कही जा सकती हैं। धर्मसूरि के जम्बूरासा में अपेक्षा कृत हिन्दी का अधिक निखार पाया जाता है। वह भी तेरहवीं शती का ही ग्रन्थ है। तेरहवीं से सोलहवीं शती तक रासाग्रन्थों का बाहुल्य देखा जाता है। यों आगे अठारहवीं शती तक भी इस क्रम के हिन्दी ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। 'रासा' शब्द की व्युत्पत्ति 'रहस्य' अथवा 'रसायण' शब्द से मानी जाती है। राजस्थानी में तो यह क्रम बीसवीं शती तक भी मिलता है। जयाचार्य लिखित 'भिक्षु जस रसायण' इस क्रम का सम्भवतः अंतिम ग्रन्थ हो।

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य भी प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होता है। इस काल में अनेक महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथाकाव्य, आत्मकथा आदि लिखे गए है। पंडित बनारसीदास का 'अर्धकथानक' जैन हिन्दी साहित्य में ही नहीं; अपितु समग्र हिन्दी साहित्य में लिखा गया प्रथम आत्मकथा का ग्रन्थ माना जाता है। भूधरदास, द्यानतराय, टोडरमल आदि इसी युग के मान्य साहित्यकार हुए है।

अर्वाचीन काल में हिन्दी जैन साहित्य ने नया मोड़ लिया प्रतीत होता है और वह उल्लासवर्धक है। प्राचीनकाल में प्रायः जो साहित्यकारों ने नया उतना नहीं लिखा जितना कि पौराणिक या सैद्धान्तिक साहित्य का भाषान्तर करते रहे। इस युग में अनेक नए क्षितिज सामने आए हैं। पौराणिक ग्रन्थों में से ऐतिहासिक गवेषणा की जाने लगी है। दार्शनिक मंतव्यों का तुलनात्मक विवेचन करने और समन्वय करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। नए परिपेक्ष्यों में अपने मंतव्यों को परखने और उन्हें दुनियां के समक्ष रखने का सामर्थ्य विकसित हुआ है। अनेकानेक विद्वज्जन इस कार्य में जुटे हुए हैं। उन सब का श्रम जहां हिन्दी जैन साहित्य का मस्तक ऊंचा करेगा, वहां हिन्दी साहित्य में भी अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाएगा।

मराठी भाषा

मराठी भाषा का जैन साहित्य अधिक प्राचीन नही है। यह प्रायः इधर के चार-सौ साढ़े चार-सौ वर्षों में ही लिखा गया प्रतीत होता है। ज्ञातकर्तृक साहित्य तो और भी कम समय का है। जो मराठी साहित्य उपलब्ध है वह प्रायः स्वतंत्र कृति न होकर संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश आदि अन्य भाषाओं की कृतियों का अनुवाद मात्र हैं। मराठी जैन साहित्य के बहुत से प्राचीन लेखक तो भट्टारक सम्प्रदाय के मुनि हैं। अर्वाचीन लेखकों में अनेक गृहस्थों का भाग रहा है। आगे कुछ प्रमुख लेखकों तथा उनके ग्रन्थों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

भट्टारक जिनदास ने हरिवंशपुराण (पूर्वार्ध) लिखा। मराठी जैन साहित्य के प्रथम ज्ञात कर्ता ये ही माने जाते हैं इनका समय ईस्वी १७२८ से १७७८ तक का अनुमानित किया जाता है।

गुणदास अपरनाम गुणकीर्त्ति ने मराठी मे श्रेणिक पुराण, रुक्मिणी हरण, धर्मामृत और पद्मपुराण (अपूर्ण) आदि की रचना की।

ब्रह्म शांतिदास के शिष्य मेघराज, कामराज और सूरिजन गुरुभाई थे। उनमें से मेघराज ने यशोधर चरित्र, गिरनारयात्रा (इसमें प्रथम चरण मराठी में और दूसरा चरण गुजराती में है) और पारसनाथ भवान्तर आदि, कामराज ने सुदर्शन पुराण, और चैतन्य फाग तथा सूरिजन ने परमहंस नामक रूपक काव्य तथा दान-शील तप-भावना-रास आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

वीरदास अपरनाम पासकीर्त्ति ने ईस्वी १३२७ में सुदर्शन चरित्र तथा बहुतरी (७२२ श्लोकों का समुदाय), महाकीर्त्ति ने ईस्वी १६६६ मे आदि पुराण, लक्ष्मीचन्द्र ने ईस्वी १७२८ में मेघमाला, जनार्दन ने ईस्वी १७६८ मे श्रेणिक चरित्र; महितसागर ने सम्बोधमहस्रपदी, दामा ने धर्मपरीक्षा, गंगादास ने पारसनाथ भवान्तर, जिनसागर ने जीवंधर-पुराण और कैको आदि रत्नकीर्त्ति ने ईस्वी १८१२ में उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, जिनसेन ने ईस्वी १८२१ में जम्बू पुराण, ठकाप्पा ने ईस्वी १८५० में पांडव पुराण, मकरंद ने रामटेक वर्णन, सटवा ने नेमिनाथ भवान्तर और देवेन्द्रकीर्त्ति ने कालिका पुराण की रचना की। उपर्युक्त सभी लेखक प्राचीन धारा के वाहक कहे जाते हैं।

अर्वाचीन लेखकों ने भी सैद्धान्तिक तथा पौराणिक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद मराठी भाषा को प्रदान किया है।

गुजराती भाषा

अपभ्रंश भाषा जब प्रादेशिक भाषाओं का रूप लेने लगी थी, तभी से उसमें प्रदेशानुसार थोड़ा-थोड़ा पार्थक्य प्रारम्भ हो गया था। धीरे-धीरे वह विभिन्न स्थानों में विभिन्न रूप से परिपाक पाता गया। भोज ने गुर्जर साहित्यकारों के भाषा विषयक स्वाभिमान पर मधुर कटाक्ष करते हुए जो यह लिखा है "अपभ्रंशेन तुष्यन्ति, स्वेन नान्येन गुर्जरा[1]।" वह यही सिद्ध करता है कि गुर्जरों ने अपनी भाषा का कोई विशिष्ट क्रम विकसित किया था और वे उसको विशेष महत्व देने लगे थे।

जैन कवियों ने गुजराती भाषा के उस प्रारम्भिक विकासकाल मे ही विशेष भाग लिया है। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा उसके रूप को निरन्तर संवारा और सजाया यद्यपि जैन साहित्यकारों का दृष्टिकोण प्रायः काव्य-प्रधान न होकर अध्यात्म-प्रधान रहा है। उनकी प्रायः कृतियां धार्मिक परिधि में ही लिखी गई है; फिर भी उस धार्मिकता की गोद में किलकारियां भरता हुआ कवित्व भी प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। रास, फागु, बारहमासा, कक्का आदि उस समय की विभिन्न विधाओं मे कवित्व का अजस्र प्रवाह बहा है।

रामायण, महाभारत जैसे बड़े-बड़े पौराणिक आख्यानों, तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों तथा अनेकानेक लघु आख्यानो मे भी गुजराती भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाने में जैन लेखकों का विशेष योग रहा है। गुजराती भाषा में जैनों द्वारा आगमिक तथा आध्यात्मिक साहित्य भी प्रचुरता से लिखा गया है। साहित्यिक स्तर पर उसका चाहे उतना महत्त्व न भी हो, पर इतिहास तथा भाषा विज्ञान की दृष्टि से वह समग्र साहित्य एक अमूल्य निधि कहा जा सकता है। गुजराती भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय प्रत्येक शताब्दी में लिखे गए विभिन्न जैन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों की उपेक्षा किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः समग्र प्राचीन वाङ्मय का गुजराती में अनुवाद उपलब्ध किया जा सकता है। आगमों के स्तवकार्थ तथा बालावबोध भी गुर्जर भाषा की ही देन है। कहना चाहिए कि जैन गुर्जर साहित्यकारों ने समग्र जैन वाङ्मय, जैन तत्त्वज्ञान और जैन संस्कृति को सफलतापूर्वक गुजराती भाषा में ढाला है।

१—सरस्वती कंठाभरण २–१३।

आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और जैन-संस्कृति से विशेष प्रभावित रहा है। विभिन्न विषय के धुरीण विद्वानों ने गुजरात के साहित्य-भंडार को भरा है। आनन्दघन, यशोविजय और श्रीमद्रायचन्द्र जैसे अनेक योगनिष्ठ व्यक्तियों की अध्यात्म-रस-प्लावित वाणी भी मुख्यतः गुजराती में ही प्रस्फुटित हुई है[१]

राजस्थानी भाषा

ईस्वी पंद्रहवीं शती तक गुजराती और राजस्थानी में भाषाभेद बहुत अस्पष्ट और अल्प ही था अतः उस समय तक के साहित्य को दोनों ही अपना-अपना साहित्य मानते है। भाषागत इतनी समानता का कारण दोनों प्रदेशों मे जैन संतों का अबाध आवागमन ही मुख्यतः कहा जा सकता है। दोनों प्रदेशों की सीमाओं के इधर-उधर आने-जाने वाले मुनिजनों के कारण दोनों के सांस्कृतिक सम्बन्ध अविच्छिन्न रहे हैं। उन के साहित्य और उपदेशों मे भी दोनों की अभिन्नता पुष्ट होती रही है। पश्चात्काल में जब विहार क्षेत्र सीमित होता गया, तब कुछ संत केवल गुजरात मे तो कुछ केवल राजस्थान मे ही विहार करने लगे। फलतः उनकी भाषा में प्रादेशिक विशेषताओं का समावेश होना गया। दूरी को पाटने वाला आदान-प्रदान बंद हो जाने से स्पष्ट रूप मे भिन्नता लक्षित होने लगी। १६वीं शती के अन्तिम भाग में यह भेद निखरने लगा था। १७वीं-१८वीं शती में दोनों का मिश्रित रूप चलता रहा था। परन्तु १६ २०वीं शती तक वह एक निश्चित रूप धारण कर चुका था, यही काल संतों के विहार क्षेत्रों के सीमित होने का भी है। यति, दि० भट्टारक, स्थानकवासी, तेरापंथ आदि सभी श्रमण-समुदायों ने राजस्थानी में प्रचुर मात्रा में लिखा है।

सत्रहवी शती में राजस्थानी के समर्थ रचनाकार श्री समयसुन्दर हुए है। वे संस्कृत के भी धुरंधर विद्वान थे। 'अष्टलक्षी' उन्हीं की कृति है। उनका समग्र साहित्य एक लाख पद्य-प्रमाण कहा जाता है। उसमे काफी बड़ा भाग राजस्थानी का है। उसमे शांबप्रद्युम्नरास, प्रत्येक बुद्धरास, नलदमयंती रास, प्रियमेलक चौपाई, सीताराम चौपाई आदि तथा क्षमा छत्तीसी आदि अनेक छत्तीसियां प्रमुख हैं।

उन्ही के समसामयिक उपाध्याय गुणविनय ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें कयवन्नासंधि अंजना प्रबंध, गुणसागर चौपाई, नलदमयंती रास, धनशालिभद्र चौपाई आदि अनेक ग्रन्थ है। इस शती के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थकार सहजकीर्त्ति, श्रीसार, जिनराजसूरि, हेमरत्न, कुशललाभ, कनकसोम आदि है।

अठारहवीं शती में रास, चौपाई आदि के अतिरिक्त बावनी, छत्तीसी आदि भी बहुलता से लिखी गई हैं। इस शती के प्रमुख लेखक कविवर जिनहर्ष एक लाख पद्यों के रचयिता माने जाते हैं। उन्होंने रास, चौपाई आदि के अतिरिक्त ज्ञातासूत्र सज्झाय, दशवैकालिक गीत आदि भी लिखें हैं। उनके अतिरिक्त महोपाध्याय लब्धोदय, धर्मवर्धन, लाभवर्धन, कुशलधीर, जिनसमुद्र सूरि, लक्ष्मीवल्लभ, रामविजय आदि भी प्रसिद्ध लेखक हुए है।

रामविजय ने पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक लिखा है। उन्नीसवीं शती में रघुपति, ज्ञानसार, क्षमाकल्याण, आचार्य जयमलजी आदि अनेक कवि हुए हैं।

उन्नीसवीं शती मे तेरापंथ के संस्थापक आचार्य भीखणजी ने राजस्थानी जैन साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। उन्होने आचार-क्रान्ति करके तेरापंथ की स्थापना की थी; अतः उनके लेखन में भी उसी क्रान्ति के स्वर बहुलता से आए हैं। उनकी समस्त कृतियों में आचार और विचार को शोधन करने वाली भावधारा कार्य करती दृष्टिगत होती है। उनका समग्र साहित्य ३८ सहस्र पद्य-प्रमाण है। उन्होंने धार्मिक समीक्षा, अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, रूपक, लोककथा और आत्मानुभूति के माध्यम से राजस्थानी के साहित्यिक क्षितिज को व्यापकता प्रदान की है। आचार की चौपाई, अनुकंपा की चौपाई, विनित-अविनित की चौपाई, निक्षेपों की चौपाई, नवपदार्थ सद्भाव निर्णय, बारहव्रत की चौपाई,

१—गुजराती के साहित्य और साहित्यकारों की विशेष जानकारी के लिए देखिए 'जैनगुर्जर कवियो'

शील की नववाड़, सुदर्शन चरित्र, उदाईराजा, जंबूकुंवर चरित्र, कृष्णबलभद्रचरित्र, नन्दन मणियार, अर्जुनमाली, ढंढणमुनि जिनरिख जिनपाल आदि उनकी अमर कृतियां है। उन्होने गद्य भी काफी लिखा है।

बीसवीं शती के समर्थ जैन-साहित्यकार श्री जयाचार्य हुए हैं। उन्होंने राजस्थानी मे साढे तीन लाख पद्य-प्रमाण साहित्य लिखा है। उनकी लेखनी मे गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार का साहित्य प्रसूत हुआ है। उनका साहित्य विविध विषयक है। उसमे आगमटीका, तत्वसमीक्षा, जीवन चरित्र, आख्यान, अनुशासन, स्तवन आदि विषय प्रमुख रहे है। आगम टीकाओं के अवरुद्ध क्रम को बीसवी शती तक पहुंचा देने का श्रेय एक मात्र उन्ही को है। उन्होंने जिन अनेक आगमों की पद्यबद्ध टीकाएं की हैं, उनमे भगवती सबसे बड़ा आगम है। उसकी पद्य टीका का नाम भगवती की जोड़े है। जयाचार्य की अकेली इसी कृति का ग्रंथमान ६३७६० पद्य-प्रमाण है। इसमें राजस्थानी गीतों की विभिन्न लयों मे ५०१ गीतिकाएं है। जैनागमो के तत्वज्ञान को लोक-गीतों की धुनों मे बांधने में सबसे बड़ा और सर्वोत्कृष्ट प्रयास जयाचार्य का ही रहा है। इसके अतिरिक्त आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध, निशीथ आदि अन्य अनेक आगमों की भी उन्होंने पद्य-टीकाएं (जोड़) की थी। तत्त्वसमीक्षा विषयक भी उनने अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, उनमें भ्रमविध्वंसन, कुमति विहंडन, संदेह विषौषधि, जिनाज्ञामुख मण्डन, प्रश्नोत्तर सार्धशतक, प्रश्नोत्तर तत्वबोध, झीणीचर्चा आदि प्रमुख हैं। इनमें कुछ गद्यात्मक है तो कुछ पद्यात्मक। भिक्षुजस रसायण, खेतसीचरित्र, ऋषिराय-चरित्र, शांतिविलास, हेमनवरसो, सरूपनवरसो आदि के रूप में उन्होंने १५ जीवनियां पद्यबद्ध रूप मे लिखी थी। इन जीवनियों ने तेरापंथ के इतिहास को जीवित रखने में बहुत बड़ा सहयोग दिया है।

जयाचार्य ने अनेक आख्यान ग्रन्थ भी लिखे है। धनजी, महीपाल, दयमंती, पार्श्वचरित्र, मगलकलश, मोहजीत, शीलमंजरी, ब्रह्मदत्त, भरतबाहुबलि, व्याघ्रक्षिय जमाली, महाबल, खंदक सन्यासी आदि उनमें प्रमुख है। इनके अतिरिक्त अध्यात्म रस से प्लावित कर देने वाले उनके आराधना, चौबीसी आदि ग्रन्थ भी बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त हैं। मघवागणी ने उनके जीवन-चरित्र 'जयसुजस' में उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची बतलाते हुए ७१ ग्रन्थों के नाम दिए है और अंत में कहा है कि इनके अतिरिक्त सैकड़ों स्फुट ढालों तथा थोकड़ों के रूप मे भी उनका पुष्कल साहित्य विद्यमान है। जयाचार्य जहा ग्रन्थ-निर्माण में कुशल थे, वहां संकलन और सम्पादन में भी प्रवीण थे। भिक्षु-दृष्टान्त उनकी संकलन-पद्धति और सिद्धान्तसार तथा गण विशुद्धिकरण हाजरी आदि उनकी संपादन पद्धति के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते है।

तेरापंथ के वर्त्तमान आचार्य श्री तुलसी तथा उनका शिष्य संघ संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं मे साहित्य रचना के साथ-साथ भी तत्परता के साथ राजस्थानी भाषा के साहित्य-निर्माण में लगा हुआ है। प्रतिवर्ष अनेकों ग्रन्थों का योजनाबद्ध निर्माण चालू है। आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी कृतियो मे कालूयशोविलास, माणक महिमा, डालिमचरित्र आदि जीवन-चरित्र तथा गजसुकुमाल, उदाई सुकुमालिका आदि आख्यानग्रन्थ और कालू उपदेश वाटिका आदि औपदेशिक ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

राजस्थानी भाषा मे साहित्य रचना को मुख्यतः तीन शैलियां मानी जाती हैं। जैन शैली, चारण शैल और डिंगल शैली। डिंगल शैली अपभ्रंश भाषा का ही एक विकसित रूप है। चारण शैली मे मुख्यतः चारण कवियों ने और कुछ जैन, ब्राह्मण आदि अन्य कवियों ने भी लिखा है। जैन शैली का विकास मुख्यतः जैन साहित्य कारो ने ही किया है। इसमे कुछ गुजराती का प्रभाव रहा है। यह शैली मुख्यतः जनभाषा के अधिक समीप रही है। यही कारण है कि अपने प्रारम्भकाल से आज तक की इस शैली की राजस्थानी-कृतियां बड़ी आसानी से टीका आदि के बिना हो समझी जा सकती है। चार-सौ वर्षों के प्रलंबकाल मे भी इसने बहुत स्वल्प अंतर आया है।

कन्नड़-भाषा

दक्षिण भारत मे प्रचलित द्राविड़ भाषाएं संस्कृत, प्राकृत आदि आर्य भाषाओं के परिवार से भिन्न हैं। इस भाषा वर्ग का व्याकरण आर्यभाषाओं के व्याकरणों से प्रायः समग्ररूप से भिन्न है। लिंग, वचन, प्रत्यय आदि का क्रम सर्वथा भिन्न है। शब्द भंडार की दृष्टि से भी ये भाषाएं इतनी समृद्ध हैं कि इन्हें संस्कृत आदि आर्य-भाषाओं से शब्द उधार लेने की बहुधा आवश्यकता नही रहती। इस कथन का तात्पर्य यह नही कि आर्य भाषाओं का एक भी शब्द द्राविड़ भाषाओं में नहीं है। साधारण आदान-प्रदान तो चलता ही है। काल के लम्बे प्रवाह मे द्राविड़ भाषाओं ने आर्य भाषाओं से अनेक शब्द लिए है तो साथ ही अनेक शब्द दिए है। भाषा तत्व के धुरंधर विद्वान डा० काल्डीवेल के मतानुसार नीर, पल्लि, मीन, बल्लि, मुकुल, कुंतल, काक, ताल, मलय, कलि, कल्व, तल्प और खर्जु आदि शब्द द्राविड़ भाषाओं मे ही संस्कृत में आए है[1]। कुछ पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों के मतानुसार तो संस्कृत में वर्ग के अक्षर द्राविड़ भाषाओं से ही लिए गए हैं।

द्राविड़—भाषा—परिवार की मुख्य पांच भाषाएं गिनी जाती है-कन्नड़, तमिल तेलगू, मलयालम और तुलु। इनमें से कन्नड़, तमिल और तेलगु में जैन साहित्यकारों ने प्रमुख रूप से लिखा है। कन्नड़ को तो साहित्यिक रूप प्रदान करने का समग्र श्रेय जैन लेखकों को ही है। आज भी इस भाषा का दो तिहाई साहित्य जैन साहित्य माना जाता है। तेरहवीं शताब्दी तक तो इस भाषा के साहित्य पर जैनों का ही एकाधिपत्य रहा है। उनमें नवमी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक का काल विशेष उत्कर्ष पूर्ण माना जाता है। कहा जाता है कि यदि कन्नड़ भाषा में से जैन साहित्य को बाद दे दिया जाए तो पीछे उसका प्राचीन साहित्य कुछ भी न रह जाए। इस बात की पुष्टि कन्नड़ साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान शेष बी० पारिशवाड़े के कथन से भी होती है। वे कहते है-लगभग ईस्वी छट्ठी शताब्दी तक के सात आठ सौ वर्ष सम्बन्धी जैनों के अभ्युदय-आश्रित-निमित्त जो वाङ्मय है, उसका अवलोकन करना समुचित है। तत्कालीन करीब २८० कवियों में ६० कवियो को स्मरणीय एवं सफल कवि मान लेने पर इनमें ५० जैन कवियों के नाम ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इन ५० कवियो में ४० कवियों को निस्सन्देह हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, तीर्थंकरों के पारमार्थिक पुराण और दार्शनिक आदि अन्यान्य ग्रन्थ भी जैनों के द्वारा ही जन्म पाकर कन्नड़ साहित्य पर अपना शाश्वत प्रभाव जमाए हुये है।

कन्नड़ के जैन साहित्यकारो में जो विशेष प्रसिद्धि प्राप्त लेखक है। उनमे महाकवि पंप का नाम आदि कवि के रूप मे लिया जाता है। पोन्न, रन्न और जन्न ये तीनों कवि वहां के 'रत्नत्रय' कहलाते है। कंति वहां की आदि कवियित्री कही जाती है। उसे 'अभिनव वाग्देवी' की उपाधि प्राप्त थी। महाकवि नागचन्द्र को अभिनव पंप कहा गया है। इस प्रकार के ख्यातनामा परःशत जैन कवियो और उनके ग्रन्थों ने कन्नड़ साहित्य में अमर स्थान प्राप्त किया है। उनमें पंप का आदिपुराण (सन् ९४१) पोन्न का शांतिनाथ पुराण (सन् ९५० लगभग), रन्न का अजितनाथ पुराण (सन् ९९३), चावुंडराय का त्रिषष्टिशलाका पुराण (सन् ९७८), अभिनव पंप नागचन्द्र का मल्लिनाथ पुराण (सन् ११००), बुंधवर्मा का हरिवंश पुराण (सन् १२००), कुमुदेंदु का रामायण (सन् १२७५), रत्नाकरवर्णी का भारत वैभव (सन् १५५७), आदि अनेक ग्रन्थ रत्न प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं। तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियों और महान् राजाओं आदि के जीवन-चरित्र पर आधारित सभी महाकाव्य भाषा लालित्य के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते है। उपर्युक्त नाम तो केवल सूचनामात्र है. मूलतः ऐसे सहस्रों ग्रन्थ हैं। कन्नड़ के इन जैन लेखकों में श्रमण और गृहस्थ दोनों ही रहे है। इसीलिए उसके साहित्य में जहां काव्य, व्याकरण,

[1]—करनाटक कवि चरिते, भाग ३ की प्रस्तावना देखें।

ज्योतिष, गणित आदि विषय रहे है, वहां सूपशास्त्र और कामशास्त्र जैसे विषय भी रहे हैं।

काल की दृष्टि से कन्नड़ साहित्य को प्राचीन, माध्यमिक और वर्त्तमान इन तीनों श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। छट्ठी शताब्दी से बारहवीं तक प्राचीन काल, बारहवीं से सत्रहवीं में शताब्दी तक माध्यमिक काल और सत्रहवी से आज तक वर्तमान काल माना जाता है। प्राचीन काल में जैन, माध्यमिक काल मे लिंगायत और वर्तमान काल में ब्राह्मण धर्मानुयायी कन्नड़ के प्रमुख लेखक रहे है। यह विभाजन केवल प्रमुखता की दृष्टि से ही किया गया है। अन्यथा हर काल में जैन लेखक कन्नड़ को समृद्ध बनाते रहे है। आज भी यह कार्य चालू है।

तमिल भाषा

तमिल भाषा को द्राविड़ी भाषाओं मे सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। भाषा शास्त्रियों का मत है कि ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व भी यह काफी उन्नत स्थिति में थी। साथ ही विद्धज्जनों का यह मत भी है कि सुप्राचीनकाल में विंध्यपर्वत के दक्षिण भाग में एक ही भाषा बोली जाती थी। बाद में उसीसे समस्त द्राविड़ भाषाएं पैदा हुईं। वह आदिम भाषा प्राचीन तमिल से बहुत कुछ मेल खाती है। कुछ भी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि द्राविड़ भाषाओं में तमिल सर्वाधिक प्राचीन है। इस भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अन्य द्राविड़ भाषाओं की अपेक्षा बहुत कम पड़ा है।

समस्त तमिल साहित्य को तीन युगो मे विभक्त किया जाता है-संघकाल, शैवकाल और अर्वाचीनकाल। ईस्वी पूर्व पंचमशती से लेकर पंचम-षष्ठ शती तक अर्थात् लगभग एक सहस्र वर्ष तक का काल संघकाल कहा जाता है। यही काल मुख्यतः जन-साहित्यकाल रहा है। कन्नड़ के समान तमिल के मूल को भी जैन साहित्यकारों ने ही सींचा था। पाश्चात्य विद्वान मि० फ्रेजर ने भारत के साहित्यिक इतिहास का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है-'यह जैनों के ही प्रयत्नों का फल था कि दक्षिण में नए आदर्शों, नए साहित्य और नए भावों का संचार हुआ [1]।' दक्षिणात्य विद्वान रामस्वामी अय्यंगार का कथन है-'जैन लोग बड़े विद्वान और ग्रन्थ रचयिता थे। वे साहित्य और कलाप्रेमी थे। जैनों की तमिल सेवा तमिल देशवासियों के लिए अमूल्य है। तमिल भाषा में संस्कृत शब्दों का उपयोग पहले पहल सबसे अधिक जैनों ने ही किया। उन्होने संस्कृत शब्दों को उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से यथेष्ट रूप मे बदला भी है। कुरल् के पश्चादवर्ती युग मे प्रधानतः जैनों की संरक्षता में तमिल-साहित्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुंचा। तमिल साहित्य की उन्नति का वह सर्वश्रेष्ठ काल था! वह जैनों की विद्या और प्रतिभा का समय था।"

तमिल में जैन साहित्यकारों के ग्रन्थ निर्माण का प्रवाह मुख्यतः ईस्वी की छट्ठी शताब्दी तक ही रहा था। उसके पश्चात् वह क्षीण प्रायः हो गया। आजकल उन ग्रन्थों मे से बहुत कम ही उपलब्ध हैं। अधिकांश साहित्य नष्ट हो चुका है, किन्तु जो उपलब्ध है, वह तत्कालीन जैन साहित्यकारों के पांडित्य और ज्ञान पर यथेष्ट प्रकाश डालने वाला है। कुछ प्रमुख तमिल जैन ग्रन्थों का परिचय आगे दिया जाता है।

तोलकाप्पियम्-यह एक व्याकरण ग्रन्थ है। तमिल भाषा के सभी व्याकरण ग्रन्थों का मूल तो यह माना जाता है ही, पर साथ ही उपलब्ध सभी तमिल साहित्य का यह पूर्ववर्ती ग्रन्थ माना गया है। इसके कर्त्ता का नाम तथा धर्म यद्यपि अज्ञात है, परन्तु इस ग्रन्थ के कतिपय प्रसंगों की अन्तरंग समीक्षा द्वारा विद्वानों ने इसे एक जैन ग्रन्थ माना है और यह सिद्ध किया है कि इसका कर्त्ता संस्कृत, व्याकरण तथा साहित्य में भी निर्विवाद रूप से प्रवीण रहा है।

तिरूक्कुरल-यह एक नीति ग्रन्थ हैं। तमिल साहित्य में इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसे एक प्रकार से तमिल वेद कहा जाता है। एक परम्परा के अनुसार इसके रचयिता का नाम कुंदकुंद (अपरनाम एलाचार्य)

1—A Literary history of India.

है तो दूसरी परम्परा के अनुसार इसके लेखक तिरूवल्लुवर कहे जाते हैं। अहिंसा सिद्धान्त इस ग्रन्थ का आद्योपांत आधार रहा है।

नालडियार-यह एक संग्रह ग्रन्थ माना जाता है। कहा जाता है कि उत्तर में दुष्काल पड़ने के कारण आठ हजार जैनसाधु दक्षिण-पांड्यदेश में आए थे। कालान्तर में वे वापस जाने की तैयारी करने लगे। पांड्य नरेश उन्हें वहीं ठहराना चाहते थे, पर वे नहीं माने। वे राजा से प्रच्छन्न होकर चले गए। जाते समय प्रत्येक साधु ने ताड़ के पत्तों पर एक-एक पद्य लिखकर छोड़ दिया। बाद उन्हीं पद्यों का संग्रह करने पर उपर्युक्त ग्रंथ अस्तित्व में आया। यह ग्रन्थ भी कुरल के समान ही आदरणीय तथा एक उत्कृष्ट कोटि का नीति ग्रन्थ माना जाता है।

शिलप्पदिकारम्-यह एक महाकाव्य है। इसके लेखक चेर के युवराज है जो कि जैन मुनि हो गए थे। इसमे दक्षिण भारत के इतिहास में दिलचस्पी रखने वालों को प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो सकती है। यह तमिल के प्रख्यात पांच महाकाव्यों में से एक है। इन पांच महाकाव्यों में से तीन जैन ग्रन्थ हैं और दो बौद्ध ग्रन्थ। अवशिष्ट दो जैन महाकाव्यों के नाम हैं-बलैयापति और जीवकचिंतामणि। पांचों महाकाव्यों में जीवकचिन्तामणि सबसे बड़ा तो है ही, साथ ही उपलब्ध समस्त तमिल साहित्य में सर्वोत्कृष्ट भी है।

तमिल में पांच लघुकाव्य भी अति प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं-यशोधर काव्य, चूलामणी, उदयनन् कथै, नागकुमार काव्य और नीलकेशि। ये पांचो ही जैन कृतियां हैं। यशोधर काव्य इन सबमें प्रथम कोटि का माना जाता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेरिच्चारम्, पलनोलि आदि नीतिग्रन्थ, मेरूमंदर पुराणम्, श्रीपुराणम् आदि पुराणग्रन्थ यप्परंगुलक्करिकै, यप्परंगुलवृत्ति, नेमिनाथम् और नानूल आदि व्याकरण ग्रन्थ, अच्चनंदि-भालै आदि छन्दःशास्त्र और जिनेन्द्रभालै आदि ज्योतिष ग्रन्थ भी जैन साहित्यकारों की तमिल में बहुत महत्त्व पूर्ण कृतियां मानी जाती है।

धर्म-श्रुत-धनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः।

नीतिवाक्यामृतसोमदेवाचार्या।

धर्म (मानव कर्त्तव्य) श्रुत (ज्ञानाभ्यास) और धन इनका यदि प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अंश संगृहित किया जाय तो किसी दिन इनकी राशि समुद्र से भी अधिक हो सकती है।

जैन धर्म और राज्य व्यवस्था

• रामावतार शर्मा, एम. ए.
राजनीति विभाग
श्रमजीवी कॉलेज, उदयपुर

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि का अवलोकन करने से स्पष्ट हो गया कि जैनधर्म ने राज्य व्यवस्था को अच्छी तरह प्रभावित किया है। जैन आचार्यों का यह क्रम रहा है कि वे सदैव से ही अपने ध्येय की सिद्धि करने के लिए शक्तिभर स्वयं भाग लेते हैं और अपने आस पास शक्तिशाली (सम्प्रभू) लोगों की सत्ता का भी अधिक से अधिक उपयोग करते आए हैं। जो कार्य वे स्वयं सरलता से नहीं कर सकते उस कार्य की सिद्धि के लिए अपने अनुयायो या अनुयायी राजा, मंत्री और दूसरे अधिकारी तथा अन्य समर्थ लोगों का पूरा-पूरा उपयोग करते है।

विशाल संस्कृत साहित्य मे यद्यपि सदियो म मौलिक कृतियों की वृद्धि नही हुई तथापि ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसके तत्वों का आभास बीज रूप में उपलब्ध नहीं होता। विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन राजनीति और राज्य व्यवस्था सभी का वर्णन विविध रूपों में संस्कृत साहित्य मे अतुल मात्रा में प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास मे राज्य से सम्बन्धित ज्ञान का रूप लेकर कोई भिन्न शास्त्र नहीं रखा गया, यह विषय विशुद्ध नीति विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रचीन भारतीय साहित्य के ग्रन्य भी बहुत से ग्रन्थों से प्राप्त होता है जो धर्म के साथ ही साथ राज्य व्यवस्था का भी प्रतिपादन करते हैं। प्रायः सभी स्मृति—ग्रन्थों में राजधर्म का भी समावेश है इसलिये मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के अनुशीलन के लिये बहुत ही उपयोगी हैं। धर्म सूत्रों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है—पुराण, रामायण, काव्य ग्रन्थों मे भी राज्य व्यवस्था विषयक अनेक निर्देश मिलते हैं। पुराण संख्या में अठारह हैं जिनमें प्राचीन इतिवृत्त संग्रहीत है वहाँ प्रसंगवश उनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धित संदर्भो की भी कमी नही है, बौद्ध और जैन साहित्य भी राज्य व्यवस्था विषयक निर्देशों मे शून्य नही है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राजशक्ति और धर्म एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी कभी नही रहे, अपितु एक दूसरे के सहयोगी रहे है। इनका पारस्परिक सान्निध्य इतना सघन था कि धर्मनीति और राजनीति एक दूसरी मे घुली मिली दिखाई देती है। यहां के शासक वर्ग ने धर्म को ही राज्य की आधारशिला माना है—फिर क्यों न राज्य व्यवस्था धर्म द्वारा प्रभावित नहीं होती। भारत बहुत ही बड़ा देश है। कतिपय विदेशी विद्वान इसे उप महाद्वीप भी कहते हैं। यद्यपि इसकी भौगोलिक धार्मिक और संस्कृतिक एकता से इन्कार नही किया जा सकता। पर यह सत्य है कि राजनैतिक दृष्टि से इस देश में कभी अविकल रूप से एकता कायम नहीं रही। प्राचीन काल में भारत में बहुत से 'जनपद' थे जिनकी संख्या सैकड़ों में थी। महाभारत, पाणिनि की अष्टाध्यायी बौद्ध व जैन साहित्य आदि में भारत के बहुत से जनपदों का उल्लेख है और यह बात शिलालेखों व सिक्कों से भी विदित होती है।

जनपद

जिस समय आर्य भारत में पविष्ट हुये और उन्होंने यहां के आदिम वासियों को परास्त कर इस देश में शक्ति का विस्तार किया, वे राजनैतिक दृष्टि से संगठित हुये उस समय उस संगठन को 'जन' कहते थे। इन जनों का संगठन परिवार के नमूने पर होता था। एक जन के सभी व्यक्ति 'सजात' अथवा एक ही वंश के समझे जाते थे। आर्यों के अत्यन्त प्राचीन जन प्राय: 'अनवस्थित' दशा में होते थे, क्योंकि वे किसी प्रदेश पर प्रारम्भ में स्थायी रूप से नहीं बसे थे। पर इन अनवस्थित जनों मे भी संगठन का अभाव न था। प्रत्येक जन के अनेक विभाग होते, जिन्हें ग्राम' कहते थे। ग्राम का अर्थ समुदाय है। बाद में जब मनुष्यों का कोई समूह या समुदाय (ग्राम) किसी स्थान पर स्थाई रूप मे बस गया तो वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा। इसी प्रकार जब कोई जन जो अनेक ग्रामों में विजयी होता था। किसी भी प्रदेश पर स्थाई रूप मे बस जाता तो वह प्रदेश 'जनपद' कहलाने लगता, और स्वाभाविक रूप से उसमे अनेक ग्रामों की सभा होती। सारे जनपद के शासक को राजा कहते थे।

वैदिक युग के आर्य राजनैतिक दृष्टि से जिन 'जनों' में संगठित थे वेदों के अनुशीलन से उनके सम्बन्ध में भी परिचय मिलता है। Vedic Index में इन जनों का भौगोलिक दृष्टि से विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है—

१. उत्तर—पश्चिम के क्षेत्र में–कम्बोज, गान्धारी, अलिन, पक्थ, मलान और विषाणिन

२. सिन्धु नदी के पश्चिम में–अजिकीय, शिक, केकय और वृचीवन्त।

३. सिन्धु और वितस्ता नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में यदु।

४. वितस्ता नदी के पूर्ववर्ती पार्वत्य क्षेत्र में महावृक्ष, उत्तर कुरु और उत्तर मद्र।

५. असिक्नी और पुरुष्णी नदियों के मध्य में बाल्हीक, द्रुह्यु, तुर्वशु और अनु।

६. शतुद्रि नदी के पूर्व में–भरत, त्रित्सु पुरु, पारावत और श्रंजय

७. यमुना के क्षेत्र में—उशीनर, वश, साल्व और क्रिवी।

इन जनों के अतिरिक्त अन्य बहुत से जनों का उल्लेख वैदिक साहित्य मे आया है। वैदिक युग के आर्यों की इन विविध शाखाओं व जनों का निवास प्राय: उत्तर पश्चिमी भारत व पंजाब के क्षेत्र मे ही था।

वैदिक युग की शासन संस्थाओ का अनुशीलन करते हुये हमे यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'जन' के रूप में जो राजनैतिक सगठन था उसका स्वरूप क्या था। इस प्राचीन युग के भारतीय, राज्यजनों पर ही आश्रित थे, ऐसे जनों पर जो कि ग्रामों व गोत्रों (कुलों) में विभक्त थे। वर्तमान समय के राज्यों से उनका रूप भिन्न था।

राजा

जनपद का मुखिया राजा होता था। सामान्यतया राजा का पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद राजा के पद को प्राप्त करता था, पर यह आवश्यक था कि उसको जनमत 'विशः' या प्रजा स्वीकार करे। यदि राजा का पुत्र प्रजा की सम्मति में राजा के पद के लिये अयोग्य हो तो प्रजा उसे राजा के रूप मे स्वीकार नही करती थी तब कुलीन घराने के किसी अन्य व्यक्ति को वह स्थान दिया जाता था।

जनता जिस राजा का वरण करती थी उससे वह कतिपय कर्त्तव्यों के पालन की भी आशा रखती थी। इन कर्त्तव्यों में सर्व प्रधान कर्त्तव्य जनता को धन वैभव पैदा करवाना और धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करना था। धर्म के प्रति सहिष्णुता ही पर्याप्त न थी अपितु मुक्त हस्त अनुदान की भी जनता आशा करती थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा सृष्टि का सेवक योग्य पुरुष था। उसका जीवन निरन्तर परिपलन के लिये ही होता था। जैनचार्यों ने साम्राज्य पद को सात परम स्थानों में गिनकर राजा के महात्म्य की घोषणा

की है। जो राजा अपने जीवन को केवल भोग विलास का ही साधन समझते हैं वे आत्म कर्त्तव्य ज्ञान से शून्य हैं। अपने ऊपर संपूर्ण राज्य के जीवन का भार लेकर भी यदि भोग विलास को ही अपना लक्ष्य बनालें तो उनसे अधिक आत्मवञ्चक तथा प्रमत्त कौन होगा? आचार्य सोमदेव ने राजा और राज्य की त्यागमदता के कारण उसे पूज्य समझकर अपने 'नीतिवाक्यामृत' के प्रारम्भ में राज्य को ही नमस्कार किया है। उनका पहिला सूत्र है—अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः। शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र में भी सन्धि विगृह आदि शाखा, साप, हान आदि पुष्प तथा धर्म अर्थ काम रूप फलयुक्त राज्यवृक्ष को नमस्कार किया गया है। राजा कौन हो सकता है उसके उत्तर में आचार्य सोमदेव कहते हैं, धर्मात्मा कुल अभिजन और आचार से शुद्ध प्रतापी, नैतिक, न्यायी निग्रह–अनुग्रह में तटस्थ, आत्म सम्मान आत्मगौरव मे व्याप्त कोश एवं बल सम्पन्न व्यक्ति राजा होता है।"

सोमदेव सूरि

आचार्य सोमदेव सूरि ने चालुक्य वंशीय राजा अरिकेसरी के प्रथम पुत्र श्री वद्दिगराज की गंगाधारा नगरी में चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ को यशस्तिलक चम्पू को पूर्ण किया, इनका एक और भी सुविख्यात ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' भी है जो राजशास्त्र की अमूल्य निधि है। इन दोनों ग्रन्थों में राजाओं के राजनैतिक जीवन को व्यस्थित और अधिक से अधिक राजव्यवस्था को सफल बनाने के लिये मर्यादा निर्देशन दिया है।

राजव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये आचार्य ने राजा को देशना दी है कि अपने राज्य का समस्त भार मन्त्रियों आदि पर छोड़ कर बैठने से ही राजा राजव्यवस्था में असफल होते हैं। आचार्य कहते हैं कि राजाओं को प्रत्येक राजकीय कार्य स्वयं अवलोकन करना चाहिये। क्योंकि जो राजा अपना कार्य स्वयं नहीं देखता है उसे निकटवर्ती लोग उल्टा सीधा सुझा देते हैं। शत्रु भी उसे अच्छी तरह धोखा दे सकता है। "जो राजा मन्त्रियों को राज्य का भार सौपकर स्वेच्छा-विहार करते हैं वे मूर्ख, बिल्लियों के उपर दूध की रक्षा का भार सौपकर आनन्द से सोते हैं। कदाचित् जल में मछलियों का और आकाश में पक्षियों का मार्ग जाना जासकता है किन्तु हाथ के आँवले को लुप्त करने वाले मन्त्रियों की प्रवृत्ति नहीं जानी जासकती। जिस प्रकार वैद्य लोग धनाढ्य पुरुषों के रोग बढ़ाने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मन्त्री भी राजा की आपत्तियां बढ़ाने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। आचार्य ने जहाँ मन्त्रियों के प्रति राजा को जागरुक रहने का उपदेश दिया है वहां मन्त्रियों की उपयोगिता का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। मन्त्रियों के बिना केवल राजा के ही द्वारा राज्य का संचालन नही हो सकता। अतः राजा को राज्य व्यवस्था के लिये अनेक मन्त्री गण रखने चाहिये।

आन्तरिक शान्ति व्यवस्था के लिये राजाओं को उदार बनना आवश्यक है। अपनी सम्पत्ति का उचित भाग दूसरो के लिये भी देना चाहिये। जो राजा संचय शीलता के कारण आश्रितजनों में अपनी सम्पदा नही बांटते उनका अन्तरंग सेवक भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रजा में शनैः शनैः अनीति बढ़ने लगती है, और अन्ततोगत्वा अराजकता फैलजाती है। यहाँ दान उपाय के समर्थन के आगे भेदनीति का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। 'जो राजा शत्रुओं मे भेद डाले बिना ही पराक्रम दिखाता है वह ऊँचे बांसों के समूह में से किसी एक बांस को खीचने वाले बली के समान होता है।'

आचार्य सोमदेव सूरि ने अनेकों प्रकार के प्रमाण और उक्तियों द्वारा राजा की स्थिति को सुदृढ़ करने की बात कहीं हैं।

यह आवश्यक नही कि शत्रुओं को अपने वश करने के लिये उनके देश पर आक्रमण ही करे। जिस प्रकार कुम्भकार अपने घर बैठकर चक्र चलाता हुआ अनेक प्रकार के बर्त्तन बना लेता है ठीक उसी प्रकार राजा भी अपने घर बैठकर चक्र (नीति एवं सैन्य) चलाये और उसके द्वारा दिग दिगन्त के राजा-भाजनों को सिद्ध (वश में) करे। जिस प्रकार किसान अपने खेत के बीच मञ्च पर बैठकर ही खेत की रक्षा करता

है उसी प्रकार राजा को भी अपने सिंहासन पर आरूढ़ होकर समस्त पृथ्वी का पालन करना चाहिये ।

यह सब वे मार्मिक उपदेश है जिनसे राजाओं का जीवन लोक कल्याण कारी बन जाता है। आचार्य ने गुप्तचरों की महता का वर्णन करके उनको राजोपयोगी बताया है । उनके शब्दों में ही दूत वह है जो चतुर हो, शूरवीर हो, निर्लोभी हो, प्राज्ञ हो, गम्भीर हो, प्रतिभाशाली हो, विद्वान् ही प्रशस्त वचन बोलने वाला हो, सहिष्णु हो, द्विज हो, प्रिय हो और जिसका आचार निर्दोष हो ।

पूर्ण राजतंत्र का संचालन अर्थ द्वारा होता है इसलिये राजाओं को राज की आय वृद्धि के लिये प्रत्येक उपाय करने चाहिये ।

महाजनपद

जिन जन पदो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है है शासन पद्धति की दृष्टि से ये जनपद प्रधानतया दो प्रकार के थे—राजतन्त्र और गणतन्त्र । दुर्भाग्यवश महाभारत के समय और छटी सदी ईसा पूर्व का राजनैतिक इतिहास प्रायः अज्ञात ही है । इतिहासकारो ने थोड़ा बहुत इस अन्धकारमयी काल को भेदने का प्रयास भी किया है किन्तु उन में बड़ा ही मतभेद है । कारण इस काल का कोई ऐसा साहित्य भी उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर जहां राजनैतिक इतिहास को क्रमबद्ध रूप से तैयार किया जा सके वहाँ साथ ही इस युग की शासन संस्थाओं का भी परिचय प्राप्त किया जा सके । परन्तु छटी सदी ईसा पूर्व से इस दिशा में अन्तर आना प्रारम्भ हुआ । इस सदी में महात्मा बुद्ध ने अष्टांगिक आर्य धर्म का प्रतिपादन किया और जैन धर्म के चौबीस वें तीर्थकर वर्द्धमान महावीर भी इसी सदी में उत्पन्न हुये । बौद्ध और जैन साहित्यों में जहां बुद्ध और महावीर का चरित्र संकलित है वहाँ साथ ही उन जनपदों और राजाओं के सम्बन्ध में भी उनके द्वारा बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं जिनका इन धर्माचार्यो के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था । निरन्तर विकास द्वारा भारत के विविध जन पदों में जिस प्रकार की शासन संस्थाएँ स्थापित हो गई थीं उनका भी इस साहित्य से परिचय मिलता है । पाणिनि की प्रसिद्ध अष्टाध्यायी का काल भी छटी सदी ई. पू० के लगभग ही माना जाता है । अष्टाध्यायी यद्यपि व्याकरण ग्रन्थ है पर उसके तद्धित प्रकरण में बहुत से ऐसे सूत्र हैं जो इस युग के जनपदों व उनकी शासन संस्थाओं पर अच्छा प्रकाश डालते हैं ।

गणतंत्र जनपद

बौद्ध साहित्य मे स्थान-स्थान पर सोलह महाजन पदों का उल्लेख आता है । यह सूची बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर एक ही ढंग से उपलब्ध होती है । यह सूची एक श्लोक के रूप में है । इस सोलह महाजन पदों मे एक ही प्रकार को शासन पद्धति न थी—उनमें से कुछ राजतंत्र थे और अन्य गणतंत्र । गणतंत्र में कोई वंश क्रमानुगत राजा नहीं होता था । जनता स्वयं ही अपना शासन करती थी । सोलह महाजनपदो मे वज्जि, मल्ल और शूरसेन राज्यों का गणतन्त्र होना निश्चित माना जाता है । पर इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गणराज्यों का उल्लेख बौद्ध साहित्य मे मिलता है जो निम्नलिखित है—

(१) कपिल वस्तु के शाक्य, (२) राम ग्राम के लिये कोलिप (३) मिथिला के विदेह (४) पिप्पलिवन के मल्ल, (५) पावा के मल्ल (६) पिप्पलिवन के मोरिय, (७) अल्ल कप्प के बुलि, (८) सुंसुमार पर्वत के भग्ग, (९) केसपुत्र के कालाम और वैशाली के लिच्छवी ।

मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी राज्यो के संघ को वज्जि कहा जाता था ।

लिच्छवी गण

महात्मा बुद्ध के कारण कपिल वस्तु के शाक्यों का जितना महत्व है ठीक उसी प्रकार वैशाली के लिच्छवी भी विशेष महत्ता है । भगवान् महावीर की यह पुण्य भूमि है, इनका प्रादुर्भाव वैशाली के राज्य संघ में हुआ था । वैशाली के शक्तिशाली राज्य संघ मे सम्मिलित ज्ञातृकगण मे उनका जन्म हुआ था । ज्ञातृकगण वज्जि र जसंघ के अन्तर्गत था । यही कारण है कि जैनों का धार्मिक साहित्य इस संघ के विषय में विशेष प्रकाश डालता है । बौद्ध साहित्य से भी इसके विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें विदित होती हैं ।

प्राचीन ग्रन्थों में वैशाली का बहुत सम्बद्ध तथा वैभवशाली नगर के रूप में वर्णन किया गया है। लिच्छवी-गण की राजधानी होने के अतिरिक्त यह वज्जि राज्य संघ जिसमें कुल मिलाकर आठ गणराज्य सम्मलित थे—की भी राजधानी थी। इस दिशा में बिलकुल स्वाभाविक है कि यह बहुत ही उन्नत और समृद्ध दशा को पहुँचा होगा। वर्तमान् समय में बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक एक गांव है जो गण्डक नदी के बायें तट पर स्थित है। इसी स्थान पर प्राचीन समय की प्रसिद्ध वैभवशाली वैशाली नगरी विद्यमान थी।

वैशाली के निवासियों में उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नहीं किया जाता था वहां प्रत्येक आदमी अपने विषय में सोचता था कि वह स्वयं राजा है, और कोई किसी से छोटा बनना स्वीकार नहीं करता था।

लिच्छवी राज्य की राजसभा के अधिवेशन सन्थागार में होते थे। इस सभा में कितने लिच्छवी 'राजा' सम्मलित होते थे, इसका निर्देश भी बौद्ध साहित्य में मिलता है। एक पण्ण जातक में लिखा है कि वैशाली में जो राजा राज्य करते हैं, उनकी संख्या सात हजार सात सौ, सात है। साथ ही राजाओं के साथ शासन करने वाले उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिकों की संख्या भी इतनी ही है। यह केवल इतना ही सूचित करता है कि लिच्छवी राज्य में शासन करने वाली श्रेणी बहुत बड़ी थी। कुछ ऐतिहासकारों का मत है कि यह सात हजार सात सौ सात शासक परिवार थे।

वैसे तो वैशाली की आबादी बहुत थी। महात्मा बुद्ध वहां जब यात्रा करते हुये पहुँचे तो १,६८,००० आदमी उनका स्वागत करने के लिये आये। इससे वैशाली की आबादी के घनत्व पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश पड़ता है।

इन राजाओं का राज्याभिषेक भी होता था, क्योंकि प्रत्येक लिच्छवि अपने को राजा समझता था। राज्य में एक शासनाधिकारी होता था, जिसे नायक कहते थे। इस नायक की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी। सम्भव है कि लिच्छवि राजाओं में प्रधान अथवा राष्ट्रपति का कार्य यही नायक करता हो। इसका कार्य लिच्छवि राजसभा के नियमों को क्रिया रूप में परिणत करना होता था।

लिच्छवि का यह शक्तिशाली राज्य समीप के साम्राज्यवादी शासकों की दृष्टि में अखर गया। इस राज्य की स्वतंत्रता का विनाश मगधराज के अजातशत्रु ने किया।

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि अवलोकन करने से स्पष्ट हो गया कि जैन धर्म ने राज्य व्यवस्था को अच्छी तरह प्रभावित किया है। जैन आचार्यों का यह क्रम रहा है कि वे सदैव से ही अपने ध्येय सिद्धि करने के लिये शक्तिभर स्वयं भाग लेते हैं और अपने आस पास शक्तिशाली (सम्प्रभु) लोगों की सत्ता का भी अधिक से अधिक उपयोग करते आये हैं। जो कार्य वे स्वयं सरलता से नहीं कर सकते उस कार्य की सिद्धि के लिये अपने अनुयायी या अनुयायी राजा, मंत्री और दूसरे अधिकारी तथा अन्य समर्थ लोगों का पूरा २ उपयोग करते हैं।

जैन दर्शन और विज्ञान के आलोक में आरोह-अवरोहशील विश्व

• मुनि श्री महेन्द्रकुमार
'द्वितीय' बी. एस. सी. (Hons)

आईन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की समानता' के नियम पर आधारित यह सिद्धान्त विश्व को निर्माण और ध्वंश के अनन्त चक्रों में से गुजरने वाला शाश्वत घोषित करता है। वैज्ञानिक जगत् में यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धान्त के साथ अधिकतम सामंजस्य रखता है। "चक्रीय विश्व-सिद्धान्त" और "अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का सिद्धान्त" स्थूल रूप से एक ही तथ्य का निरूपण करते हैं कि विश्व की प्रक्रियाओं में काल-प्रवाह के साथ निर्माण और ध्वंस क्रमशः होता रहता है और इन चक्रों के चलते रहने पर भी विश्व का अस्तित्व अनादि-अनन्त है।

'काल-प्रवाह के साथ विश्व-प्रक्रियाओं में आरोह-अवरोह आते रहते हैं।' इस प्रकार का निरूपण वैज्ञानिकों के द्वारा 'स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व', 'प्रतिपरवलीय विश्व' और 'चक्रीय विश्व' के सिद्धान्त के रूप में किया गया है। दूसरी ओर जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र का सिद्धान्त इसी तथ्य का निरूपण करता है, इनमें परस्पर कहां तक समानता हो सकती है, इसकी चर्चा सरस और उपयोगी होगी।

स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व

स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व की कल्पना विश्व-विस्तार के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः जैन दर्शन का जो मतभेद विश्व-आकाश के विषय में 'विस्तारमान-विश्व-सिद्धान्तों' के साथ है, वह इसके साथ भी स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। परन्तु काल के दृष्टिकोण से विश्व के निरूपण के विषय में यह सिद्धान्त और जैन दर्शन एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं। दोनों ही विश्व के अस्तित्व को अनादि-अनन्त स्वीकार करते है और काल-प्रवाह के साथ विश्व के आरोह-अवरोह का प्रतिपादन भी। किन्तु यह प्रतिपादन विश्व के भिन्न-भिन्न पहलुओं के विषय में है। 'स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व-सिद्धान्तों' विश्व-आकाश में संकोच और विस्तार के रूप में आरोह-अवरोह की कल्पना करता है; जब कि जैन दर्शन अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र के रूप में 'समयक्षेत्र' की कुछ प्राकृतिक प्रक्रियाओं के विषय में यह निरूपण करता है। इस प्रकार यह साम्य केवल औपचारिक हो जाता है।

प्रस्तुत सिद्धान्त के विषय में ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि 'विस्तारमान-विश्व' के सम्बन्ध में लाल-रेखा- परिवर्तन की प्रक्रिया केवल तारा पुंजों की गति की सूचक है, आकाश के विस्तार की नहीं। प्रो० टोलमेन का 'स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व' का प्रतिपादन 'नये जड़ की उत्पत्ति' की परिकल्पना पर आधारित है। यदि उक्त सुझाव को स्वीकार कर लिया जाये, तो इस परिकल्पना की आवश्यकता नहीं रहती

ग्रौर परिणामस्वरूप जितनी भी समस्याएं इस परिकल्पना के स्वीकार से जन्म लेती हैं, स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं। अतः प्रस्तुत सिद्धान्त और उक्त सुझाव के संयुक्त आधार पर कहा जा सकता है कि विश्व-आकाश स्थित तारा पुंज काल-प्रवाह के साथ एक दूसरे से दूर और समीप गति करते रहते है, जब ये तारा पुंज एक-दूसरे से दूर या निकट होते है, तब लाल-रेखा में तदनुरूप परिवर्तन आता रहता है। वर्तमान काल में ये एक दूसरे से दूर हो रहे है, इसलिए हम लाल-रेखा की कम्पन-आवृत्ति में कमी होती देख रहे है। भविष्य में जब इनकी वर्तमान विरोधी गति उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेगी, ये एक दूसरे के निकट होना प्रारम्भ कर देंगे और लाल-रेखा का परिवर्तन वर्तमान में निरीक्षित परिवर्तन से विपरीत होगा अर्थात् लाल-रेखा की कम्पन-आवृत्ति में वृद्धि होगी। जब इनका निकट होना उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त होगा, पुनः ये दूर होना प्रारम्भ कर देंगे। इस प्रकार काल-प्रवाह के साथ तारापुंजो की गति की दिशा बदलती रहेगी और परिणामस्वरूप तारापुंज दूर और निकट होते रहेंगे। परन्तु इन गतियों का (दूर और निकट होने का) विश्व-आकाश पर कोई गति सम्बन्धी प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् किसी भी स्थिति में विश्व-आकाश तो अगतिशील ही रहेगा और अपने वर्तमान घनफल (Volume) को चाहे वह सान्त हो या अनन्त, अचल रख लेगा।

यह प्रतिपादन हमने केवल, मूलभूत विश्व-समीकरण के फ्रीडमान द्वारा किए गये एक प्रकार के हल पर आधारित 'स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व' सिद्धान्त तथा सामान्य तर्क पर आधारित उस सुझाव के संयुक्त आधार पर किया है। इस प्रतिपादन को जैन दर्शन का समर्थन कहां तक प्राप्त हो सकता है, इसके विषय मे भी चिन्तन करना चाहिए। यह प्रतिपादन अगतिशील, स्थिर घनफल आकाश के निष्कर्ष पर हमे पहुंचाता है, इस दृष्टिकोण से जैन दर्शन का समर्थन इसे प्राप्त हो जाता है। किन्तु तारा पुंजों की गति वास्तविक है या नहीं, इसके विषय मे जैन दर्शन न तो समर्थन करता है और न विरोध।

चक्रीय विश्व

आइन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की समानता' के नियम पर आधारित यह सिद्धान्त विश्व को निर्माण और ध्वंश के अनन्त चक्रो मे से गुजरने वाला शाश्वत घोषित करता है। वैज्ञानिक जगत् में यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धान्त के साथ अधिकतम सामंजस्य रखता है। 'चक्रीय विश्व-सिद्धान्त' और 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का सिद्धान्त' स्थूल रूप मे एक ही तथ्य का निरूपण करते है कि विश्व की प्रक्रियाओं मे काल-प्रवाह के साथ निर्माण और ध्वंस क्रमशः होता रहता है और इन चक्रो के चलते रहने पर भी विश्व का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। दोनो सिद्धान्तो की सूक्ष्म दृष्टि से तुलना करना वर्तमान मे सम्भव नहीं है, क्योकि जैन दर्शन मे 'कालचक्रों' की काल-गणना जिन मानों मे हुई है, उनका व्यावहारिक गणित मे परिवर्तन करना कठिन है। दूसरा, चक्रीय विश्व-सिद्धान्त जिस रूप मे ध्वंस और निर्माण की कल्पना करता है, वह अति स्थूल है। उसका व्यावहारिक जगत् की प्रक्रियाओं के साथ सम्बन्ध नहीं है। जबकि जैन दर्शन मे 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी' द्वारा व्यवहारिक प्रक्रियाओं मे आने वाले आरोह-अवरोहों का चित्रण किया गया है।

'चक्रीय विश्व-सिद्धान्त' के विषय मे निम्न दो बातें उल्लेखनीय है :—

१. यह सिद्धान्त जिन परिकल्पनाओं पर आधारित है, वे ठास प्रयोगिक और सैद्धान्तिक आधार पर निर्मित हैं।

२. चक्रीय विश्व-सिद्धान्त के विषय मे विश्व का केवल काल की दृष्टि मे ही निरूपण किया गया है। अतः, विश्व-आकाश विस्तारमान है या स्थिर, इसके विषय में यह सिद्धान्त कुछ भी नहीं कहता।

अतिपरवलीय विश्व

अतिपरवलीय विश्वसिद्धान्त और स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व-सिद्धान्त मे केवल इतना ही अन्तर है कि अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त विश्व को काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त मानता हुआ भी उसमें केवल एक संकोच-विस्तार की कल्पना करता है, जब कि स्वतः

संचालित कम्पनशील विश्व मे अनन्त संकोच-विस्तार की कल्पना की गई है । अतः स्वतः संचालित कम्पनशील-विश्व के साथ जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी सिद्धान्त की जितनी सहशता उतनी इस सिद्धान्त के साथ नही है ।

डा० ज्योर्ज गेमो का 'उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त' भी 'अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त पर आधारित है । यद्यपि डा० गेमो के सिद्धान्त की चर्चा 'सादि विश्व-सिद्धान्तों' के अन्तर्गत की जाती है, फिर भी वस्तुतः तो अतिपरवलीय विश्व-सिद्धान्त' पर आधारित होने के कारण डा० गेमो द्वारा प्रतिपादित 'उद्विकासी विश्व' भी काल की दृष्टि मे अनादि अनन्त हो ही जाता है । इस तथ्य की पुष्टि डा० गेमो के शब्दो म ही होती है । इस प्रकार काल की दृष्टि मे शाश्वत विश्व के साथ सामंजस्य तो रखता है, किन्तु इसमे अधिक इनमे कोई सादृश्य नही है ।

जैन दर्शन के अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी सिद्धान्त और उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त मे एक विलक्षण वैसदृश्य दिखाई देता है । जैन दर्शन के अनुसार वर्तमान युग अवसर्पिणी कालचक्र के अन्त के समीप का है । अर्थात् वर्तमान काल मे लगभग ३९५०० वर्ष पश्चात् उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होगा, जब कि उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान युग 'विस्तार-मान' काल के प्रारम्भ के समीप का है । अर्थात् लगभग ५० करोड़ वर्ष पूर्व ही विश्व का 'संकोच' काल समाप्त हुआ । इस प्रकार प्रथम जहा वर्तमान को 'अवरोह' के अन्त के समीप मानता है वहा दूसरा आरोह' के प्रारम्भ के समीप स्वीकार करता है ।

डा० गेमो ने 'उद्विकासी-विश्व' के प्रतिपादन में एक मनोरंजक कल्पना की है । सिकुड़ते हुए और विस्तृत होते हुए विश्व में काल-प्रवाह के साथ विश्व की अन्य प्रक्रियाओं पर क्या प्रभाव रहा होगा, इस विषय मे निरूपण करते हुए डा० गेमो लिखते है, [1] जब विश्व सिकुड़ रहा था, तब क्या विश्व की सभी प्रक्रियाएं उल्टे क्रम से चलती थी ? यह प्रश्न हम हमारी कल्पना के बल पर अपने आपको पूछ सकते है । इससे आगे यह कल्पना भी कर सकते है कि क्या साठ से अस्सी करोड़ वर्ष पूर्व आप यह पुस्तक उल्टे क्रम से अन्तिम पृष्ठ मे प्रारम्भ कर आदिम पृष्ठ की ओर पढ़ रहे थे ? अथवा कल्पना को इससे भी आगे दौड़ाने पर, यह प्रश्न भी हो सकता है कि क्या उस समय मनुष्य अपने मुंह मे मे पकाई हुई मुर्गी निकाल कर, अपने रसोई घर मे उसमें जीवन डाल कर, उसे बाहर खेत मे भेजा करते थे, जहा वे मुर्गियां वृद्धावस्था से युवावस्था और युवावस्था मे बाल-अवस्था को प्राप्त होती हुई अन्त मे अण्डे का स्वरूप धारण कर लेती थी ? इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर निकेवल वैज्ञानिक आधार पर नहीं दिया जा सकता । क्योंकि जब विश्व सिकुड़ता सिकुड़ता उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ था तब विश्व-स्थिति समस्त जड़-राशि केवल एक छोटे-से अणु के भीतर समाहित हो गई थी और इस प्रक्रिया के कारण संकोचमान विश्व मे कौन-सी क्रिया किस रूप मे होती थी ? 'इसका सारा इतिहास ध्वस्त हो गया ।' डा० गेमो द्वारा किये गये इस निरूपण की समीक्षा जैन दर्शन के 'कालचक्रीय सिद्धान्त' के आलोक मे करने मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक की विचित्र कल्पनाओं का और प्रश्नों का समाधान सहज रूप से मिलना सम्भव हो सकता है । अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल म प्रकृति की प्रक्रिया का आरोह-अवरोह होता है, इसके आधार डा० गेमो के प्रश्नो का उत्तर यही है कि प्रकृति की प्रक्रियाओं के उलटने का अर्थ 'पुस्तक को अन्त से शुरू कर आदि तक पढ़ना।' और 'मुंह मे मुर्गी निकाल कर मुर्गी ह्रास होकर अण्डे मे प्रविष्ट होना' आदि नहीं है । किन्तु उसका अर्थ होता है—पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन मूल गुणों की पर्यायो मे हानि-वृद्धि होना और इसके परिणाम स्वरूप ही मनुष्यो के आयुष्य ऊंचाई, अस्थि-संख्या आदि जीवन से सम्बन्धित प्रक्रियाओं में अवसर्पिणी काल मे उत्तरोत्तर ह्रास और उत्सर्पिणी काल मे उत्तरोत्तर विकास होता है ।

१—'वन, टू, थ्री,............ इनफिनिटी', पृ० ३३५

इस प्रकार प्रकृति ह्रास-विकास की पहेलिका को सुलझाने के लिए जहां एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक चित्रविचित्र कल्पनाएं करता है, वहां जैन दर्शन सुस्पष्ट विवेचन के द्वारा उसका समुचित समाधान करता है ।

डा० गेमो के सिद्धान्त के विषय मे ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

१. डा० गेमो का सिद्धान्त काल की अनन्तता को स्वीकार करता है फिर भी केवल एक ही संकोच विस्तार का प्रतिपादन करता है ।

२. स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धान्त के निरूपकों ने डा० गेमो के सिद्धान्त को अति सन्दिग्ध बताया है और इसके लिए अनेक प्रमाण [1] उपस्थित किए हैं ।

राग मालकोष

जिया जग धोके की टाटी ॥ टेक ॥

झूंठा उद्यम लोक करत है
जिसमें निश दिन घाटी ॥ १ ॥

जान बूझ कर अंध बने हो
आखिन बांधी पाटी ॥ २ ॥

निकल जायेंगे प्राण छिणक में
पड़ी रहेगी माटी ॥ ३ ॥

'दौलतराम' समझ नर अपने
दिल की खोल कपाटी ॥ ४ ॥

१ —ये प्रमाण अधिक मात्रा मे पारिभाषिक होने के कारण यहां नहीं दिये जाते हैं । इसके लिए देखें, दी युनिवर्स, पृ० ८५, ८६

वेदों में तीर्थंकरों की स्तुति

• मुनी श्री महेन्द्रकुमार
'प्रथम'

[वेदों मे ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्, डा० अलब्रेट बेबर, प्रो० विरुपाक्ष वाडियर, डा० विमला चरण लाहा प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं।]

वेदों मे अर्हन्[1] तथा अर्हन्त[2] शब्द का प्रयोग-बाहुल्य उस परम्परा की धर्म के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है, साथ ही ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ[3] अरिष्टनेमि[4], महावीर[5] आदि की नाम-ग्राहपूर्वक की गई स्तुति तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

---

१. अर्हन् विभिर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥
—ऋग्वेद, मं० २, अ० ४, सू० ३३, वर्ग १०।

२. क—इमंस्तोममर्हते जातदेवमेरथमिव संमहेमामनीषया।
भद्राहिनः प्रमतिरस्यसंसद्यग्ने सख्ये मारिषाभावयं तव ॥
—ऋग्वेद, मं० १ अ० १५ सू० ९४

ख—अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवसः।
प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामहद्भयः ॥
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ४ सू० ५२

ग—तावृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ताचित्पुरो दवे शेव देवावर्वते ॥
ऋग्वेद, मं० ५ अ० ६ सू० ८६

घ—ईडितो अग्ने मनसानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोबर्हिषदंयजध्वं ॥
ऋग्वेद, मं० २ अ० ११ सू० ३

३. ऊं सुपार्श्वमिन्द्र हवे—यजुर्वेद

४. क—ऊं रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा—यजुर्वेद, अ० २६
ख—तवां रथं वयमद्याहुवेमस्तो मेरश्विना सवितायं नव्यं।
अरिष्टनेमिं परिद्यामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानम् ॥
—ऋग्वेद, अ० २ अ० ४ व २४

ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेकों मंत्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति 'अहिंसक आत्म-साधकों में प्रथम' 'अवधूत चर्या के प्रणेता' तथा 'मर्त्यों में सर्वप्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है।

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः।
दिवा न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्र राजाना प्रदिवो दधाथे।
—ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् है। उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएं अपने ही आत्मगुणों से चमकती है, अतः वे ही राजा है, वे पूर्ण ज्ञान के आगार है और आत्म पतन नही होने देते।

ऋग्वेद के एक दूसरे मंत्र मे उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति-सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवो मे पूर्वयावा माना गया है।

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियमि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयावा।
—ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आता हूं, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है। उनको मैं अवधारण करता हूं। हे प्रभो! सभी मनुष्यो और देवों में तुम्ही पहले (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।

कुछ एक मंत्रों मे उनका नामोल्लेख नही हुआ है, पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है।

त्रिणी राजना विनथे पुरूणि परिविश्वानिभूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्।
—ऋग्वेद, २।३८।६

दोनो ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान से सभाओं के हित में चमकते हैं। वह सर्वथा निज ज्ञान मे जागरूक व्रतों के पालक है एवं वायुकेश गंधर्वो से वेष्टित रहते है। वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते है। हमे उनके दर्शन प्राप्त हो।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा मे ही परमात्मत्व का अधिष्ठान है, अतः उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती, महादेवो मर्त्यानाविवेश।
—ऋग्वेद, ४।५८।३

ग—वाजस्यनु प्रसव आबभूवेमा, च विश्वा भुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियाति विद्वान्, प्रजा पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा।।
—यजुर्वेद, अ० ६ मंत्र २५

घ—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।
—सामवेद, प्रपा० ६ अ० ३।

५. क—अतिथ्यरूपम्मासरम्महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपदामेतत्तिस्त्रो रात्री सुरासुता।।
—यजुर्वेद, अ० १६ मं० १४

ख—देवबर्हिवर्धमानं सुवीरं, स्तीर्णं रायेसुभर वेद्यस्याम्।
धृतेनाक्तंवसवः सीदतेदं, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियासः।।
—ऋग्वेद, मं० २ अ० १. सू० ३

मन, वचन, काय, तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में आवास करता है।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदों में है।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे।

—ऋग्वेद, ३१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की थी।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे। उन्होंने जिस शासन की स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु, सभी समान थे। पशु भी मारे नहीं जाते थे।

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति।

—अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री-भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्।

—ऋग्वेद, अ० ८ मं० सू० २४

मुद्‌गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है।

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्‌गलानीम्

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्‌गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्‌गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी वे निश्चल होकर मौद्‌गलानी (मुद्‌गल की स्वात्मवृति) की ओर लौट पड़ी।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है।

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विनाहुं वेधिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः।

—अथर्ववेद, कां० १६।४२।४

समस्त पापो से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को में आह्वान करता हूं। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति-योग्य बनाते हुए कहा गया है।

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के।

—म० १ सूत्र १६० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा साधक मंत्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

प्राग्नये वाचमीरय

—ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

यजुर्वेद, अ० ३१ मंत्र ८ की एक स्तुति में कहा गया है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते यनाय।

मैंने उस महापुरुष को जाना है जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अंधकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुंग द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव की स्तुति शब्द-साम्यता की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। भक्तामर स्तोत्र में वे कहते हैं।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमान्स
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं।
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः।

हे ऋषभदेव भगवान्! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मल-रहित और अज्ञान और अंधकार से दूर हो। तुम्हें भली-भांति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। हे

मुनीन्द्र। मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नही है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के शब्द और भाव देखने से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों स्तुतियां एक ही व्यक्ति को लक्षित करके की गई हैं।

वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन[1], डा० अलब्रे खेवर[2], प्रो० विरुपाक्ष[3] वाडियर, डा० विमलाचरण लाहा[4] प्रभृति विद्वज्जन भी करते है।

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थ करो के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं:—प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। वेद उसके तत्वनुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसीके ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थो में हैं और स्थान स्थान पर जैन तीर्थकरो का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नही कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।[5]

कहं चरे ? कहं चट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुजन्तो भासन्तों पावं कम्मं न बन्धइ ?

(भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे भजन करे ? कैसे बोले ? —जिससे कि पाप कर्म का बन्ध न हो)

जयं चरे जयं चट्ठे जय मासे जयं सए !
जयं भुजन्तो भासन्तो पाव कम्मं न बन्धइ !!

(आयुष्मन ! विवेक से चलो; विवेक से खड़ा हो: विवेक से बैठे; विवेक से सोए: विवेक से भोजन करे और विवेक से ही बोलें तो पाप कर्म नहीं बंध सकता,

1. Indian Philosophy, Vol. I. P. 287
2. Indian Antiquary, Vol. 3, P. 901
३. जैनपथ प्रदर्शक (आगरा) भा० ३, अं० ३, पृ० १०६।
4. Historical Gleanings. P. 78
५. अजैन विद्वानों की सम्मतियां, पृ० ३१

पाँच मुक्तक

• 'तन्मय' बुखारिया

देह नित निर्बंध, आत्मन् फँस रहा है,
मन अपाहिज हो धरा में धँस रहा है,
दिल्लगी इससे बड़ी क्या और होगी,
आदमी अब चन्द्रमा पर बस रहा है ।

उम्र की सूखी चिता पर जल रहा है,
मौत खुद छलना उसे नर छल रहा है,
मुक्ति की मंजिल नजर आए कहाँ से,
कर्म की पगडंडियों पर चल रहा है ।

नर ही नारायण है, स्वयमेव को पहिचानो तुम,
आँख के काजल के अस्तित्व को अनुमानो तुम,
कर्म के कस में है कैद मगर सोता नहीं,
अपने चैतन्य को हरवक्त सजग जानो तुम ।

लक्ष्य से दूर, बहुत दूर हो, मुख को मोड़ो,
बुद्धि के तीर को चतुराई से साधो, छोड़ो,
राग भी पाप कहा, जिसने तुम उसके साधक,
द्वेष के पूर्व स्वपर राग से नाता तोड़ो ।

नीर बदली में नहीं, भादों में सावन में है,
ज्योति तारों में नहीं, नेत्र के दर्पण में है,
धर्म के नाम पै नफरत को उगाने वालो,
धर्म मन्दिर में नहीं, विश्व के जन-जन में है ।

धर्म का मापदण्ड-आध्यात्मिकता

डॉ. रतनकुमार जैन
एम. कॉम., पीएच. डी.
नागपुर

आध्यात्मिकता का कलात्मक ढंग से प्रस्फुटन धर्म से होता है। धर्म अध्यात्मिकता को विकसित करने के लिये सहकारी संगठन प्रदान करता है। यह धार्मिक संगठन भी प्रतिस्पर्धी तत्वों से सर्वथा मुक्त है इसमें विशाल पैमाने पर समूहान्तर्गत आध्यात्मिकता के साथ-साथ समूहवाह्य आध्यात्मिकता पाई जाती है। इसमें आध्यात्मिकता का प्रदर्शन आत्यंतिक तीव्रता, पूर्ण विशुद्धता, सर्वोत्तम मानवता-प्रेम तथा असीम लोक कल्याण के रूप में होता है। सच बात तो यह है कि समग्र धर्म का मापदण्ड ही आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता के बिना धर्म थोथा है, विपाक्त साम्प्रदायिकता है और संकीर्णता तथा क्षुद्रता का पतनोन्मुख प्रवेश द्वार है।

धर्म मानवीय जीवन के अंतिम मूल्यों और सर्वोच्च आचार-विचार की व्याख्या करता है। जीवन के इन चरम सत्यों और आचार-विचार का प्रादुर्भाव मनुष्य के प्रबुद्ध अन्तर्ज्ञान, तर्कसंगत अनुभूति तथा इन्द्रियजन्य वस्तुबोध से होता है : इस प्रकार धर्म में मानव जीवन के श्रेष्ठतम तत्वों और सर्वोच्च आचार-विचार का अतिशय सम्मिश्रण पाया जाता है। उच्च धरातल पर स्थित यह अन्तश्चेतना और जागृत अनुभूति आत्मा को एक ऐसी अवस्था में केन्द्रित कर देती है जो ईश्वरत्व के साक्षात्कार का संकेत देती है। परमात्मा की ओर अग्रसर करने वाली आत्मा की इस अवस्था का तर्क या इन्द्रियगम्य अनुभूति के जरिये व्याख्यान नहीं किया जा सकता। संक्षेप में इतना कथन ही पर्याप्त है कि धर्म प्रबुद्ध अन्तश्चेतना, सद्विवेक और श्रेष्ठ आचार-विचार के सम्मिश्रण से उत्पन्न एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें आत्म स्वानुभूत प्रयोगों के जरिये परमात्मा बन जाता है।

धर्म की लौकिक कसौटी यह है कि यह हमारे जीवन का व्यावहारिक विधान और हमारी प्रकृति का गहनतम नियम साथ-साथ है। धर्म केवल नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था को प्रेरित करने वाला मत, पद्धति या आदर्श मात्र नहीं है, प्रत्युत यह हमारे जीवन-व्यवहारों के सभी अंगों को अनुप्राणित करता है। वे प्रवृत्तियां जो मनुष्य को न्यायोचित तथा शुद्ध जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करती है स्वभावतः धर्म का अनिवार्य अंग बन जाती है। इस प्रकार धर्म हमारे लिये एक वास्तविक आवश्यकता है, काल्पनिक आदर्श नहीं। प्रकृति-प्रदत्त जीवन का कार्यकारी विधान होने के कारण धर्म समाज के सभी सदस्यों के लिये आदर्श जीवन-व्यवहार की व्याख्या करने वाला सचेतन प्रयत्न है।

यद्यपि हर एक व्यक्ति का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है, अतएव एक ही तरह की अपरिवर्तनीय और सुनिश्चित व्यवस्था से उसके जीवन-व्यवहार को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। फिरभी, सभी प्राणियों में कुछ सामान्य तत्व पाये जाते हैं और उनके आधार पर जीवन के व्यवहार तथा आदर्शों को अवश्य तय किया

जा सकता है । इस दृष्टि से धर्म एक ऐसी व्यवस्था है जो विकास के लिये मनुष्य के मन तथा मस्तिष्क को परिपूर्ण आदर्श प्रदान करती है । यह आदर्श है—वैज्ञानिक और विवेकयुक्त मस्तिष्क का निर्माण, गहनरूप से धार्मिक तथा व्यवहार कुशल चैतन्य का उद्बोध, सुनिश्चित किन्तु आवश्यकता के अनुसार परिवर्तनीय जीवन-व्यवस्था, धैर्य सम्पन्न तथा जीवन की कठिनाइयों एवं मानवीय कमजोरियों के प्रति सहिष्णु आत्मत्व की उपलब्धि एवं अनुशासित आचार-विचार ।

भारतवासियों का यह विश्वास है कि प्राणी जगत् केवल इस भूमण्डल पर ही व्याप्त नहीं है अपितु स्वर्गिक और नारकीय अवस्थिति से भी इसका गूढ़ संबंध है । परमात्मा के अलौकिक स्वरूप की खोज करते-करते उन्होंने यह तत्व ढूंढ़ निकाला कि स्वर्ग, मर्त्य और नरक इन तीनों लोकों के बीच में एक विशिष्ट अनुरूपता है तथा आत्म द्रव्य इन सभी में सर्वत्र विद्यमान है । इन तीनों ही लोकों में प्राणियों की शक्तियों का अबाध आदान-प्रदान चल रहा है ताकि परमशक्ति के अनुरूप विस्तृत जीवन का विकास करने के लिये एकता को स्थापित किया जा सके । हाँ, आत्मा और परमात्मा के एकीकरण का केन्द्र स्थान यह मर्त्यलोक ही है ।

भारतवासियों का दूसरा विश्वास यह है कि प्राणी-जगत् के रहस्य में यह तत्व छिपा हुआ है कि इसमें सत्य और असत्य, नित्यत्व, और अनित्यत्व, प्रकाश और अंधकार जैसे परस्पर विरोधी स्वरूप एक साथ विद्यमान है, किन्तु जीवन की गति सत्य, अमरत्व और प्रकाश की ओर है ताकि अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत दर्शन युक्त स्थिति उसे प्राप्त हो सके ।

अतएव भारतवासियों के लिये धर्म एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके जरिये मनुष्य की विविध वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृत्तियों को प्रभावशाली ढंग से उत्तरोत्तर शुद्ध और लोकमंगल के उन्मुख बनाया जाता है । इस प्रक्रिया में ऐसी अनेक स्थितियां है जहां पर मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों से अनुभव प्राप्त करके शक्ति-संचय के अनुसार स्व-परकल्याण के कार्य करता है । शुद्धीकरण की इस प्रक्रिया में उसकी अवनति भी उसे नया जीवन प्रारम्भ करने के लिये अनंत पथयात्रा में पाथेय प्रदान करती है । सच बात तो यह है कि उत्तरोत्तर समृद्ध और शक्ति सम्पन्न जीवनयापन की दिशा में, उत्थान और पतन मनुष्य की धार्मिक तैयारी को ही परिलक्षित करते हैं तथा प्रगति के घुमावदार पथ में धार्मिक उतार-चढ़ावों को व्यक्त करने वाले पथचिह्नों का परिचय देते है । अतएव इसमे कोई सन्देह नहीं है कि धार्मिकता न केवल व्यक्ति के विकास का पथ-प्रदर्शन करती है, वरन् संसार की कई बुराइयों को भी समाप्त कर सकती है । कई सामाजिक बुराइयों के विस्तार को रोकने की क्षमता इसमें है, सामाजिक चेतनाशक्ति में प्राण फूंकने की ताकत इसमे है एवं व्यक्तियों के मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य को सुधारने की सामर्थ्य इसमें है ।

फिरभी, धार्मिकता सभी बुराइयों को दूर कर सकने में असमर्थ रही है, इसकी प्राणसंचार की सामर्थ्य कुंठित रही है, तथा कई विषाक्त तत्वों के सम्मिश्रण से इसकी रोगनाशक शक्ति क्षीण हो गई है । फलतः संसार में सुख तथा शांति स्थापित करने मे धार्मिकता असफल सिद्ध हुई है । इतिहास साक्षी है कि जो धर्म जितना प्रभावशाली और विशाल रहा है उसने उतना ही अधिक रक्तपात कर जन जीवन का संहार किया है । जो जमाना धार्मिक वातावरण में जितना ओतप्रोत और साधु-संतों से जितना अधिक व्याप्त रहा है वह युद्ध की विभीषिका तथा नरबलि से भी उतना ही अधिक संतप्त रहा है । हिंसा का उत्पात धार्मिक और अधार्मिक सभी समाजों में प्रायः समान रहा है । सुख तथा शांति की सुविधा की दृष्टि से वर्तमान बीसवीं सदी को सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है, फिरभी मानव समाज के इतिहास में जितना संहार इस सदी में हुआ है वह अकल्पित है । मनुष्यों में मानवीयता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, युद्ध की विभीषिका भी उतनी ही विकराल होती चली जाती है । लगता है जैसे संसार सर्वनाश के किनारे पर खड़ा है, जैसे धर्म और अधर्म कल्पनाविलास मात्र है, जैसे धर्म से शांति की कल्पना एक मिथ्या उपचार हैं एवं जो लोग इसका गुणगान करते है वे "नीम हकीम खतरे जान" से अधिक नहीं हैं । लोगों का यह विश्वास दृढ़

से दृढ़तर होता चला जा रहा है कि यद्यपि संसार का हर नया पंथ दुर्दशाग्रस्त संसारी जनों के लाभार्थ उच्चतम आशाओं और महानतम संभावनाओं के वातावरण में प्रस्फुटित हुआ है; फिरभी, कुछ ही वर्षों के उपरान्त वह निर्वीर्य होकर अंधकाराच्छन्न भी हो गया है। कुछ लोग यह भी कहते हुए पाये जाते है कि यद्यपि धर्म मानवीय विवेक का उच्चतम आधार है, किन्तु संसार के प्रत्येक धर्म का उदय गर्भपतित बालक की भांति हुआ है धार्मिक श्रद्धा की महामारी मे न मालूम कितने नीम-हकीम सुधारक पाखण्ड को बांट-बांट कर अपने जेबें गरम कर चुके है और आज भी गरम कर रहे है। ऐसे धार्मिक प्रतिनिधि विश्वासघाती है, क्रूरता के नग्न उपासक हैं एवं शून्यता के प्रतीक हैं।

छान बीन करने पर उपर्युक्त आक्षेपों में निहित सचाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। विश्व इतिहास यह भी बतलाता है कि संसार मे जो भी बड़ी-बड़ी संस्कृतियां उत्पन्न हुई उनका मूलाधार धर्म हो रहा है। किंतु, धर्म बदलती हुई परिस्थितियों, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और प्रगतिशील विचार धाराओं के अनुसार अपने बाह्य रूप मे परिवर्तन नही कर सका। फलतः वह कालान्तर मे पुराना पड़ गया और धीरे-धीरे उसका कल्याणकारी सामर्थ्य क्षीण होता चला गया। धर्म की शक्ति क्षीण होते ही संस्कृतियों का सामर्थ्य भी लुप्त होता चला गया। प्रगतिशील वैज्ञानिक विचार धारा और स्वकीय ऐतिहासिक परम्परा के परस्पर सम्मिश्रण का अभाव वस्तुतः संसार के सभी धर्मों की एक बहुत बड़ी कमजोरी रही है। इस कमजोरी का मुख्य कारण धर्मों मे आध्यात्मिकता का अभाव या ह्रास रहा है। आध्यात्मिक सामर्थ्य के अभाव में धर्म प्रायः आदर्श जीवन की नीति मात्र बन कर रह गये है; जीवन के अभिन्न और अपरिहार्य अंग नहीं।

यहाँ पर आध्यात्मिकता की पाण्डित्यपूर्ण परिभाषा करने की आवश्यकता नही है। हम अपने दैनिक कार्य-व्यापार मे लोगों के व्यवहार को देख कर यह अनुमान सहज ही लगा सकते है कि कौनसा कार्य आध्यात्मिक है और कौनसा नही। सामान्यतया हमें यह अनुभव करने मे कठिनाई नहीं होती कि केवल स्वार्थवश किया गया कार्य आध्यात्म में अन्तर्भूत नहीं होता। स्वार्थ-साधना से ऊपर उठ कर लोकहित की दृष्टि से किये गये कार्य अध्यात्म मे समाविष्ठ होते है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परोपकार की भावना अध्यात्म का मूलाधार है।

उदाहरणार्थ, यह सभी जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्ग के सदस्यों के प्रति थोड़ी-बहुत परोपकारी वृत्ति दर्शाये बिना जीवित नहीं रह सकता। यदि नव जात शिशुओं का माताएं लालन-पालन न करें तो उनका जिंदा रहना सम्भव नही है, और उनकी मृत्यु से उनके वर्ग की समाप्ति ही हो जायगी। उनका पालन-पोषण भी सदा सुखद नही होता, कभी-कभी तो इसका प्रतिफल हानि कारक भी हो जाता है। उसी प्रकार, यदि बीमारों, अपंग और वृद्ध व्यक्तियों की सेवा भावना से परिचर्या न की जाय तो उनका जीवित बच सकना भी अशक्य है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, दया और करुणा की भावनाओं पर ही संसार जीवित है। केवल स्वार्थपूर्ण भावनाओं के आधार पर ही कोई भी समाज जिंदा नहीं रह सकता। केवल स्वार्थसाधक सदस्य शांतिपूर्ण, सुखी और निर्माणकारी समाज को रचना नही कर सकते। यदि मनुष्यों में पारस्परिक सहानुभूति और कर्तव्य-भावना न हो तो इसका अंत निरन्तर संघर्ष में ही हो सकता है। ऐसी स्थिति मे केवल संदेह, अविश्वास और पारस्परिक षड़यंत्र तथा छीना झपटी की फसल ही उग सकती है। ऐसी स्थिति मे "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत जन जीवन का सामान्य नियम बन जाएगा। एक सुखी, शांत और समृद्ध समाज की कल्पना तभी की जा सकती है जबकि इसके सदस्यों में न्यूनतम मात्रा में प्रेम, सहानुभूति, दया और सेवा की भावना मौजूद हो। इसके बिना पारस्परिक सहकार, सद्भावना और भलाई सम्भव नही है। एक सुखी समाज मे सदस्य परस्पर संगठित होते हैं और "अहं" का त्याग कर सामूहिक रूप से "हम" के जरिये भावाभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी स्थिति में उनके सुख-दुख की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत

न होकर सामूहिक बन जाती है। इस प्रकार के समाज का प्रत्येक सदस्य एक अलग-थलग इकाई न होकर निर्माणकारी समाज का अभिन्न अंग होता है। इस प्रकार के वातावरण मे प्रत्येक सदस्य हँसते-हँसते अपने उत्तर-दायित्व का पालन करता है, सहज ही बड़े-से-बड़े बोझ को ढो लेता है, प्रयोजनपूर्ण जीवन व्यतीत करता है और शांतिपूर्ण तथा सुखद वातावरण सर्वत्र व्याप्त रहता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि मानवीयता के विकास में आध्यात्मिकता एक विशिष्ट प्रकार की सर्जन-शक्ति है। विज्ञान, दर्शन और कला में प्रतिभासित होने वाले अनुभूति प्रधान जीवन-सत्यों की तुलना मे यह नैतिकता प्रधान सत्यो के साक्षात्कार पर अधिक जोर देती है। संसार के सभी आध्यात्मिक संत-प्रमुख वैज्ञानिको, दार्शनिको और कलाकारो की भांति ही-मानवीय श्रेष्ठता के क्षेत्र में सर्जनहार महान् व्यक्ति हुए है। यह आध्या-त्मिक साधना भी-अन्य साधनाओं की ही तरह-सतत प्रयत्नसाध्य है। अन्य क्षेत्रो मे महान् प्रयत्नों के बाद विश्राम संभव है; किन्तु आध्यात्मिक पथ का पथिक एक बार इस मार्ग पर चल कर रुकना नहीं जानता। आध्या-त्म साधना का पथ अनेक प्रकार के कष्टों, निराशाओं, असफलताओ और अग्निपरीक्षाओं से परिव्याप्त होने पर भी आनंदहीन, शुष्क तथा अंधकारपूर्ण नहीं है। वस्तुतः अध्यात्मवादी व्यक्ति के लिये यही क्षण असीम आनंदा-नुभूति और विशुद्ध सर्जकता के क्षण है। अध्यात्म का सच्चा साधक किसी भी मूल्य पर इन साधनापूर्वक क्षणो का सौदा करने के लिये तैयार नहीं हो सकता।

आध्यात्मिकता का उद्देश्य उस परम सत्य का साक्षात्कार करना है जो ऋद्धि-सिद्धि और धन-संपदा से परे है, जो प्राणीमात्र के प्रति समताभाव जाग्रत करता है एवं जो प्रत्येक जीवात्मा के प्रति आदर बुद्धि उत्पन्न करता है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक वातावरण एवं समूचे विश्व के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित करके आत्म शक्ति में निस्पृहतामूलक परिवर्तन उत्पन्न करता है। अतएव आध्यात्मिक प्रक्रिया सर्वथा विशुद्ध होती है। आध्यात्मिक व्यवहार केवल आध्यात्मिकता के लिये ही किये जाते है, सुखाभिलाषा या उपयोगिता उनका उद्देश्य नही होता। उदाहरणार्थ, हम अपने जीवन मे सच्ची मित्रता और मित्रताभास में अंतर करते हैं। सच्ची मित्रता का मूलाधार परोपकार वृत्ति है और यह अपने आप में परिपूर्ण है। मित्रताभास में एक व्यक्ति दूसरे को केवल मित्रता के लिये नही चाहता वरन् उसकी उपयोगिता या उससे अभिलाषा पूर्ति की कामना ही संबंध स्थापित करने की मूलधार होती है। यदि मित्र की उपयोगिता या मनोकामना पूर्ण करने की क्षमता समाप्त हो जाय तो मित्रता का भी अंत हो जाता है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी, सच्ची मित्रता की तरह, निस्पृह और कल्याणकारी होती है। आध्यात्मिकता से परिपूर्ण स्थिति मे शत्रुओं से भी प्यार किया जाता है, घृणा करने वालो का भी भला किया जाता है, अभिशाप देने वालों को भी आशीर्वाद दिया जाता है और हिंसकों को भी अहिंसा का वरदान दिया जाता है। अध्यात्म-साधना की इससे बड़ी परिभाषा और क्या हो सकती है कि मनुष्य प्राणी मात्र को अपना मित्र समझे, गुणी जनों को देखकर आह्लादित होना सीख ले, क्लिष्ट प्राणियो की सेवा करना सीख ले, विपरीतवृत्ति वालों के साथ तटस्थता से रहना सीख ले और चोट पहुंचाने वालो के साथ भी सहिष्णुता दर्शाना सीख ले। सच बात तो यह है कि सर्वोदयीकरण ही अध्यात्म साधना मे अभीष्ट है। यह आजकल प्रचलित अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण वाली लोकतंत्री भावना से सर्वथा विपरीत है। बहु-संख्यक समाज का उत्कर्ष एवं कल्याण अध्यात्मवादी दृष्टि नहीं है, अपितु प्रत्येक जीवात्मा का कल्याण ही इसकी विषयवस्तु है।

किंतु संकुचित और एकांगी दृष्टिकोण के साथ आध्यात्मिकता का तालमेल किसी भी प्रकार नही बैठ सकता। संकोच और एकांगता में स्वार्थवासना ही पनप सकती है, कल्याण मूलक आध्यात्मिक प्रवृत्ति नहीं। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण, वस्तुतः अध्यात्मवाद का प्राणस्थल है। अनेकान्तवादी दृष्टि की तुलना जननी माता के साथ की जा सकती है जो अपने सभी परस्पर

सहयोगी या विरोधी पुत्रों को समानुरूप से स्नेह प्रदान कर नि:स्वार्थभाव से पालन-पोषण करती है । इसके प्रभाव में सभी शक्तियां और विचार निराकुलतापूर्वक तथा स्वतंत्रतापूर्वक प्रश्रय पाते हैं । सभी शक्तियां अपने अपने प्रकाश का विस्तार तो करती हैं पर उनमें कहीं कोई संकोच नहीं है, कहीं कोई मनोमालिन्य नहीं है, कहीं कोई प्रतिद्वंदिता नहीं है एवं, अपने-अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी सभी मे एक दूसरे के साथ सम्मिलन, समीकरण और एकीकरण की भावना पाई जाती है । यह एक प्रेम का सौदा है जो आदि से अंत तक और जीवन के हर स्वरूपों में उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता जाता है । यह प्रेम-व्यापार स्फटिक की भांति विशुद्ध है, मेमने की तरह सौम्य है, सिंह की तरह वीर्यवान है और नैतिक भी त्रुटि के प्रति विजयी योद्धा की तरह प्रचण्ड है ।

यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि साधना की तरतमता के अनुपात मे आध्यात्मिकता को भी अनेक भागों में बांटा जा सकता है । आध्यात्मिक उत्कर्ष की श्रेणी में सबसे ऊपर वे व्यक्ति हैं जिनकी करुणा का विस्तार अनंत है, जिनका व्यक्तित्व समग्र विश्व के साथ मिलकर तदाकार हो गया है, जिनकी भूतदया की तीव्रता सर्वोत्कृष्ट है, जिनका विश्वप्रेम सर्वोत्तम विवेक तथा सर्वश्रेष्ठ निर्माण शक्ति पर आधारित है, जिनके व्यवहारो का प्रेरणास्त्र केवल विश्वकल्याण है एवं अतीत, वर्तमान तथा भविष्य जिनकी कल्याण भावना से ओतप्रोत हैं । अर्हत्, तीर्थंकर अवतार, पैगम्बर, शास्ता इसी कोटि के महापुरुष हैं । इसके विपरीत, सबसे निचली सतह पर वे प्राणी है जिनमें काम, क्रोध, मान, मोह माया, लोभ जैसे दुर्गुण भरे हुए हैं । ये अध्यात्मविरोधी या स्वार्थसाधक प्राणी हैं जिनमे परोपकार-वृत्ति का अभाव है । इन दो छोरो के बीच में आध्यात्मिक लोगों की अनेक श्रेणियां हैं ।

अध्यात्म विरोधी स्थिति के ऊपर अनाध्यात्मिकता की अवस्था है । यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें आध्यात्मिकता का विरोध तो नहीं है किन्तु जिसमें आध्यात्मिकता की विशेषताएं भी नहीं पाई जाती । उदाहरणार्थ, मानव समाज मे ऐसे भी व्यक्ति पाये जाते हैं जो ऊपर से समग्र मानवता के प्रति प्रेम तो प्रदर्शित करते हैं किंतु जिनमें प्राणी दयामूलक मानवीय भावनायें नहीं पाई जाती । उनका मानवता-प्रेम इतना शिथिल, कमजोर और उथला होता है तथा इतनी कम मात्रा में प्रयुक्त होता है कि इसे आध्यात्मिकता की अपेक्षा अनाध्यात्मिक उदासीनता कहना ही उपयुक्त होगा । वे न तो मानवता-प्रेम के लिये अत्यधिक उत्सुक होते है और न अत्यधिक उदासीन । वे एक तरह से स्वार्थ और न्यूनतम आध्यात्मिकता को मिलाने वाली सीमांत रेखा पर बैठे हैं । इस प्रकार के व्यक्ति साधारणतया समाज सम्मत कानून का पालन करने वाले होते है । इनमें वे व्यक्ति भी शामिल हैं जो सार्वजनिक कार्यकर्ता या सरकारी कर्मचारी होने के कारण सहायता कार्य तो करते है किंतु इसके लिये वे पारश्रमिक या वेतन लेते है । ऐसे व्यक्ति ईमानदार, सदाचारी, न्यायपरायण और जिम्मेदार नागरिक तो हो सकते है, किन्तु उन्हें आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि कुर्की करना, मांसाहार गिरवी रखना, दास रखना या किसी व्यक्ति को और किसी तरह क्षति या पीड़ा पहुंचाना जैसे कार्य कानून-सम्मत हों तो उनके करने मे उन्हें कोई बुराई नहीं दीखती ।

आध्यात्मिक उदासीनता से कुछ ऊंची सीमान्त आध्यात्मिकता की स्थिति है । इस स्थिति में व्यक्ति अपने वैध अधिकारो का इस प्रकार प्रयोग करता है और अपने वैध कर्तव्यों का इस प्रकार पालन करता है जिससे किसी को कोई हानि नहीं पहुंचे तथा दूसरों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का कोई उल्लंघन न हो ! समाज-व्यवस्था की दृष्टि से बनाये गये कायदे-कानूनों से यह कुछ अधिक ऊंची स्थिति है । यह सीमान्त स्थिति इसलिये है कि इसे वैध उपायो के जरिये सामाजिक सीमाओं के भीतर अनिवार्यरूप से बांध दिया गया है । इस सीमा उल्लंघन करने पर कानून में नाना प्रकार के दण्डों का विधान किया गया है । अतएव वैधानिक व्यवहार न तो स्वार्थ-मूलक होते है और न परोपकार मूलक । वैधानिक व्यवहार में जीवदया, प्राणीप्रेम और सदाशयता जैसे

तत्व नहीं पाये जाते । फलतः आध्यात्मिकता का उदय समाजव्यवस्था में संबंधित कानूनी आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त ही होता है । अर्थात् जब एक व्यक्ति स्वेच्छा से अन्य व्यक्तियों के हितार्थ अपने अधिकार-पूर्ण हितों का बलिदान करने के लिये तत्पर हो जाता है, कानून द्वारा जब हानि पहुंचाना उपयुक्त होते हुए भी वह दूसरों को कोई हानि नहीं पहुंचाता और, कानून द्वारा बाध्य न होते हुए भी जब वह हर संभव उपाय में सहायता पहुंचाने को तत्पर रहता है तो यह कहा जा सकता है कि उसमें आध्यात्मिकता का उदय हो रहा है। अतएव यह स्पष्ट है कि सामाजिक-कानूनी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद ही आध्यात्मिकता संभव है। वैध व्यवहार एक अनिवार्य सामाजिक व्यवहार है, जबकि आध्यात्मिक व्यवहार किसी भी प्रकार की जोर-जबरदस्ती या अनिवार्यता से सर्वथा मुक्त है। इसे स्वेच्छा से अंगीकार किया जाता है और यह स्वेच्छापूर्ण व्यवहार का शुद्धतम स्वरूप है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक विज्ञानवादी दृष्टिकोण अध्यात्म के सीमांत से आगे नहीं जाता। यदि कोई व्यक्ति विवेकपूर्वक स्वार्थसाधन करता है या विशेष हानि न पहुंचाते हुए दूसरों के हितों पर आघात पहुंचाता है तो आधुनिक दृष्टि को यह स्वीकृत है। किंतु, अध्यात्मीकरण की प्रक्रिया इससे सर्वथा भिन्न है। यह ऐसी साधना है जिसमें मनुष्य अपनी शारीरिक इच्छाओं तथा मनो-व्यापारों की प्रबुद्ध चेतनाशक्ति से नियंत्रित कर देता है एवं शरीर और चेतना को परमचेतना के अधीन कर देता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोग आध्यात्मिकता का उपदेश तो देते हैं किंतु तदनुसार आचरण नहीं करते । यह आध्यात्मिकता भास या ढोंगी आध्यात्मिकता की स्थिति है और लोगों को बेवकूफ बनाना ही इसका मुख्य उद्देश होता है। शुद्ध आध्यात्मिकता में मन, वचन और कर्म में कोई अंतर नहीं होता ।

जब आध्यात्मिक व्यवहारों को स्वेच्छा से केवल आध्यात्मिकता के लिये ही किया जाता है तो यह शुद्ध आध्यात्मिकता है । इसके विपरीत, जब उन्हें उपयोगिता या अभिलाषा-पूर्ति के निमित्त किया जाता है तो वे अशुद्ध आध्यात्मिकता के रूप हैं। यद्यपि शुद्ध आध्यात्मिक व्यवहारों में किंचित् अभिलाषा या उपयोगिता की प्रच्छन्न भावना पाई जाती है किंतु यह व्यवहार का मूलाधार नहीं होती । यदि आत्मपीड़न या हानि हो तो भी शुद्ध आध्यात्मिक व्यवहार किये जाते हैं ।

आध्यात्मिक व्यवहार विवेकपूर्ण और अविवेकपूर्ण भी होते हैं । विवेकपूर्ण आध्यात्मिक व्यवहार निर्माण-कारी होते है और उनमे अन्य पक्ष को कष्ट या हानि पहुंचाने की भावना बिलकुल नहीं होती । इस प्रकार के कार्य-व्यवहारों मे साध्य और साधन दोनों ही आध्यात्मिक होते हैं । अविवेकपूर्ण आध्यात्मिकता में, इसके विपरीत, साध्य तो आध्यात्मिक होता है किंतु साधन नहीं । अविवेकपूर्ण आध्यात्मिक व्यवहार अंधी आत्म-परक स्नेहासक्ति के उद्रेक का परिणाम होते हैं और इनमे अन्य पक्ष को कष्ट या हानि पहुँचती है । उदाहरणार्थ, अंधे प्यार के वशीभूत होकर अपनी सन्तान का भला चाहने वाली मां सन्तान की सभी सार्थक और निरर्थक आवश्यकताओं को पूरा करके उसका जीवन बरबाद कर सकती है। उसी प्रकार, यदि स्वामिभक्त बन्दर को मालिक की रक्षा करने के लिये तलवार दे दी जाय तो उसका उपयोग वह स्वामी के विरुद्ध भी कर सकता है । अविवेकपूर्ण आध्यात्मिक व्यवहारों मे अभिप्राय यद्यपि पवित्र और परोपकारपूर्ण होता है किंतु जिन साधनों का अवलम्बन लिया जाता है उनका परिणाम अन्य पक्ष को हानिकारक होता है ।

आध्यात्मिकता का क्षेत्र भी व्यक्तिविशेष की साधना के अनुसार विस्तृत या संकुचित हो सकता है । एक व्यक्ति का आध्यात्मिक व्यवहार कुछ थोड़े से व्यक्तियों तक सीमित हो सकता है और समाज के अन्य सदस्यों के प्रति अध्यात्मविरोधी या अनाध्यात्मिक हो सकता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिकता का विस्तार समस्त प्राणीजगत् तक विस्तृत भी हो सकता है । इस प्रकार आध्यात्मिकता का विस्तार अत्यंत संकीर्ण और असीम भी हो सकता है ।

उसी प्रकार आध्यात्मिकता की तीव्रता में भी अंतर पाया जाता है। यह तीव्रता केवल मौखिक सहानुभूति से लेकर विश्वबंधुत्व की सीमा तक व्याप्त हो सकती है। प्रारंभ में सुखाभिलाषा या उपयोगिता या वैयक्तिक लाभ की इच्छा ही इसके प्रमुख कारण होते है जो बढ़ते बढ़ते असीम, सर्वस्वदान, सर्वस्व समर्पण और सब प्राणियों से क्षमायाचना तक पहुंच जाते है। तीव्रता के इन दो छोरो के बीच में आध्यात्मिकता के अनेक रूप हो सकते है; जैसे—मित्रभाव, दया, कृपा, शुभाकांक्षा, करुणा, अनुग्रह, निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा, प्रशसा, आदर, पूज्यता, प्रगाढ़ श्रद्धा, इत्यादि। उसी प्रकार, आध्यात्मिकता क्षणिक भी हो सकती है और अनंतकालिक भी साथ ही, शुद्धता की मात्रा के अनुसार भी आध्यात्मिकता का श्रेणीविभाजन किया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिकता का अंत आध्यात्मिकता स्वयं है। सफलता और प्रतिस्पर्धा के तत्व इसमे नही पाये जाते। अभिमान और स्वकीय श्रेष्ठता की भावनाओ से यह सर्वथा रहित है। इसमे विनम्रता और सदाशयता का वातावरण सर्वत्र व्याप्त रहता है। आध्यात्मिक पुरुष लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही स्वेच्छा से यथासाध्य कार्य करते है, इसके लिये उन्हें अनिवार्य वैध और समाजसम्मत आज्ञाओं को लेने की जरूरत नहीं है, न वे पुरस्कार-प्राप्ति की इच्छा से कार्य करते है और न दण्डित होने के भय से, न उनमे विजय की आकांक्षा होती है और न हार की ग्लानि, वे न यशः प्राप्ति की लालसा से पीड़ित होते हैं और न अप्रियता का डर ही उन्हें सताता है। आध्यात्मिकता वह सेतु है जहा आत्मा और परमात्मा, एकता और अनेकता, दुःख और सुख, संसार और मोक्ष तथा निवृत्ति और प्रवृत्ति परस्पर मिलकर एकाकार हो जाते हैं। ईश्वरत्व का मानवीयकरण, मानवीयता का दैवीकरण, प्राणी में आस्था, अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि, अंधश्रद्धा का अभाव, तर्कसम्मत विवेकशीलता, परीक्षा-प्रधान जीवन-प्रवृत्ति और परम्परा तथा प्रगतिशीलता का समामेलन—ये कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे आध्यात्मिक व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा लोकमंगल का निर्माण होता है। वस्तुतः प्रत्येक आध्यात्मिक व्यक्ति संसार व्यापी प्रयोगशाला मे जीवन के परम सत्यों की खोज मे लगा हुआ वैज्ञानिक है। इस प्रकार के महापुरुष हमारी अर्चना-वन्दना के पात्र होने ही चाहिये।

× × ×

आध्यात्मिकता का कलात्मक ढंग से प्रस्फुटन धर्म में होता है। धर्म आध्यात्मिकता को विकसित करने के लिये सहकारी संगठन प्रदान करता है। यह धार्मिक संगठन भी प्रतिस्पर्धी तत्वों से सर्वथा मुक्त है, इससे विशाल पैमाने पर समूहान्तर्गत आध्यात्मिकता के साथ-साथ समूह-बाह्य आध्यात्मिकता पाई जाती है, इसमे आध्यात्मिकता का प्रदर्शन आत्यंतिक तीव्रता, पूर्ण विशुद्धता, सर्वोत्तम मानवता-प्रेम तथा असीम लोक कल्याण के रूप में होता है। सच बात तो यह है कि समग्र धर्म का मापदण्ड ही आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता के बिना धर्म थोथा है, विनाशक साम्प्रदायिकता है और संकीर्णता तथा क्षुद्रता का पतनोन्मुख प्रवेश-द्वार है।

किन्तु, महान संस्कृति का निर्माण करने के लिए नाना प्रकार के धर्मो का सद्भाव अवश्यक है। मानव जाति के नानाविध मूल्यों, आचार-विचारों, नैतिक-सामाजिक आदर्शों और प्रादेशिक विषमताओं का अन्तर्भाव एक ही धर्म मे नही किया जा सकता। जिस तरह एक ही भाव को नाना प्रकार की भाषाओं और मुहावरों में व्यक्त किया जा सकता है, उसी तरह मानवता के नैतिकतावादी आदर्श का आख्यान भी अनेक प्रकार की धार्मिक संस्थाओं के जरिये किया जाना चाहिये। नाना प्रकार के धर्मों, पंथो और धर्म-संस्थाओ की उत्पत्ति का रहस्य भी यही है। सभी धर्म अपनी-अपनी भाषा मे एक ही अध्यात्मवादी नैतिक तत्व का निरूपण करते है। प्रत्येक धर्म मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ता है, संस्कृति के विकास में सृजनशील शक्तियां और स्थितियां उत्पन्न करता है तथा नैतिक-सामाजिक जीवन में आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन देता है।

यह मानव समाज का दुर्भाग्य है कि वर्तमान काल में धर्म संस्थाओं मे आध्यात्मिक तत्वों का उत्तरोत्तर

ह्रास होता जा रहा है । आध्यात्मिकता के अभाव में वे परम्पराप्रिय और रूढ़िवादी संस्थायें मात्र बनकर रह गई है, समन्वय और सहकार के स्थान पर वे सामाजिक उच्छेद का साधन बन गई हैं, प्रगतिशील तत्वों की अवहेलना से उनकी नैतिक शक्ति कुंठित हो गई है तथा कर्मकांडी अंधविश्वासों का पिटारा बन कर रह गई है, एवं भावी पीढ़ियों को मार्गदर्शन करने की उनकी सामर्थ्य क्षीण हो गई है । आध्यात्मिकता और धार्मिकता का पुनर्गठन आज समय की सबसे बड़ी मांग है । हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि धार्मिकता की प्राणप्रतिष्ठा आध्यात्मिकता से ही होती है । धार्मिकता विश्व-कल्याण तथा व्यक्तित्व के विकास का नैतिकता मूलक तंत्र है जबकि आध्यात्मिकता उसका मंत्र, धार्मिकता वर्गविशेष की ऐतिहासिक परंपरा है जबकि आध्यात्मिकता वर्तमान और भविष्य को अनुप्राणित करने वाली प्रगतिशीलता, आध्यात्मिकता साध्य है जबकि धार्मिकता साधन । आध्यात्मिकता मनुष्य के वैयक्तिक उत्कर्ष का परीक्षण करती है जबकि धार्मिकता उन परीक्षणों को सामाजिक चेतना के विकास में प्रयुक्त करती है । एवं आध्यात्मिकता जहां धर्म का मापदण्ड है धर्म आध्यात्मिकता की उर्वरा भूमि । इस कथन में दो मत नहीं हो सकते कि वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक और मानवीय उत्कर्ष के लिये तथा जीवन में सुख और शांति की सृष्टि करने के लिये आज आध्यात्मिक तत्वों के प्रसार तथा परिष्कार की नितान्त आवश्यकता है ।

किन्तु, यह तभी संभव है जबकि मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन, उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं तथा धार्मिक दृष्टिकोणों में उपयुक्त परिवर्तन हो । इसके लिये लोगों के दिल और दिमागों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है । इस तरह की क्रांति में किसी प्रकार की जोर जबरदस्ती या हिंसात्मक साधनों को अपनाने की जरूरत नहीं है । यह परिवर्तन व्यवस्थित ढंग से तथा शांतिमय उपायों से किया जा सकता है । यदि मनुष्यों की प्रेरणा शक्ति, विचारधारा, अनुभूति और विवेक में उपयुक्त परिवर्तन किया जा सका तो सफलता मिलने में कोई संशय नहीं है । यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी बाहरी दबाव से मनोवांछित प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता, फिर चाहे भले ही साधु-संत-महात्माओं के जरिये ही जबरदस्ती क्यों न करवाई जाय । हिंसात्मक क्रान्तियां और युद्ध विनाशकारी तथा विध्वंसक प्रवृत्तियों के परिचायक है । घृणा, हिंसा और रक्तपात बदले में घृणा, हिंसा और रक्तपात को ही उत्पन्न करते हैं । सनातन काल से यही नियम चला आया है और अनंतकाल तक यही चलता रहेगा । युद्ध और क्लेश से संत्रस्त इस विश्व में यदि बीच-बीच में शांति और सर्जन नशील तथा रचनात्मक उपायों का सिलसिला दिखलाई देता है तो यह मानव के शांति-प्रयत्नों, अध्यात्मवादी प्रवृत्तियों और मानवतावादी निष्ठा का ही वरदान है ।

जैन जाति दया के लिए खास प्रसिद्ध है, और दया के लिये हजारों रुपया खर्च करती हैं । जैनी पहले क्षत्री थे, यह उनके चेहरे व नाम से भी जाना जाता है । जैनी अधिक शान्ति प्रिय हैं ।

जैन हितेच्छु पुस्तक १६ अङ्क ११ में से ।

—श्री आटोरोय पि.ह३ सा० कलेक्टर

संवत्सरी पर्व का सांस्कृतिक महत्व

• बद्रीप्रशाद पंचोली
मदनगंज किशनगढ़

अपने अपने समाज और सभ्यता के अनुसार किसी वस्तु को देखने की जिसी जाति या राष्ट्र की अपनी आंखें होती हैं। भारत में भी श्रद्धा व तप को केन्द्र मान कर जीवन यापन के लिए स्वतंत्र दृष्टिकोण का विकास हुआ है व तप से भारतीय स्वयं को वत्स के रूप में ढालता है व श्रद्धा से विश्वचेतना से पोषण प्राप्त करता है। संवत्सरी तपोमय जीवन के अभ्यास द्वारा मन को वत्सवत् संयत करके विश्वात्मक भाग का वात्सल्य प्राप्त करने के लिए मनाया जाने वाला उत्सव है।

श्रद्धा और तप भारतीय जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषताएँ है। वैदिक, जैन व बौद्ध-तीनों परंपराओं में इनका स्थान असंदिग्ध है। भगवान बुद्ध ने अध्यात्म-कृषि के लिए श्रद्धा को बीज तथा तप को वृष्टि (सद्धा बीजं तपो वुट्ठि)[1] कहा है। ऋग्वेद में श्रद्धा को सम्पत्ति का शीर्ष, प्रार्थितफलदात्री व उपासना करने योग्य[2] कहा गया गया है। गीता में यो यच्छ्रद्ध स एव सः' कह कर श्रद्धा को सर्वोपरि माना गया है। इसी तरह तप से स्वर्ग जाने की बात भी कही गई है[3]। सत्य, ऋत, ब्रह्म, यज्ञ आदि आध्यात्मिक-विभूतियों के साथ तप राष्ट्र को धारण करने वाला है[4]। इसी तरह जैन-परम्परा में भी तप को ज्योति (तपोज्योति)[5] तथा श्रद्धा को जीवन संग्राम मे विजय प्राप्त करने का साधन नगर (सद्धं नगरं किच्चा)[6] कहा गया है। यही नहीं त्रिविधि सम्यक्त्व की सिद्धि के लिए श्रद्धा अनिवार्य गुण माना गया है[7]। श्रद्धा ने भारतीयों को धर्मनिष्ठ बनाया है तो तप ने कर्मजीवी।

उपर्युक्त तीनो परंपराओं का एक दूसरे से असंपृक्त मानकर अध्ययन करने पर भारतीय सांस्कृतिक जीवन के ऐसे तथ्य सामने आते है, जिनकी ओर (सामान्यतया) अध्येताओं का ध्यान अभी तक नहीं गया है। उत्सवों के सम्बन्ध में इन पररंपराओं को एक साथ मिलकर अभी तक अध्ययन नहीं हुआ है। जब कि इस दृष्टि से भारत मे सांस्कृतिक एकता के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता आया है। उत्सव शब्द का तात्पर्य है— उत्=उत्कृष्ट + सव=यज्ञ। ये वैदिक यज्ञो मे ही समाज की बदलती हुई

---

१. सुत्तनिपात—उरगवग्ग—कसि भारद्वाज सुत्त।
२. ऋग्वेद १०।१५१
३. ऋग्वेद १।१५४।२; १६७।१
४. अथर्ववेद १२।१।१
५. उत्तराध्ययन सूत्र १२४३
६. उपर्युक्त सूत्र ९
७. दर्शन पाहुड़ (कुन्दकुन्द)—२२

परंपराओं मे विकसित हुए जान पड़ते हैं। संवत्सरी जिनधर्मानुयायियो का महत्त्वपूर्ण उत्सव है जिसका संबन्ध संवत्स व संवत्सर से ज्ञात होता है।

ऋग्वेद के एक सूक्त से ज्ञात होता है कि व्रतचारी वर्ष भर के लिए वर्षकाल मे व्रत धारण किया करते थे [८]। व्रतियों के २७ सम्प्रदायों का उल्लेख 'चूलनिद्देस' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे मिलता है। इनमे एक सम्प्रदाय गोव्रतिक भी है (गोव्रतिकाना गावो देवता) । निर्ग्रन्थ (निगण्ठ) सम्प्रदाय इसमें पृथक् उल्लिखित है। ऐसा ज्ञात होता है कि निगण्ठ व गोव्रतिकों मे कभी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। अतः ऋषभ, गोव्रतिको के आराध्य, जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर माने गए होंगे। अथवा यह भी संभव है कि गोव्रतिक, ऋषभव्रतिकों से स्वतंत्र हों।

गोव्रत का पुराणो मे उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदों मे चैतन्याधिष्ठित प्रकृति अदिति [९] या विराज गौ [१०] के रूप में वर्णित है। उसका पोषण प्राप्त करने के लिए अपने आप को वत्स या वत्सतर बना लेना ही गोव्रत का आधार है। मनुष्य मे विश्वप्रकृति का एक अंश मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियादि के रूप मे उपस्थित है। मन व इन्द्रियों को इस प्रकार संयत किया जाय कि वे प्रकृति रूपी कामधेनु से यथेष्ट पोषण प्राप्त करलें। यह पोषण वात्सल्य कहा जाता है।

भाद्रपद शुक्ल पंचमी को वैदिक-परंपरानुयायी ऋषि पंचमी उत्सव मनाते हैं और जिनधर्मानुयायी संवत्सरी। दोनों ही यह उत्सव वात्सल्य प्राप्ति के हेतु मनाते हैं। वत्स बनने के लिए व्रत का वरण करने मे चार वर्णों का विकास हुआ है। तो जैन परंपरा मे सम्यक्त्व का वरण करना संवर कहा गया है। विषयों से विरक्त होकर आत्मा को मनोहारी विषयों से संवृत करना संवर है; [११] सम्यक्दर्शन, अणुव्रत, महाव्रत, कषायों को जीतना भी संवर कहा गया है [१२]। वरणीय सम्यक् है-सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र। इन्हें रत्नत्रय कहा जाता है। तपाचार व वीर्याचार द्वारा जीवन में रत्नत्रय की प्रतिष्ठा संभव है। सम्यक्त्व श्रद्धा का पर्याय है। श्रद्धा व तप से जीवन मे सत्य की संसिद्धि होती है। वैदिक यज्ञों का उद्देश्य भी जीवन में श्रद्धा व सत्य को समन्वित करना ही है [१३]। वत्स भाव से व्रत ग्रहण करना वात्सल्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जैनशासन मे सम्यक्त्व के आठ अंगों मे वात्सल्य (वच्छल) भी गिनाया गया है [१४] जिसके विषय मे कहा गया है कि धर्मात्माओं का प्रियवचन व आचरण से अनुसरण करने वाले सम्यक् दृष्टि जीवन का वात्सल्य अंग होता है। [१५] आदिजिन ऋषभ पुंगव है, सम्यक् आचरण से वत्स बन जाने पर उनके वात्सल्य की प्राप्ति संभव है।

बृहदारण्यकोपनिषद् मे वाक् को धेनु प्राण को ऋषभ और मन को वत्स कहा गया है [१६]। अन्यत्र भी वाक् को धेनु [१७] व मन को वत्स [१८] कहा गया है।

---

८. ऋग्वेद ७।१०३।१
९. ऋग्वेद ८।१०१।१५
१०. अथर्व वेद २०।११३।२
११. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—१०१
१२. उपर्युक्त—९५
१३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१०
१४. चारित्रपाहुड़ (कुन्दकुन्द)—७
१५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—३५
१६. बृ० उ० ५।८।१
१७. वाग्वै धेनुः—ता० महा-ब्राह्मण १८।९।२१ गोपथ ब्रा० पू० २।२१ शतपथ ९।१।२।१७ आदि।
१८. शतपथ ११।३।१।१ जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १।१।१९

वाक्, प्राण व यज्ञ मे संवत्सर को अभिन्न माना गया है [१६]। अतः संवत्सरी का वाग्रूप धेनु व प्राण रूप ऋषभ से तो सम्बन्ध है ही; मन रूप वत्स के लिए वह दीक्षा का पर्व भी है। गौ ही विश्व का भरण करती है (गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति,[२०]। प्राण रूप ऋषभ गौ को धारण करने वाला (गन्धर्व)[२१] कहा गया है। प्राण इन्द्र है,[२२] गौ से अभिन्न है[२३] इसी लिए एक सूक्त में ऋषभ की इन्द्र रूप मे स्तुति की गई है [२४]।

गौ वत्स से इतना प्रेम करती है कि मानवी प्रेम भी उसके सामने तुच्छ है[२५]। ऋग्वेद के इस मंत्र मे रंभाती हुई, वत्स के प्रति गमन करती हुई, दुधारू गाय का वर्णन है —

हिङ्कृण्वन्ती वसुपत्नी वसूना वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय [२६]॥

गो के वत्स प्रेम को आदर्श मानकर अथर्ववेद मे मानव मात्र में वैसे प्रेम को प्रतिष्ठित करने की बात कही गई है [२७]।

सहज वत्सलता के कारण प्रकृतिरूपी गो को सहवत्सा,[२८] वत्सिनी,[२९] नित्यवत्सा[३०] कहा गया है। वत्स और पुनर्वत्स ऋग्वेद के ऋषि है। ऋषि नाम मंत्रार्थ व्यक्त करने वाला संकेत है [३१]। पुनर्वत्स शब्द का तात्पर्य है-जो पुनः वत्स बन जाय—A weaned-calf, that begis to suck again.

ब्रह्मचर्य—गृहस्थ—वानप्रस्थ इस क्रम मे सन्यास के रूप मे ब्रह्मचर्य को पुनः अपना लेना ही पुनर्वत्स की कल्पना का मूल है। पुनर्वत्स ऋषि द्रष्ट मंत्र मे इस व्यवस्था का पृश्नि से तीन सरोवरो के दोहन [३२] के रूप मे उल्लेख मिलता है। इस व्यवस्था को आश्रम व्यवस्था कहा गया है। आश्रम शब्द का अर्थ है जिसमे श्रम व्याप्त हो (आसमन्तात् श्रमः यस्मिन्)।

श्रम को वैदिक-साहित्य मे ऋत, सत्य, तप जैसी आध्यात्मिक-विभूतियो तथा राज्य, धर्म एवं कर्म जैसी पार्थिव शक्तियों के साथ गिनाया गया है [३३]। श्रम के बिना देवता मनुष्य की सहायता नही करते [३४]।

---

१६. वाक् संवत्सरः। ताण्ड्य म० ब्रा० १०।१२।७; प्राणो वै संवत्सरः। ता० म. ब्रा० ५।१०।२ संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः–शतपथ १।२।५।१२ कौ० ब्रा० ६।१५ ऐतरेय ब्रा० ४।२५

२०. शतपथ ३।१।२।१४

२१. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ३।३६।३

२२. प्राण इंद्रः। शतपथ १४।४।३।१६; १२।६।१। १४

२३. इमा या गावः सजनास इन्द्रः। ऋग्वेद ६।२८।५

२४. ऋग्वेद १०।१६६

२५. ऋग्वेद १।१६४।२६

२६. ऋग्वेद १।१६४।२७ (कुछ विद्वान् इस मंत्र के प्रथमाक्षरो के संयोग मे 'हिन्दू' की निष्पत्ति मानते है जिसका अर्थ हुआ गो (प्रकृति) का दोहन करने वाला। विचार उत्तम किन्तु विचारणीय है)

२७. अथर्ववेद ३।३०।१

२८. ऋग्वेद १।३२।६

२९. ऋग्वेद ७।१०३।२

३०. अथर्ववेद ७।१०६।१

३१. द्रष्टव्य लेखक का 'ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि' निबन्ध। वेदवाणी वर्ष १५ अंक १ तथा डा० सुधीर कुमार गुप्त—'ऋग्वेद के ऋषि और उनका सन्देश और दर्शन' पुस्तिका।

३२. ऋग्वेद ८।७।१०

३३. अथर्ववेद ११।६।१७

३४. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋग्वेद ४।३३।११

आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य न केवल प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम को अनिवार्य कर देना है, अपितु-इसका लक्ष्य उचित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित ढंग से श्रम का उपयोग करवाना भी है [३४]। प्रथम दो आश्रमों में श्रम का प्रवृत्तिपरक रूप देखने को मिलता है तो अन्तिम दो में निवृत्तिपरक। इस श्रम को उत्तरोत्तर 'शम' रूप देने का प्रयत्न किया गया है [३०]।

वैदिक-यज्ञों में प्रतीकात्मकता बढ़ जाने पर उनका स्थान सहजसाध्य प्रक्रियाओं ने ले लिया। ऐसी प्रक्रियाओं को उत्सव नाम दिया गया। उत्सवों के प्रचार में सारे भारत में फैले हुए गणराज्यों ने प्रमुख रूप से योग दिया। गणों का विकास महाभारत युद्ध में प्राचीन राजवंशों की समाप्ति के उपरान्त हुआ था। इस युद्ध के बाद भारत में सांस्कृतिक-दृष्टि से ह्रास का युग आया और गणों में अर्थकामपरायणता बढ़ गई। मानव व मानवाश्रम की उपेक्षा होने लगी। बुद्ध व महावीर ने गणों की यह अवस्था देख कर भारतीय-संस्कृति के मूल श्रमवाद की प्रतिष्ठा श्रमणधर्म के नाम से की।

श्रमण संस्था भारत में बुद्ध से पूर्व विद्यमान थी; [३७] परन्तु इसका नवीकरण नितान्त स्वतंत्र रूप से हुआ। बुद्ध व महावीर ने श्रम का पर्यवसान 'शम' में दिखाया तथा आध्यात्मिक-गणराज्य का आदर्श समसामयिक गणों के सामने रखा [३८]।

श्रम के कारण मानव मानव में सहज सम्बन्ध तो स्थापित होता ही है, मानव मन की पशुता का अन्त भी उससे होता है। इस प्रकार श्रम शम में पर्यवसित होकर मोक्ष प्राप्ति में सहायक-होता है। इसीलिए बुद्ध ने कहा "शमयिता हि पापानां श्रमण इति कथ्यते" [३९]। जैन परंपरा में भी आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक श्रम करने वाले श्रमण कहे जाते हैं [४०]। शम पर्यवसित श्रम ही जैन गण या शासन का मूलाधार है। इस आध्यात्मिक-गणराज्य के प्रवर्त्तक-महावीर बुद्ध के समय में ही संघी, गणी, गणाचार्य आदि नामों से विख्यात हो चुके थे। परवर्ती जैन गणधरों की एक लम्बी अविच्छिन्न परंपरा है। इस गण के विभाग है—मुनि, आर्यिका, श्रावक-व श्राविका। बौद्ध संघ में साधारण गृहस्थ को कोई स्थान दिया गया; परन्तु जैन शासन में श्रावक व श्राविका भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। अतः जैन शासन की समाज में सफल रूप से प्रतिष्ठा हुई।

जैन मत अवैदिक नहीं है। श्रम के आध्यात्मिक रूप को ग्रहण करके विकसित होने के कारण जैनमत में यज्ञ का यह ऋषि प्रशस्त रूप ग्राह्य माना गया है।

तपो ज्योतिः जीवो ज्योतिस्थानं
योगास्त्रुवा शरीरं करीषम्।
कर्मैधः संयमयोगशान्तिः
होमं जुहोमि ऋषिणां प्रशस्तम्॥ [४१]

आरण्यक व उपनिषदों में यज्ञ का ऐसा रूप व्याख्यात है। अतः महावीर ने अपने मत को सत्पुरुष आर्यों का अनुपम मार्ग कहा है [४२]।

वर्द्धमान महावीर को एक स्थान पर तायी नाम से अभिहित किया गया है [४३]। जिसका अर्थ अर्हन्

३५. डा० फतहसिंह—वैदिक समाज शास्त्र में यज्ञ की कल्पना पृ० २३
३६. उपर्युक्त पृ० २४
३७. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता पृ१ २४६
३८. द्रष्टव्य-लेखक का 'प्राचीन भारत में गणतांत्रिक शासन व्यवस्था' निबन्ध। साहित्य संस्थान उदयपुर की शोधपत्रिका वर्ष १५ अंक १।
३९. धम्मपद २०।१०
४०. द्रष्टव्य—पं० चैनसुखदास लिखित अर्हन् प्रवचन की भूमिका पृ० ३
४१. उत्तराध्ययन सूत्र १२४३ की संस्कृत छाया।
४२. सूत्रकृतांग सूत्र ७५६
४३. उपर्युक्त सूत्र सं० ७६८

माना गया है। यह शब्द वैदिक तर्य (तुरीय—संन्यासी)[४४] का विकसित रूप ज्ञात होता है। अतः महावीर संन्यासी थे। जैनों का एक वर्ग उनके गृहस्थ जीवन को भी स्वीकार करता है; परन्तु अधिकतर लोग उन्हें बाल सन्यासी मानते हैं। इस मान्यता के अनुसार महावीर पुनर्वत्सन होकर संवत्स (सम्यक् रूपेण वत्सः-जन्मना वत्सः) थे।

संवत्स शब्द ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र में उपमेय के रूप में प्रयुक्त हुआ है;[४५] परन्तु पुनर्वत्स की तुलना में इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। संवत्स के जीवन मे सम्यक्त्व की प्रधानता होती है। जैन शास्त्रों में सम्यक्त्व को ज्ञानश्रियो मूलम्, अपारत दोषम्, चारित्र बल्लीवन जीवनम् आदि विभूषणों से विभूषित किया गया है[४६]। आनन्दमय, शुद्ध, चिद्रूप आत्मा मे दृढ निश्चय की स्थिति ही सम्यक्त्व है[४७]। सम्यक्त्व की प्राप्ति को त्रैलोक्य की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ माना गया है[४८]। यही मनुष्यत्व का सार (सारो वि णरस्स)[४९] है। सम्यक् जीवन के ८ अंग – निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना है[५०]। इन आठों में वात्सल्य को ही प्रमुखता प्राप्त है।

मिथ्यात्व की वासना से जीव सम्यक्त्व में रमण नहीं करता (ण रमिज्ज हु सम्मत्ते)[५१]। संवत्स के सम्यक्त्व में रमण करने का कालपर्व ही संवत्सर है; जिसका प्रारम्भ सांवत्सरिक उत्सव से होता है। पुनर्वत्स जीवन प्रक्रिया मे भोग व योग का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इसके विपरीत संवत्स-प्रक्रिया कठोर संयम पर बल देती है। जैन मुनियों के जीवन में कठोर आत्मसंयम का आदर्श रूप देखने को मिलता है।

ऋग्वेद के एक सूक्त के[५२] ऋषि वैराज ऋषभ है। विराज गौ और उसके दोहन का वर्णन अथर्ववेद[५३] में मिलता है। ऋषभ उसी विराज के पुत्र है। ऋषि प्राणतत्व से अभिन्न हैं[५४]। इस प्रकार ऋषभ ऋषि प्राणतत्व का ही नाम है जिसका कालान्तर मे परम-भागवत नाभेय ऋषभ के ऐतिहासिक चारित्र पर आरोप हुआ। नाभेय ऋषभ को निगदनाभिष्टूयमान[५५], आत्मतन्त्र[५६] आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। जैन शास्त्रों में आदि जिन ऋषभ का विशिष्ट लांछन वृषभ माना गया है[५७]। चारसींग, तीन पाद, दो शीर्ष, सात हाथ वाला त्रिधा बद्ध गोमुख यक्ष भी ऋषभ के साथ संयुक्त है[५८] इसका स्वरूप ऋग्वेदिक महावृषभ रूप[५९] यज्ञ पुरुष से अभिन्न है।

---

४४. ऋग्वेद ५।४४।१२.

४५. संवत्स इव मातृभिः–यथा संवत्स अपनी माता से मिलता है।–ऋग्वेद ६।२०५।२.

४६. भारतीय ज्ञान पीठ पूजा पदावली-पृ०२३२.

४७. उपर्युक्त।

४८. भगवती आराधना ७४२.

४९. दर्शन पाहुड (कुन्दकुन्द)-३१.

५०. चारित्रपाहुड (कुन्दकुन्द) ७.

५१. भगवती आराधना ७२८.

५२. ऋग्वेद-ऋग्वेद १०।१६६.

५३. अथर्ववेद ८।१०।२–५.

५४. ऐतरेय ब्रा० २।२७.

५५. श्रीमद्भागवतपुराण ५।३।१६.

५६. उपर्युक्त ५।४।१४.

५७. Jain Iconography, B C Bhattacharya : पृ० ४६ पर प्रवचनसारोध्दार से उध्दृत।

५८. उपर्युक्तः पृ०६६ पर प्रतिष्ठासार संग्रह का उद्धरण।

इस ऋषभ का वात्सल्य प्राप्त करने के लिए संवत्स जीवन अपनाया जाता है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार विश्वरूपा-कामदुघा गो का पय संवत्सर में व्याप्त है जिसे दिखावा मात्र करने वाले (यातुधान-जादूगर) नहीं पा सकते [६०]। इस पय रूप पुष्टि की प्राप्ति के लिये ही पुनर्वत्स व संवत्स साधनाओं के व्रत लिए जाते है। पुनर्वत्सो की ऋषि संयमी ही संवत्सों की संवत्सश्री या संवत्सरी है। संवत्स अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह—इन यमों को महाव्रत के रूप में अपनाते है। साधारण श्रावक भी अणुव्रतों द्वारा महाव्रतों के लिए अपने जीवन को अभ्यस्त बनाते हैं। कठोर शारीरिक साधना के कारण ये ऊर्ध्वमन्थी श्रमण कहे गये हैं [६१]।

अपने अपने समाज और सभ्यता के अनुसार किसी वस्तु को देखने की किसी जाति या राष्ट्र की अपनी आँखे होती हैं [६२]। भारत में भी श्रद्धा व तप को केन्द्र मान कर जीवन-यापन के लिए स्वतन्त्र दृष्टि कोण का विकास हुआ है। तप मे भारतीय स्वयं को वत्स के रूप मे ढालता है व श्रद्धा मे विश्व चेतना से पोषण प्राप्त करता है। संवत्सरी तपोमय जीवन के अभ्यास द्वारा मन को वत्सवत् संयत् करके विश्वात्मक प्राण का वात्सल्य प्राप्त करने के लिए मनाया जाने वाला उत्सव है।

---

(१) अतियारे आस्तीत्व धरावतां धर्मो मां जैन धर्म एक एवो धर्म छे के जेमां अहिंसा नो क्रम सम्पूर्ण छे अने जो शक्य तेटली दृढ़ता थी सदा तेने वलगी रह्यो छे।

(२) ब्राह्मण धर्म मां पण घणां लांबा समय पच्छी सन्यासियों माटे आ सूक्ष्मतर अहिंसा वादित थई अने आखरे वनस्पति आहार का रूप मां ब्राह्मण ज्ञाति मां पण ते दाखील थई हती कारण ए छे के जैनो ना धर्म तत्वो एज लोक मत जीत्यो हतो तेनी असर सज्जड रीते वधती जाती हती।

—डा० एफ० ओटो सबरादर पी० एच० डी०

---

५९. चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ ऋग्वेद ४।५८।३.

६०. ऋग्वेद १०।८७।१७.

६१. तैत्तिरीय आरण्यक २।७.

६२. डा० जनार्दन मिश्र—भारतीय प्रतीक विद्या०पृ०१३३.

जैन धर्म का उदय और विकास

• डा. पुरुषोत्तमलाल भार्गव
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर

श्री कृष्ण और नेमिनाथ दोनो ही ऐसे समय मे हुए थे जब भारतीय समाज में अनेक दोष आगए थे और नैतिक दृष्टि से उसका अधःपतन हो गया था। सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं धार्मिक क्षेत्रों मे भी यही स्थिति थी। यज्ञों मे पशुबलि जैसे क्रूर कर्म की प्रचुरता समझदार मनुष्यों को अवश्य खलती होगी। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए एक ही कुल में दो महापुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने ढंग से लोगो को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया।

जैन और बौद्ध दोनो ही अपने अपने धर्म के चौबीस आचार्य मानते है। जैन धर्म के आचार्य जिन अथवा तीर्थङ्कर कहलाते है और बौद्ध धर्म के आचार्य बुद्ध कहलाते हैं। प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वान् वर्धमान महावीर और सिद्धार्थ गौतम के अतिरिक्त उनके पूर्व के सभी तीर्थङ्करो और बुद्धों को कपोलकल्पित मानते थे परन्तु बाद मे हर्मन जैकोबी नामक जर्मन विद्वान् ने जैनों के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया। यदि तत्वान्वेषण की भावना से इस प्रश्न का अध्ययन किया जाय तो मानना पड़ेगा कि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म छठी शताब्दी ई० पू० के बहुत पहले जन्म ले चुके थे। अशोक के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके भी समय के पूर्व नेपाल की तराई में निगलीवा नामक स्थान मे बाईसवें बुद्ध कनकमुनि का स्तूप था जिसे अशोक ने परिवर्धित कराया था। यह निश्चित है कि यह स्तूप एक काल्पनिक व्यक्ति की स्मृति में नही बना होगा। जैन धर्म भी महावीर स्वामी से ही नही पार्श्वनाथ से भी पहले का है इसे अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है।

जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव माने जाते हैं। ऋषभदेव का उल्लेख जैन साहित्य मे ही नही पुराणों में भी मिलता है। दुर्भाग्यवश हमारे वर्तमान ज्ञान की हीन अवस्था के कारण इनके समय और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे कुछ कहना असम्भव है। यही दशा इनके बाद के बीस तीर्थङ्करों की है। परन्तु बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समय और ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालने के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है। जैन साहित्य के अनुसार नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण नही है। सौभाग्यवश श्रीकृष्ण के समय का अनुमान करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने लगभग ३२० ई. पू. मे मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। चन्द्रगुप्त मौर्य और श्रीकृष्ण के समकालीन राजा युधिष्ठिर के बीच पुराणों के अनुसार चौंतीस पीढ़ियो ने राज्य किया। यदि हम एक पीढ़ी का औसत राज्यकाल बीस वर्ष मानें तो ३४ पीढ़ियों का समय ६८० वर्ष होगा। ३२० मे ६८० जोड़ने पर हमें युधिष्ठिर का समय १००० ई. पू. प्राप्त होता है अतः श्रीकृष्ण और उनके भाई नेमिनाथ का भी यही समय हुआ।

श्रीकृष्ण और नेमिनाथ दोनों ही ऐसे समय मे हुए थे जब भारतीय समाज में अनेक दोष आगये थे और

नैतिक दृष्टि से उसका अधः पतन होगया था। सामाजिक क्षेत्र मे भी यही स्थिति थी। यज्ञों में पशु बलि जैसे क्रूर कर्म की प्रचुरता समझदार मनुष्यों को अवश्य ही खलती होगी। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए एक ही कुल में दो महापुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने ढंग से लोगों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। इसमें कोई सन्देह नही है कि जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा का ऐतिहासिक उपदेश सबसे पहले नेमिनाथ ने ही दिया। नेमिनाथ सौराष्ट्र के निवासी थे और गिरनार के नाम से विख्यात हैं। अतः हम गुजरात को जैन धर्म की आदिभूमि मान सकते हैं जहां से यह पूर्व दिशा मे फैला।

नेमिनाथ के बाद जैनों के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए। पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म काशी तक फैल चुका था। पार्श्वनाथ काशी के राजा अश्वसेन और उनकी पत्नी वामा के पुत्र थे। उनका जन्म लगभग ८७७ ई. पू. मे हुआ। तीस वर्ष तक उन्होंने ऐश्वर्य-पूर्ण गृहस्थ जीवन बिताया। तदनन्तर उन्होने सारे ऐश्वर्य का त्याग करके तपस्या और समाधि का जीवन ग्रहण किया। ८४ दिनों की समाधि के बाद उन्हें सम्यक् ज्ञाना प्राप्त हुआ और उसके बाद उन्होंने सत्तर वर्ष तक सन्मार्ग का उपदेश दिया। १०० वर्ष की अवस्था मे उन्होने निर्वाण प्राप्त किया। पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार नियमो के पालन पर बल दिया।

पार्श्वनाथ के अनन्तर जैनो के अन्तिम और सर्व-महान् तीर्थङ्कर महावीर स्वामी हुए। इनके समय तक जैनधर्म वैशाली और उससे भी आगे तक बढ़ गया था। महावीर का जन्म का नाम वर्धमान था और वे वैशाली के निकट कुण्डग्राम के ज्ञातृक नामक क्षत्रिय कुल के मुखिया सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशला के पुत्र थे। उनका जन्म ५६६ ई. पू. में हुआ। वर्धमान भी अपने पूर्वगामी तीर्थङ्कर की भांति तीस वर्ष की आयु में घरबार छोड़ कर सत्य की खोज में निकले। बारह वर्ष तक समाधि और तप में लीन रहने के बाद बयालीस वर्ष की अवस्था में उन्हें कैवल्य अर्थात् सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने अपनी अनुभूति से प्राप्त तत्व ज्ञान का प्रचार प्रारंभ किया। उस समय से वे अर्हत्, जिन और निर्ग्रन्थ कहलाने लगे। बौद्ध ग्रन्थों में तो उन्हें निगंठ नातपुत्र अर्थात् निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र नाम से ही पुकारा गया है।

महावीर ने पार्श्वनाथ के बताये हुए अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह नामक चार व्रतों मे पांचवा ब्रह्मचर्य और जोड़ दिया और इन पाच व्रतों के पालन पर जोर दिया। उन्होने तीस वर्ष तक अपने मत का प्रचार किया और श्रावस्ती, मिथिला, वैशाली, राजगृह, चम्पा आदि अनेक नगरो का भ्रमण करके बहुत मे लोगों का अपना अनुयायी बनाया। बहत्तर वर्ष की आयु में राजगृह के निकट पावापुरी में उनका निर्वाण हुआ। उनके निर्वाण की तिथि प्रायः ५२७ ई. पू. मानी जाती है।

इन महान् तीर्थङ्करो ने जिस धर्म की स्थापना की उसके सिद्धान्त भी संक्षेप में बता देने आवश्यक है। जैनधर्म के अनुसार संसार का कोई कर्ता-हर्ता नही है। संसार अनादि अनन्त है। प्रत्येक आत्मा भी अनादि और अनन्त है। कर्म ही जन्म का कारण है अतः कर्म से छुटकारा पाने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। कर्म से छुटकारा पाने के लिए तीन बातें आवश्यक है जिन्हे रत्न त्रय कहते है। ये रत्न त्रय सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। तीर्थङ्करों और उनके बताये हुए मार्ग में पूरी श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं। तीर्थकरों के उपदेशों द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य नामक पांच व्रतों के पालन को सम्यक् चारित्र कहते है। जैन धर्म सर्वाधिक बल आत्म शुद्धि पर देते हैं।

जैन धर्म मे सात तत्त्व बताये गये है जिनके जाने बिना मनुष्य सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। पहला तत्त्व जीव है। प्रत्येक आत्मधारी जीव कहलाता है। दूसरा तत्त्व अजीव है जिसके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। स्पर्श, वर्ण, रस और

गन्ध से युक्त मूर्त द्रव्य को पुद्गल कहते है जो अणुरूप भी होता है और स्कन्ध अर्थात् अणुओ का समूह भी हो सकता है। शेष चारों द्रव्य अमूर्त और सर्वव्यापी है दिक् कालाणु प्रदेश प्रचयालक नही है। लोका काश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है। धर्म जीव और पुद्गल को गतिमान् बनाता है। अधर्म जीव और पुद्गल को स्थिर अथवा गतिहीन करता है। आकाश गतिहीन करता है। आकाश सब पदार्थो को अवकाश देता है। काल सब पदार्थों को परिवर्तित करता रहता है ये चारों ही द्रव्य अपने अपने कार्य को उदासीन होकर करते है प्रेरक बनकर नहीं। तीसरा तत्त्व आस्रव है। रागद्वेष आदि के कारण मन, वचन और शरीर से जो क्रियाएं होती हैं उनके कारण कर्म परमाणुओं का आत्मा के पास खिंच कर आना आस्रव कहलाता है। चौथा तत्त्व बन्ध है। कर्म का आत्मा से संलग्न होना बन्ध कहलाता है। पांचवा तत्त्व संवर है। कर्म से विरत होना संवर कहलाता है। छठा तत्त्व निर्जरा है। पहले से बंधे हुए कर्म पुद्गलो को तपयोग आदि मे नष्ट करना निर्जरा कहलाता है। सातवां तत्त्व मोक्ष है। कर्म के सर्वथा नाश होने पर जब जीव जन्म मृत्यु मे रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है उस दशा को मोक्ष कहते है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि जैन धर्म समय की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन और सिद्धान्तो की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसका प्रादुर्भाव ऐतिहासिक दृष्टि से कम से कम ग्यारहवी शताब्दी ई. पू. मे हो चुका था। इसमें कोई सन्देह नही है कि यह धर्म वैदिक धर्म के बाद भारत का सबसे प्राचीन धर्म है।

वास्कोडिगामा द्वारा किये गये उल्लेखों से यह बात पूर्ण रूप से विदित हो जाती है कि, मालाबार प्रान्त के समुद्री किनारे पर उस समय जो बस्ती थी वह न कभी हिंसा करती थी, इतना ही नहीं किन्तु समुद्र के किनारे पर रहने पर भी मांस मच्छी आदि के आहार को निषिद्ध ही मानती थी। इस वस्तु स्थिति से अनुमान होता है कि वह प्रजा जैनधर्मी ही होनी चाहिए, जिसका प्रभाव तमाम प्रजा पर पूर्ण रूप से पड़ा था। इसके उपरांत जैनधर्म के सम्बन्ध में इष्ट इण्डिया कम्पनी के समय के अनेक उल्लेख मि० कोल ब्रुक की डायरी में पाये जाते हैं।

संदेश काव्य परंपरा में जैन कवियों का योगदान

• प्रो. शांतिकुमार पारख
एम. ए., साहित्यालंकार

सदेश काव्यों की परम्परा मे एक दृष्टिकोण से जैन आचार्यो को निःसंदेह सर्वथा प्रयोगवादी कवि कहा जा सकता है, शृंगार रस की परम्परा में धार्मिक तत्वों का समावेश कर इन महान कवियों ने अपनी प्रतिभा से एक नवीन दिशा का निर्देशन किया है। इनके द्वारा लिखे गए संदेश काव्यों में जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण काव्य चार सर्गो में विभक्त है तथा 'मेघदूत' के छन्दों के चरणों की समस्यापूर्ति बड़े कौशल से की गई है। कमठ तथा मरुभूति को कर्मानुसार अनेक योनियों में जन्म लेने की कथा वर्णित की गई है। अन्त में मरुभूति (श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर का पूर्व भव का जीव) की सहिष्णुता से कमठ के सारे पाप धुल जाते हैं।

संदेश काव्यो की अखंड परंपरा का प्रारंभ संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास द्वारा निर्मित प्रसिद्ध कृति मेघदूत से ही माना जा सकता है। यद्यपि इसके पूर्व ऋग्वेद में सरमा के, वाल्मिकी रामायण मे हनुमान् के, महाभारत में कृष्ण के, श्री मद्भागवत मे उद्धव के दूत कर्म का उल्लेख हुआ है, परन्तु महाकवि कालिदास ने अपनी तीव्र एवं गंभीर भावानुभूतियों द्वारा मानव मन की गंभीर विरहानुभूति का मार्मिक चित्रण जिस आत्मीय तल्लीनता के साथ अंकित किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता, कालिदास का 'मेघदूत' आने वाली कई शताब्दियों तक कवियों का प्रेरणा स्रोत रहा है। 'मेघदूत' के माधुर्य एवं लालित्य ने केवल जैनेतर कवियों को ही दूत काव्यों के रूप में मधुर भाव की विरहासक्ति व्यक्त करने को प्रेरित नहीं किया, प्रत्युत कुछ जैन कवियों ने भी धार्मिक रचनाओं में उसकी शैली का अनुकरण किया है।[1]

संदेश काव्यों की परंपरा मे एक दृष्टिकोण मे जैन आचार्यों को निस्संदेह सर्वथा प्रयोग वादी कवि कहा जा सकता है। शृंगार रस की परपरा में धार्मिक तत्वों का समावेश कर इन महाकवियों ने अपनी प्रतिभा से एक नवीन दिशा का निर्देशन किया है। इनके द्वारा लिखे गये संदेश काव्यों मे जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' अत्यंत महत्वपूर्ण है। संपूर्ण काव्य चार सर्गों में विभक्त है तथा 'मेघदूत' के छंदों के चरणों की समस्यापूर्ति बड़े कौशल से की गई है। कमठ तथा मरुभूति को कर्मानुसार अनेक योनियों में जन्म लेने की कथा वर्णित की गई है। अंत में मरुभूति (श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर का पूर्वभव का जीव) की सहिष्णुता से कमठ के सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार श्री पार्श्वनाथ की अपूर्व महिमा के द्वारा काव्य में भक्ति तत्व का समावेश किया गया है। समस्या पूर्ति की दृष्टि से काव्य की सफलता असंदिग्ध है, परन्तु विभिन्न जन्मों की

१. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा: हिन्दी साहित्य कोष, भाग १, पृ० सं० ७६१

कथा होने से काव्य की स्वाभाविकता को बड़ी ठेस पहुँची है। स्थल-स्थल पर दुरूहता के कारण नीरसता का समावेश हो गया है। प्रस्तुत काव्य की वर्णन योजना बड़ी भव्य है। प्राकृतिक दृश्यों एवं अनेक भावपूर्ण स्थलों पर कवि की प्रतिभा निखर उठी है। कई स्थानों पर संश्लिष्ट वर्णन भी मिलता है। ऋतुओं के अनुसार विभिन्न दृश्यों का बड़ा ही मनोहारी चित्र कवि ने अंकित किया है। भाषा की दृष्टि से बड़ी प्रौढ़ कृति है। जैन साहित्य मे धार्मिक, साहित्यिक एव दार्शनिक दृष्टि से इसका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है।

चौदहवी एव पंद्रहवी शताब्दी मे जैन धर्म के २२ वें तीर्थकर श्री नेमिनाथ के जीवन की कथा से संबंद्ध दो अन्य कृतिया क्रमशः विक्रम कवि की 'नेमिदूत' तथा मेरुतुंग की 'जैन मेघदूत' उपलब्ध होती है। इन काव्यो में भगवान नेमिनाथ के जीवन की महत्वपूर्ण घटना संसार त्याग व राजमती का संदेश वर्णित है तथा अंत मे राजमती को आत्मानंद की प्राप्ति होती है। इस संक्षिप्त कथानक का इन काव्यो मे बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक वर्णन है। राजमती मेघ को दूत बनाकर अपने प्रिय के पास संदेश भेजती है। अतः काव्य का शीर्षक बिल्कुल उपयुक्त है। कथा मे कही विशृंखलता दृष्टि गोचर नही होती। भाषा-शैली, विचार तारतम्य एव रस की दृष्टि से दोनो कृतियाँ अत्यंत समृद्ध है। दोनो कृतियों मे एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि 'नेमिदूत' मे गिरनार से द्वारिका के बीच आने वाले विविध प्राकृतिक दृश्यों का सुंदर चित्रांकन है, वह 'जैन मेघदूत' मे नही मिलता। 'नेमिदूत' मे यत्र-तत्र समुद्रों, नदियों, नगरो, ग्रामों एव वृक्षों आदि का बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है। इस प्रकार के भौगोलिक ज्ञान का 'जैन मेघदूत' में अभाव रहा है। दोनों ही कृतियों का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग राजमती का विरह वर्णन है। 'मेघदूत' में जहां नायक अपनी प्रेयसी के वियोग में व्यथित है, वहाँ प्रस्तुत काव्यों मे विरक्त नायक को अनुरक्त करने का प्रयत्न है। राजमती का विरह वर्णन वास्तव मे बड़ा मार्मिक है। उसके विरहपूर्ण उद्गारों मे एक ओर जीवन के प्रति नैराश्यपूर्ण भावना है तो दूसरी ओर उसके सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को भी प्रदर्शित किया गया है। उसका चरित्र वास्तव मे एक आदर्श है। कवि द्वारा अंकित यह चित्रण बड़ा मनोवैज्ञानिक एवं अनुभूति पूर्ण है। इनमें जीवन की मार्मिक वेदना स्पष्ट हुई है। वैवाहिक जीवन की इस विडम्बना युक्त बेला मे उसके जीवन की समस्त आशा-आकांक्षाओ पर पानी फिर गया है। बिना किसी दोष के असमय मे ही त्यागी गई राजमती के जीवन की ये घड़ियां किस प्रकार व्यतीत हुई होंगी, जबकि प्रिय वियोग मे केवल प्राण व सौन्दर्य ही शेष रहे होगे [1] तथा एक-एक घड़ी की प्रतीति बीते हुए अनेक युगो की भांति हुई होगी। [2] इस प्रकार के वर्णनो मे कितनी सुन्दर व्यंजना है? जहा कही ऐसे प्रसग आये है, वहां हृदय द्रवी भूत हुए बिना नही रहता। काव्य का प्रारंभ विरह वर्णन से हुआ है तथा अंत भी। संपूर्ण काव्य मे शृंगार रस का साम्राज्य है; परन्तु अंतिम श्लोको मे शांत रस की सृष्टि हुई है। दोनो कृतियों में अलंकार योजना बड़ी सुन्दर है। यथा–

> मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्तदीना ।
> कार्श्यंयेन त्यजति विधिना सत्वयैवोपपाद्यः ।।

अथवा

> उद्यन्मोह प्रमवएजसा चाम्बरं पूरयन्तोऽ–
> भीकाभीष्टा मलयमरुतः कामबाहाः प्रसस्रुः ।।

प्रथम उदाहरण 'नेमिदूत' तथा द्वितीय "जैन मेघदूत' का है, जिनमे क्रमशः काव्यलिग एव उत्प्रेक्षा की छटा दर्शनीय है। अलंकारों की भरमार के कारण कल्पना कहीं-कहीं अवश्य क्लिष्ट हो गई है। काव्य मे प्रारंभ से अंत तक स्वाभाविक प्रवाह है। कही भी कृत्रिमता दृष्टि गोचर नही होती।

पंद्रहवी शताब्दी की एक अन्य रचना चारित्र सुन्दर गणि की 'शीलदूत' है, जिसमें राजकुमार स्थूल भद्र का

१. विक्रम कविः नेमिदूत, श्लोक ११६
२. विक्रम कविः नेमिदूत, श्लोक ६७, १०८

गृह त्याग कर श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा दीक्षित होना तथा प्र ने शील के प्रभाव से रानी कोशा को भी जैन धर्म में दीक्षित करने की कथा वर्णित है। काव्य का शीर्षक उपयुक्त एवं वर्णन योजना भव्य है। श्लोक ६० मे राजधानी का बड़ा विस्तृत वर्णन है। विरह वर्णन मे अनुभूति की तीव्र व्याकुलता है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है। अलंकारो मे कवि को उत्प्रेक्षा अधिक प्रिय रहा है। गंगा की उठती हुई तरंगो को लेकर कवि ने सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की है।[3] काव्य मे स्थल २ पर कवि की मौलिक प्रतिभा व कल्पना शक्ति का परिचय मिलता है।

वादिचंद्र सूरि द्वारा निर्मित 'पवन दूत' (१७वी शताब्दी) मे उज्जयिनी के राजा विजय नरेश तथा उनकी रानी तारा का विरह वर्णित है। कथा का कोई निश्चित आधार नही है, वह कल्पनिक है। तारा की चरित्रगत विशेषताओं का अच्छा विश्लेषण हुआ है। मार्ग वर्णन का अभाव है। भाषा बडी सरस तथा प्रसाद गुण युक्त है। साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से यह पर्याप्त सफल संदेश काव्य है।

साहित्य मे पशु-पक्षी, पवन, मेघ, चंद्रमा आदि द्वारा समय-समय पर कवियों ने संदेश भिजवाये हैं; परन्तु शील व चित्त जैसे भावों को दूत बनाकर किसी ने नही भेजा। यद्यपि 'चेतोदूत' का कवि अज्ञात है तथापि भावो एवं विषयों की नवीनता की दृष्टि से इस काव्य की मौलिकता को अस्वीकार नही कियाजा सकता। प्रस्तुत काव्य मे एक शिष्य का गुरु के चरणो मे चित्त रूपी दूत के माध्यम से संदेश प्रेषित किया गया है। अतः काव्य के उपयुक्त एवं सुन्दर शीर्षक के संबंध मे आशंका की कोई गुंजाइश नही है। काव्य में यत्र-तत्र जैन धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख है; तथा शृंगार की अपेक्षा सर्वत्र भक्ति व शांति का साम्राज्य है।

१८वीं शताब्दी में श्री विनयविजय गणि द्वारा निर्मित 'इन्दुदूत' संदेश काव्य में चातुर्मास के अंत में स्वयं कवि ने अपने गुरु श्री विजय प्रभु सूरीश्वर को चंद्रमा द्वारा सांवत्सरिक क्षमापण संदेश प्रेषित किया है। जोधपुर से सूरत तक बीच मे आने वाले पर्वतों, जैन मंदिरों, दुर्गों, नदियो तथा नगरो—विशेषतया सूरत नगर के वैभव का बड़ा सुन्दर वर्णन है। जैन मंदिरो का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

विश्रे-हिचत्तंक इह न जनो वोध्य विश्रीयते—

काव्य मे संदेश तो थोड़ा है पर उसके माध्यम से धर्म सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है। भाषा प्रसाद गुण युक्त, शैली सरस, रस शांत तथा वर्णन प्रभावक है।

संस्कृत जैन कवियो का अंतिम संदेश काव्य 'मेघदूत समस्या लेख' (१८वी शताब्दी) मे कवि मेघ विजय ने देवपत्तन मे स्थित अपने गुरु श्री विजय प्रभु सूरि के पास मेघ द्वारा कुशल वार्त्ता का संदेश प्रेषित किया है। काव्य मे वर्णन योजना शानदार है। औरङ्गाबाद की समृद्धि का वर्णन कवि ने कितने सुन्दर ढंग से किया है। यथा—

अस्या मुक्तामरकत पवि-श्री प्रमुनेन्दु रत्न—
पुगान दृष्ट्वातरणिशशिनोः श्रांत कार्तस्वरूपान् ॥
पण्य श्रेणी विपणिगणिनान् विद्रुमच्छेदराशीन्
संलक्ष्यन्ते सलिल निधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३४॥

इसके अतिरिक्त शांतिनाथ मंदिर, एलोर पर्वत, देवगिरी की शोभा, नर्मदा नदी एवं जैनतीर्थों का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। भाव, भाषा, विषय एवं उद्देश्य की दृष्टि से यह एक सफल काव्य है। कवि का नाम मेघ विजय, काव्य का नाम मेघदूत समस्या लेख, समस्या भी मेघदूत की तथा दूत भी मेघ ही है। संदेश काव्यो मे इसका बड़ा विशिष्ट स्थान है।

जैन कवियो के उपर्युक्त संदेश काव्यो पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो निम्न लिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है—

१. समस्त जैन संदेश काव्यों में आत्म चिन्तन की प्रधानता रही है।
२. शृंगार के साथ-साथ शांत रस की सृष्टि हुई है।

३. चारित्र सुन्दर गणिः शीलदूत, श्लोक ४४

३. लौकिक होते हुए भी इनमें अलौकिक तत्व की प्रधानता है ।

४. भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से ये काव्य महत्वपूर्ण है ।

५. 'शील' एवं 'चित्त' जैसे भावो को दूत बनाया गया है, जो कि एक सर्वथा नवीन प्रयोग है ।

६. 'मेघदूत' के मूल भावों की पूर्ण रक्षा हुई है, तथा साथ ही कवियो की मौलिक प्रतिभा भी दर्शनीय है ।

७. नायक-नायिकाओं के चरित्र में मानवीय गुणों का समावेश हुआ है ।

८. इन काव्यों में जैन धर्म का उल्लेख प्रसंग वश हुआ है; परन्तु कहीं भी सांप्रदायिकता की भावना नही मिलती ।

९. समस्त काव्यो में महान चरित्रों की सृष्टि हुई है ।

१०. विश्व प्रेम की भावना के विकास में इनका योगदान बड़ा महत्वपूर्ण है ।

११. साहित्यिक, धार्मिक, नैतिक, एवं दार्शनिक, दृष्टि से उपयोगिता असंदिग्ध है ।

इस प्रकार जैन संदेश काव्यो की कुछ निजी विशेषताएँ हैं, जो अन्य संदेश काव्यों में शायद ही उपलब्ध हो सके, इसका कारण यह है कि जैन धर्म त्यागपूर्ण जीवन में अधिक विश्वास करता है । मानव जीवन में अहिंसा, त्याग तपस्या, सात्विकता तथा सहिष्णुता आदि गुणों का होना अनिवार्य है। अपने काव्यों में जैन आचार्यों ने इन्हीं गुणों के महत्व को प्रतिपादित कर संपूर्ण मानव जाति के लिये एक प्रेरणा दायक शुभ संदेश प्रेषित किया है जिसके अनुकरण मे ही संपूर्ण मानव समाज का कल्याण निहित है ।

मनुष्य की उन्नति के लिए जैन धर्म का चरित्र बहुत ही लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही ठीक, स्वतन्त्र, सादा तथा मूल्यवान है। ब्राह्मणों के प्रचलित धर्मों से वह एकदम भिन्न है। साथ ही साथ बौद्ध धर्म की तरह नास्तिक भी नहीं है।

—मेगास्थनीज, ग्रीक इतिहासकार

• • •

साफ प्रगट है कि भारतवर्ष का अधःपतन जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त के कारण नहीं हुआ था, बल्कि जब तक भारतवर्ष में जैनधर्म की प्रधानता रही थी, तब तक उसका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है और भारतवर्ष के ह्रास का मुख्य कारण आपसी प्रतिस्पर्धामय अनैक्यता है जिसकी नींव शंकराचार्य के जमाने से दी गई थी।

—मि० रेवरेन्ड जे० स्टीवेन्सन सा०
(जैनमित्र वर्ष २४ अङ्क ४० से)

महावीर और गोशालक

• मुनिश्री नगराजजी
अणुव्रत परामर्शक

इतिहास और शोध के क्षेत्र में तटस्थता आए, यह नितान्त अपेक्षित है। साम्प्रदायिक व्यामोह इस क्षेत्र से दूर रहे, यह भी अनिवार्य अपेक्षा है। पर तटस्थता और नवीन स्थापना भी भयावह हो जाती है; जब वे एक व्यामोह का रूप ले लेती है। गोशालक के सम्बन्ध मे विगत वर्षों मे गवेषणात्मक प्रवृत्ति बढ़ी है। आजीवक मत और गोशालक पर पश्चिम और पूर्व के विद्वानों ने बहुत कुछ नया भी ढूंढ निकाला है। पर खेद का विषय यह है कि नवीन स्थापना के व्यामोह में कुछ एक विद्वान गोशालक सम्बन्धी इतिहास मूल से ही औंधे पैर खड़ा कर देना चाह रहे हैं। डा० वेणी माधव बरुआ कहते हैं—"यह तो कहा ही जा सकता है, कि जैन और बौद्ध परम्पराओं मे मिलनेवाली जानकारी से यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि जिस प्रकार जैन गोशालक को महावीर के दो ढोंगी शिष्यों में से एक ढोंगी शिष्य बताते हैं, वैसा वह था। प्रत्युत उन सूचनाओं से विपरीत ही प्रमाणित होता है, अर्थात् मैं कहना चाहता हूं कि इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इतिहासकार प्रयत्नशील होते हैं तो उन्हें कहना ही होगा कि—उन दोनों में एक दूसरे का कोई ऋणी है तो वास्तव में गुरु ही ऋणी है, न कि जैनों द्वारा माना गया उनका ढोंगी शिष्य[1]।" डा० बरुआ ने अपनी धारणा की पृष्ठभूमि में यह भी माना है—"महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद जब वे अचेलक हुए, तब आजीवक पंथ में चले गए[2]।" इसके साथ-साथ डा० बरुआ ने इस आधार को ही अपने पक्ष में गिनाया है कि गोशालक भगवान महावीर से दो वर्ष पूर्व जिनपद प्राप्त कर चुके थे[3]। यद्यपि डा० बरुआ ने यह स्वीकार किया है कि—"ये सब कल्पना के ही महान् प्रयोग[4] हैं" तो भी उनकी उन कल्पनाओं ने किसी-किसी को अवश्य प्रभावित किया है और तदनुसार उल्लेख भी किया जाने लगा है और श्री गोपालदास जीवाभाई द्वारा अनुदित सूत्रकृतांग (गुजराती) के उपोद्घात (पृ० ३४) में वह उल्लेख द्विगुणितरूप से मिलता है। वे लिखते हैं—महावीर और गोशालक ६ वर्ष तक एक साथ रहे थे। अतः जैन सूत्रों में गोशालक के विषय में विशेष परिचय मिलना ही चाहिए। भगवती, सूत्रकृतांग, उपासकदशांग आदि सूत्रो मे गोशालक के विषय में विस्तृत या संक्षिप्त कुछ उल्लेख मिलते भी हैं। किन्तु उन सब में गोशालक को चारित्र-भ्रष्ट तथा महावीर का एक शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया लगता है, कि सामान्यतया ही उन उल्लेखों को आधारभूत मानने का मन नहीं रह जाता। गोशालक के सिद्धान्त को यथार्थ रूप से रखने का

1. The Ajivkas J. D. L. Vol. II 1920 pp. 17-18
२. वही, पृ० १८
३. वही, पृ० १८
४. वही, पृ० २१

यथाशक्य प्रयत्न डा० वेणी माधव बरुग्रा ने ग्रपने ग्रन्थ[1] में किया है[2]।

धर्मानन्द कोशाम्बी प्रभृति लोगों ने भी इसी प्रकार का ग्राशय व्यक्त किया है । यह सुविदित है कि गोशालक सम्बन्धी जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, वे जैन ग्रौर बौद्ध परम्परा से ही सम्बद्ध हैं। उन ग्राधारों पर ही हम गोशालक का समग्र जीवन-वृत्त निर्धारित करते है। जैन ग्रौर बौद्ध परम्पराग्रों से हट कर यदि हम खोजने बैठें तो सम्भवतः हमें गोशालक नामक कोई व्यक्ति ही न मिले। ऐसी स्थिति में एतद् विषयक जैन ग्रौर बौद्ध ग्राधारों को, भले ही वे किसी भाव ग्रौर भाषा में लिखे गये हों, हमें मान्यता देनी ही होती है। कुछ ग्राधारों को हम सही मानलें ग्रौर बिना किसी हेतु के ही कुछ एक को हम ग्रसत्य मानलें, यह ऐतिहासिक पद्धति नही हो सकती। वे ग्राधार निर्हेतुक इसलिए भी नहीं माने जा सकते कि जैन ग्रौर बौद्ध दो विभिन्न परम्पराग्रों के उल्लेख इस विषय में एक दूसरे का समर्थन करते हैं। डा० जेकोबी ने भी तो परामर्श दिया है—"ग्रन्य प्रमाणों के ग्रभाव में हमें इन कथाग्रों के प्रति सजगता रखनी चाहिए [3]।"

तथारूप निराधार स्थापनाएं बहुत बार इसलिए भी ग्रागे से ग्रागे बढ़ती जाती हैं कि वर्तमान गवेषक मूल की ग्रपेक्षा टहनियों का ग्राधार ग्रधिक लेते हैं। प्राकृत व पाली की ग्रनन्यास दशा में वे ग्रागमों ग्रौर त्रिपिटकों का सर्वांगीण ग्रवलोकन नहीं कर पाते ग्रौर ग्रंग्रेजी व हिन्दी प्रबन्धों के एकांगी पूरावे उनके सर्वाधिक ग्राधार बन जाते हैं। यह देख कर तो बहुत ही ग्राश्चर्य होता है कि सामान्य शास्त्र-सुलभ तथ्यों के लिए भी विदेशी विद्वानों व उनके ग्रन्थों के प्रमाण दिये जाते हैं। जैन ग्रागमों के एतद् विषयक वर्णनों को केवल ग्राक्षेपात्मक समझ बैठना भूल है। जैन ग्रागम जहां गोशालक व ग्राजीवक मत की निम्नता व्यक्त करते हैं, वहां वे गोशालक को ग्रच्युतकल्प तक पहुंचा कर ग्रौर उनके ग्रनुयायी भिक्षुग्रों को वहां तक पहुंचने की क्षमता प्रदान कर उन्हें गौरव भी तो देते हैं। गोशालक के विषय में वह गोशाला में जन्मा था, वह मंख था, वह ग्राजीवकों का नायक था ग्रादि बातों को तो हम जैन ग्रागमों के ग्राधार से मानें ग्रौर जैनागम की इस बात को कि वह महावीर शिष्य था, निराधार ही हम यों कहें कि वह महावीर का गुरु था, बहुत ही हास्यास्पद होगा। यह तो प्रश्न ही तब पैदा होता, जब जैन ग्रागम उसे शिष्य बतलाते ग्रौर बौद्ध व ग्राजीवक शास्त्र उसके गुरु होने का उल्लेख करते। प्रत्युत स्थिति तो यह है कि महावीर के सम्मुख गोशालक स्वयं स्वीकार करते हैं कि गोशालक तुम्हारा शिष्य था, पर मैं वह नहीं हूं। मैंने तो उस मृत गोशालक के शरीर में प्रवेश पाया है। यह शरीर उस गोशालक का है, पर ग्रात्मा भिन्न है। इस प्रकार विरोधी प्रमाण के ग्रभाव में ये 'कल्पनात्मक प्रयोग' नितान्त ग्रर्थ शून्य ही ठहरते। यह प्रसन्नता है की बात है कि इस निराधार धारणा के उठते ही ग्रनेकों गवेषक विद्वान इसका निराकरण भी करने लगे हैं [4]।

ग्राजीवक भिक्षुग्रों के ग्रब्रह्म-सेवन का उल्लेख ग्रार्द्रकुमार प्रकरण में ग्राया है, इसे भी कुछ एक लोग नितान्त ग्राक्षेप मानते हैं [5]। केवल जैन ग्रागम ही ऐसा कहते तो यह सोचने का ग्राधार बनता, पर बौद्ध शास्त्र भी ग्राजीवकों के ग्रब्रह्म-सेवन की मुक्त पुष्टि करते हैं [6]। निगण्ठ ब्रह्मचर्यवास में ग्रौर ग्राजीवक

---

१. प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलोसोफी, पृ० २८७-३१८
२. महावीर स्वामी नो संयम धर्म, पृ० ३४
3. S. B. F. Vol. XLV, Introduction, P. XXXIII
४. देखें—डा० कामताप्रसाद द्वारा लिखित लेख, वीर, वर्ष ३ ग्रंक १२-१३; चीमनलाल जयचन्द शाह एम० ए० द्वारा लिखित प्रबन्ध—उत्तर भारत मां जैन धर्म, पृ० ५८ से ६१
५. महावीर नो संयम धर्म, पृ० ३४
6. Ajivkas Vol. I; मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४ Encylopaedia of Religion and Ethics, Hoernle, P. 261

अब्रह्मचर्यवास में गिनाए भी गए हैं [1]। गोशालक कहते थे, तीन अवस्थाएं होती है—बद्ध, मुक्त, और नबद्ध नमुक्त। वे स्वयं को मुक्त–कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था—मुक्त पुरुष स्त्री सहवास करे तो भी उसे भय नहीं [2]। ये सारे प्रसंग भले ही उनके आलोचक सम्प्रदायों के हों, पर आजीवकों की अब्रह्म विषयक मान्यता को एक गवेषणीय विषय अवश्य बना देते हैं। एक दूसरे के पोषक होकर ये प्रसंग अपने आप में निराधार नहीं रह जाते। इतिहासविद् डा० सत्यकेतु डी० लिट्० ने गोशालक के भगवान महावीर से होने वाले तीन मतभेदों में एक स्त्री-सहवास बताया है [3]। कुल मिलाकर कहा जा सकता है, जैन आगमों का आजीवकों को अब्रह्म के पोषक बतलाना आक्षेप मात्र ही नहीं है। कोई सम्प्रदाय-विशेष ब्रह्मचर्य को सिद्धान्त रूप से मान्यता न दे, यह भी कोई अनहोनी बात नहीं है। भारतवर्ष में अनेकों सम्प्रदाय रहे हैं, जिनके सिद्धान्त त्याग और भोग के सभी सम्भव विकल्पों को मानते चले हैं। हम अब्रह्म की मान्यता पर ही आश्चर्यान्वित क्यों होते हैं, उन्हीं धर्मनायकों में अजित केशकम्बल जैसे भी थे जो आत्म अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते थे। यह भी एक प्रश्न ही है कि ऐसे लोग तपस्यायें क्यों करते थे। अस्तु नवीन स्थापनाओं के प्रचलन में और प्रचलित स्थापनाओं के निकारण में बहुत ही जागरूकता और गंभीरता अपेक्षित है।

निम्न महाशय ने जैतपुर विराजमान लीबडी सम्प्रदाय के महाराज श्रीलवजी स्वामी से भेंट की। आपने महाराज श्री के साथ जैन रिलीजन सम्बन्धी चर्चा पौन घण्टे तक की, आखिर में आपने जैन मुनियों के पारमार्थिक जीवन और त्याग धर्म की योग्य प्रशंसा की और पीछे से पत्र द्वारा अपना सन्तोष जाहिर किया। इसमें बहुत तारीफ करने के साथ समयाभाव से अधूरा विषय छोड़ना पड़ा, इसका अफसोस जाहिर किया।

—मि० एच. डब्लयू वर्धन सं० एजेंट

जैन वर्तमान १४ जून १६३३ ई० से

---

१. चुल्ल वग्ग, स्यन्दक सुत्त ६–२

२. महावीर कथा, पृ० ११७; तीर्थंकर वर्धमान पृ० ८३।

३. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ०१६३

• डा० वासुदेव सिंह
एम. ए., पी-एच. डी.
हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ-विश्व विद्यालय
वाराणसी

महयंदिरा मुनि

महायंदिरा नामक मुनि का एक ग्रंथ-'दोहा पाहुड (बारहखड़ी)' प्राप्त हुआ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल को जयपुर के 'बड़े मंदिर के शास्त्र भाण्डार' में प्राप्त हुई थी, जिसकी सूचना उन्होंने 'अनेकान्त' (वर्ष १२, किरण ५) में दी थी। इसकी एक अन्य हस्तलिखित प्रति मुझे 'आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर' में देखने को मिली थी। कासलीवाल जी की प्रति में ३३५ दोहे हैं। लिपिकाल पौष सुदी १२ बृहस्पतिवार सं० १५६१ है। उसकी प्रतिलिपि श्री चाहड सौगाणी ने कर्म क्षय निमित्त की थी। मुझे प्राप्त प्रति में दोहों की संख्या ३३५ ही है। इसका आरम्भ एक श्लोक द्वारा जिनेश्वर की वंदना से हुआ है। श्लोक इस प्रकार है :

'जयत्य शेषतत्वार्थ प्रकाशिप्रथितश्रियः ।
मोहध्वातौघनिर्भेदि ज्ञान ज्योति जिनेशिन ॥१॥

अन्त में लिखा है कि इस प्रति को सं० १६०२ में वैशाख सुदि तिथि दसमी रविवार को उत्तर फाल्गुन नक्षत्र में राजाधिराज शाह आलम के राज्य में चंपावती नगरी के श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय के भट्टारक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के यह भट्टारक श्री पद्मनन्दी देव के पट्ट भट्टारक श्री शुभचन्द्र देव के पट्ट भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्र देव ने लिपिबद्ध किया।

'संवत १६०२ वर्षे वैसाख सुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्र उत्तर फाल्गुने नक्षत्रे राजाधिराज साहि आलमराजे। नगर-चम्पावती मध्ये ॥ श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय ॥ श्री मूलसंघे नद्याम्नायेबलाकार गणे सरस्वती गदे भट्टारक श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये। भट्टारक श्री पद्मनन्दी देवातत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत् शिष्य मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्र देवा। तदाम्नायेयं इलवात्मान्वये उमस्तगोठिक सास्त्र कल्याण व्रतं निमित्ते अर्जिका विनय श्री संजोगू दत्तं। ज्ञानवान्यादेन निर्भयो। अभइट्ठानतः अंबदानात सुनीनित्यं निब्बार्धा भेषजाद् भवेत् ॥६॥'

छन्द संख्या और रचनाकाल

कवि ने एक दोहे में ग्रंथ का रचनाकाल और छन्दों की संख्या इस प्रकार दिया है।

'तेतीसह छह छंडिया विरचिय सत्रावीस।
बारह गुणिया तिण्णिसय हुआ, दोहा चउबीस ॥६॥

अर्थात् १७२० में विरचित ३३६ (तेतीस के साथ छः छन्दों को यदि १२×३०) तिण्णिसय=त्रिशतः ३६० में छोड़ दिया जाय या निकाल दिया जाय तो २४ दोहे शेष रह जाएंगे अथात् ३६० में जिस सख्या को निकाल देने से २४ संख्या शेष रह जाती है, कवि ने उतने ही छन्दों में यह काव्य लिखा। यह संख्या ३३६ होती है। 'दोहा पाहुड' की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में छन्द संख्या ३३५ ही है, जिनमें दो श्लोक और शेष दोहा छन्द है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकारों से एक दोहा छूट गया है। आमेर शास्त्र भाण्डार वाली प्रति में तो एक श्लोक भी अधूरा है। 'नमोऽस्त्वनन्ताय जिनेश्वराय' के बाद छन्द (संख्या ३) प्रारम्भ हो गया है। ग्रंथ में एक स्थान पर दोहों की संख्या ३३४ दी भी गई है। वह अंश इस प्रकार है।

'चउदीस गह्म तिरिण सय विरचिम्र दोहाबेल्लि' ।।५।।
इस प्रकार ३३४ दोहों में दो श्लोक मिला देने से कुल छन्द संख्या ३३६ हो जाती है।

कवि ने रचनाकाल १७२० दिया है। यह विक्रम सं० नहीं हो सकता, क्योंकि वि० सं० १५६१ और १६०२ को तो हस्तलिखित प्रतियां ही उपलब्ध है। अतएव यह वीर निर्वाण सम्वत् प्रतीत होता है। कवि ने वीर निर्वाण सं० १७२० अर्थात् विक्रम सम्वत् १२५० में यह काव्य लिखा। काव्य की भाषा भी १३ वी शती की प्रतीत होती है। १८ वीं शताब्दी में इस प्रकार के अपभ्रंश के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय तो जैन कवि भी हिन्दी में काव्य रचना कर रहे थे।

कवि-परिचय

ग्रंथ के अनेक दोहों में कर्ता के रूप में 'महयंदिण मुनि' का नाम आया है। लेकिन इनका कोई विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। उन्होंने इतना ही लिखा है कि सांसारिक दुःख के निवारण के लिए वीरचन्द के शिष्य ने दोहा छन्द में यह काव्य लिखा।

'भव दुक्खह निव्विणएण, वीरचन्दसिस्सेण।
भवियह पडिबोहण कया दोहाकव्व मिसेण ।।४।।

इसके अतिरिक्त केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे विक्रम की १३ वी शती में विद्यमान थे।

काव्य रूप, नामकरण तथा ग्रंथ का विषय

काव्य का नाम 'दोहापाहुड' है और वह 'बारहखडी' पद्धति पर लिखा गया है। कवि ने 'बारह खड़ी या' 'बारह अक्खर' का उल्लेख दो दोहों में किया है। प्रारम्भ में जिनेश्वर की वंदना के बाद वह कहता है :—

'बारह विउणा जिणणवमि, किय बारह अक्खरकक्क
इसी प्रकार ३३३ वें दोहे में लिखा है।

'किम बारक्खम कक्क, सलक्खण दोहहिं।

मध्यकाल में अनेक काव्य-रूप जैसे शतक, बावनी, बत्तीसी, छत्तीसी, पचीसी, चौबीसी, अष्टोत्तरी आदि प्रचलित थे। उनमें एक 'बारहखड़ी' भी था। बारहखड़ी को 'बावनी' का विकसित काव्य-रूप माना जा सकता है। ककहरा और अखरावट भी इसी प्रकार का एक काव्य-रूप होता है। बावनी काव्य की रचना हिन्दी वर्णमाला के आधार पर होती है। हिन्दी में स्वर और व्यञ्जन मिलाकर ५२ अक्षर होते हैं। 'इन बावन अक्षरों को नाद स्वरूप ब्रह्म की स्थिति का अंश मानकर इन्हें पवित्र अक्षर के रूप में प्रत्येक छन्द के आरम्भ में प्रयुक्त किया जाता है। हिन्दी में इस प्रकार के लिखे गए बावनी काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। केवल अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में ही लगभग २५-३० बावनी काव्यों की हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं।

बारहखड़ी काव्य में प्रत्येक व्यञ्जन के सभी स्वर रूपों के आधार पर एक-एक छन्द की रचना होती हैं। इस प्रकार एक ही व्यञ्जन के दस या ग्यारह रूप (जैसे क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं आदि) बन जाते हैं महयंदिण मुनि ने इसी पद्धति का प्रयोग किया है। महयंदिण मुनि के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इस काव्य-रूप को अपनाया। सं० १७६० में कवि दत्त ने हिन्दी मे एक 'बारहखड़ी' की रचना की थी। लेकिन इसमें ७६ पद ही हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किशोरी शरण लिखित 'बारहखड़ी' का उल्लेख किया है (पृष्ठ-३४५)। इसका रचनाकाल सं० १७६७ है। सं० १८५३ मे चेतन नामक कवि ने ४३६ पदों 'अध्यात्म बारहखड़ी' की रचना की थी। और उसी समय की सूरत कवि द्वारा लिखित एक 'जैन बारहखड़ी' भी मिलती है।

महयंदिण मुनि ने अंत में ग्रंथ के महत्व और उसके पढ़ने का फल बताने के बाद कहा है कि 'दोहापाहुड' समाप्त।

'जो पढ़इ पढ़ावइ संभलइ, देविणुदविलिहावइ।
महयंदु भणइ सो नित्तुलउ, अक्खइ सोक्ख परावइ ।।३३५।
'।। इति दोहापाहुडं समाप्त ।।

इससे स्पष्ट है कि ग्रंथ का नाम 'दोहापाहुडं' है और 'बारहखड़ी' उसका काव्य-रूप है।

मुनि रामसिंह के दोहापाहुड़ के समान यह भी एक रहस्यवादी काव्य है। यद्यपि जिस ढंग से मुनि रामसिंह ने आत्मा-परमात्मा के मधुर सम्बन्ध का वर्णन किया है

अथवा बाह्याचार और पाषण्ड का उपहास किया है अथवा शिव-शक्ति के मिलन या समरसता की दशा का उल्लेख किया है, वह व्यापकता महयंदिए मुनि में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त 'बारहखड़ी' का कवि जैन धर्म की मान्यताओं से अधिक दबा हुआ प्रतीत होता है। अनेक दोहों में तो उसने सामान्य ढंग से केवल जिनेश्वर की वंदना या अहिंसा का उपदेश मात्र दिया है। लेकिन पूरे ग्रंथ के अध्ययन से यह भी-स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर मुनि रामसिंह की रहस्यवादी भावना का प्रभाव है। उसने भी अन्य रहस्यवादी कवियों के समान ब्रह्म की स्थिति घट में स्वीकार की है, गुरु को विशेष महत्व दिया है, माया से मुक्ति का उपाय बताया है, बाह्याचार की अपेक्षा चित्त शुद्धि और इन्द्रिय-नियन्त्रण पर बल दिया है और पाप-पुण्य दोनों को बंधन का हेतु बताया है। उसका कहना है कि जिस प्रकार दूध में घी होता है, तिल में तेल होता है और काठ में अग्नि होती है, उसी प्रकार परमात्मा का वास शरीर में ही है।[1] यह परमात्मा रूप, गंध, रस, स्पर्श, शब्द, लिंग और गुण आदि से रहित है। उसका न कोई आकार है, न गुण।[2] गौरवर्ण या कृष्ण वर्ण दुर्बलता अथवा सबलता तो शरीर के धर्म हैं। आत्मा सभी विकारों से रहित और अशरीरी है।[3] ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति किसी बाह्याचार से नहीं हो सकती। सिर मुंडाने या केश बढ़ाने में कोई अन्तर नहीं है। जप, तप, व्रत आदि से उसकी प्राप्ति की कामना अविवेक है।[4] रेचक, पूरक, कुम्भक, इड़ा, पिंगला तथा नाद विन्दु आदि के चक्कर में न पड़कर, अपने अन्तर में स्थित 'संत निरंजन' को ही खोजना चाहिए।[5] इस प्रकार आपने सहज भाव से परमात्म-पद प्राप्ति में विश्वास व्यक्त किया है और इसी को सर्वोत्तम साधना स्वीकारा है।

---

१. खीरहं मंभहं जेम घिउ, तिलहं मंझि जिम तिलु।
कट्ठिउ बासणु जिम वसइ, तिम देहहि देहिल्लु ।। २३ ।।

२. रूप गंध रस फंसडा, सद्द लिङ्ग गुण हीण।
अछइसी देहडिय सउ, घिउ जिम खीरह लीणु ।। २७ ।।

३. गोरउ कालउ दुब्बलउ, बलियउ एउ सरीरु।
अप्पा पुणु कलिमल रहिउ, गुणवंतउ असरीरु ।। २८ ।।

४. जब तब वेयहि धारणहिं, कारणु लहण न जाइ।
।। ६१ ।।

५. रेचय पूरय कुंभयहि, इउ पिंगलहि म जोइ।
नाद विंद कलिबज्जियउ, संतु निरंजणु जोइ ।।२७८।।

बैराठ स्थित मुगलकालीन जैन मन्दिर

• डा० सत्यप्रकाश

सम्राट अकबर श्री हरिविजय सूरिजी महाराज के दया सम्बन्धी धर्मोपदेशों से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने राज्य भर में १०६ दिन 'अमारी' की आज्ञा प्रसारित कर दी। इससे सब प्रकार के जीवों को अभयदान कम से कम वर्ष के १०६ दिन एक समय मिल गया। यह आज्ञा सम्राट अकबर द्वारा सन् १५८२ ई० को जारी की गई थी। इसके अनुसार पशु वध सारे राज्य में १०६ दिन दण्डनीय अपराध था।

राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर की चहल पहल से ५३ मील दूर जयपुर दिल्ली राजमार्ग पर स्थित बैराठ नगर में जो किसी समय किम्वदन्तियों के आधार पर विराट नगर कहा जाता था और जिसे महाभारत युगीन कहाजाता है तहसील के निकट एक जैन मन्दिर है जो राजस्थान के इतिहास में ही नही वरन् जैन साहित्य के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

स्थापत्य कला की दृष्टि से इस मन्दिर मे गर्भगृह के पूर्व एक सभा मण्डप है। गर्भगृह के तीनों ओर एक प्रदक्षिणा पथ है। यह पथ चौड़ा है। ऊंची दीवालों मे घिरा एक लम्बा चौकोर चौक इस मन्दिर के अन्दर है। पूर्व दिशा में सामने की ओर एक सुन्दर अलङ्करणों से प्रयुक्त स्तम्भोदार द्वार मण्डप है। अन्दर की ओर चौक की दक्षिणी दीवार में एक बड़ा पत्थर पर अङ्कित लेख है जिसे सर्व प्रथम डा० भण्डारकर प्रकाश में लाये थे। यह शिलालेख अद्यावधि पूरी तरह से प्रकाश में नहीं लाया गया है। शिलालेख में ४० पंक्तियां हैं। यद्यपि शिलालेख का बहुत सा भाग खण्डित है और अस्पष्ट है इसके अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि राकमाण गोत्रोत्पन्न श्रीमाल वंशज इन्द्रराज द्वारा तीन तीर्थङ्करो की मूर्तियां उस मन्दिर में स्थापित की गई थी। इन मूर्तियों में पार्श्वनाथ की एक पाषाण प्रतिमा उन्होंने अपने पिता की स्मृति में तथा दूसरी ताम्र प्रतिमा चन्द्रप्रभाजी अपने नाम पर तथा तीसरी ऋषभदेवजी की अपने भाई अजयराज के नाम पर स्थापित कराई थी। इन प्रतिमाओं को उन्होंने मुख्य देवता बिमलनाथजी के नाम पर मन्दिर में स्थापित कराई थीं। इस मन्दिर में विमलनाथजी की प्रतिमा मुख्य प्रतिमा थी। इस मन्दिर को इन्द्र विहार की संज्ञा दी गई थी। इस मन्दिर का एक दूसरा नाम भी था और वह था महोदय प्रासाद। इस मन्दिर को बैराठ में उन्होंने बहुत धन व्यय करके निर्मित कराया था।

इस मन्दिर की मूर्तियों की प्रतिष्ठा एक बहुत बड़े सन्त द्वारा की गई थी। ये सन्त तत्कालीन महान विभूतियों में से थे। उनका नाम था हर विजय सूरिजी-महाराज श्री कल्याण विजय गणिजी महाराज श्रीहरि बिजय सूरिजी के पट्ट शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरु को इस पुण्य कार्य में बड़ा ही सहयोग प्रदान किया था। तत्कालीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता हैं कि श्रीहीर विजय सूरि का तो कहना ही क्या उनके शिष्य श्री कल्याण विजय गणिजी महाराज

तत्कालीन धर्मात्माओं के मस्तिष्क रूपी क्षेत्र के तत्व ज्ञानरूपी बीज बोने में सिद्धहस्त थे और उनको उस समय इस कला का विशारद मानते थे।

मूर्तियों की स्थापना की तिथि शक सं० १५०६ के फाल्गुण मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया बताई गई है। यह तिथि अकबर सम्राट के शासन काल में जाकर पड़ती है। शक सम्वत का समकालीन विक्रम सम्वत भी इस लेख में कभी दिया हुआ था पर अब वह मिट सा गया है। इस लेख की तीन से लेकर ११ पंक्तियों मे अकबर के सम्बन्ध में प्रशस्ति दी गई है। इस प्रशस्ति के आधार पर अकबर ने अपने शौर्य की धाक चारों दिशाओं में जमादी थी। यही नहीं उसने अपने विरोधियों के समूह रूपी अन्धकार का नाश किया था और नल, रामचन्द्र, युधिष्ठिर और विक्रमादित्य के समान प्राचीन राजाओं की उत्तम श्रेणी वाली ख्याति को प्राप्त कर लिया था। सम्राट अकबर भी हरि विजय सूरिजी महाराज के दया सम्बन्धी धर्मोपदेशों से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने राज्य भर में १०६ दिन 'अमारी' की आज्ञा प्रसारित करदी। इससे सब प्रकार के जीवों को अभयदान कम से कम वर्ष के १०६ दिन सब समय मिल गया। यह आज्ञा सम्राट अकबर द्वारा सन् १५८२ ई० को जारी की गई। इसके अनुसार पशुवध सारे राज्य में १०६ दिन में दण्डनीय अपराध था। इन १०६ दिनों में १८ दिन पर्यूषण पर्व के, ४० दिन अपने जन्म दिवस के उपलक्ष में और वर्ष के ४८ रविवार सम्मिलित थे। बैराठ के जैन मन्दिर मे स्थान पाने वाले शिलालेख में दानी इन्द्रराज की वंशावली के साथ साथ महात्मा हीर विजयसूरि की वंशावली का भी उल्लेख है।

हमें इस शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि हीर विजय सूरिजी महाराज को संसार का गुरु उस समय कहा जाता था। यह उपाधि सम्राट अकबर ने उनके प्रति श्रद्धावनत होकर दी थी। इस उपाधि के साथ साथ सम्राट ने उन्हें एक ग्रन्थ भण्डार भी भेंट किया था तथा बहुत से बन्दियों को मुक्त करने का आदेश भी प्रदान किया था। शिलालेख में लिखा है कि यद्यपि हुमायूं के पुत्र जलालुद्दीन अकबर के चरणों की रज से विभूषित होने के लिये कश्मीर, कामरूप, काबुल, बदखशां, मरुस्थली, गुर्जरात्रा, मालव आदि के राजा लोग तत्पर रहते थे। श्री हीर विजय सूरिजी महाराज उन्हें अपने दैवीगुणों के कारण नतमस्तक करने मे सफल हुये थे।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि श्री हीर विजयसूरि की फतेह सीकरी जाकर अकबर से मिलने की घटना का उल्लेख तथा वर्ष की कुछ तिथियों पर राज्य भर में पशुवध बन्द करने की आज्ञा का उल्लेख देवविमल गणि रचित महाकाव्य हीर सौभाग्यम् में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित है। इस ग्रन्थ में मुनिवर के विषय में काव्यमय विशद उल्लेख है। किन्तु जो तिथि पशुवध निषेध की इस काव्य में वर्णित है, वह बैराठ मे प्राप्त शिलालेख मे दी गई तिथियों से विभिन्न है यद्यपि इस महा काव्य के १४ सर्ग के २६१ और २६३ श्लोकों में इन्द्रराज के निमन्त्रण पर श्री हीर विजयसूरि द्वारा बैराठ में जैन मन्दिर की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का वर्णन दिया हुआ है।

इस महा काव्य का रचना काल ज्ञात नहीं है पर दोनों महा काव्य और शिलालेख के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि महा काव्य बैराठ के शिलालेख के बहुत बाद रचा गया होगा।

कुछ भी हो बैराठ का जैन मन्दिर तथा उसमें स्थान पाने वाला शिलालेख जैन संस्कृति तथा इतिहास की आरम्भ विधियां हैं।

अपरिग्रह और समाजवाद

• बिरधीलाल सेठी

अपरिग्रहवाद अचेतन (प्रकृति) से भिन्न चेतन तत्व (आत्मा) के अनादि अस्तित्व को मानता है (कि सुख दुख अनुभव करना अचेतन का गुण नहीं हो सकता) जब कि समाजवाद प्रकृति को मूल तत्व मानता है, आत्मा को नहीं (वह अचेतन से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है) । यही अपरिग्रहवाद और समाजवाद में सबसे बड़ा और बुनयादी अन्तर है कि जिसके कारण दोनों की "सुख क्या है" इस विषय की धारणा अलग अलग हो गई है ।

समाज को शोषणमुक्त करके भौतिक दृष्टि से सुखी बनाने के लिए "समाजवाद" (जिसे आधुनिक भौतिक वाद या आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते हैं) वर्तमान समय में अधिकांश देशों में किसी न किसी रूप में अपनाया जा रहा है । इसके आचार्य कार्ल मार्कस के अनुसार इसका ध्येय ऐसी वर्गहीन समाजव्यवस्था स्थापित करना है कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम करे और अपनी आवश्यकतानुसार भोगोपभोग के पदार्थ प्राप्त करे । इसका चरम लक्ष्य ऐसे राज्यसत्ता रहित समाज (Stateless society) की स्थापना है कि जिसमें मानव समाज एक सम्मिलित कुटुम्ब के रूप में बदल जावे और कोई भी व्यक्ति, वर्ग या समुदाय दूसरे व्यक्ति, वर्ग या समुदाय का शोषण नहीं कर सके । उनकी मान्यतानुसार प्रकृति ही मूल तत्व है (आत्मा नहीं) और उनके द्वारा प्रतिपादित, विकास की द्वंदात्मक प्रणाली, इतिहास की भौतिक व्याख्या और वर्गसंघर्ष के सिद्धांतों के अनुसार आर्थिक आधार पर ही शोषण करने वाले और शोषित वर्गों के बीच समाज में संघर्ष रहता आरहा है अतः उनका दृष्टिकोण केवल आर्थिक है और भौतिक सुख एवं भौतिक सुख साधनों की वृद्धि ही उनका उद्देश्य है तथा उसकी पूर्ति के लिए राज्य सत्ता पर मजदूर वर्ग के एकाधिपत्य तथा उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के लिए संघर्ष किया जाता है और संघर्ष में हिंसात्मक उपायों की भी आवश्यकता हो तो उनका भी प्रयोग किया जा सकता है और किया गया है समाजवाद में कोई भी व्यक्ति निठल्ला या बेरोजगार नहीं रह सकता और वैयक्तिक संपत्ति भी समाजवाद के लिए असह्य है । समाजवाद मानता है कि व्यक्ति समाज के लिए है । व्यक्ति समाज का एक कलपुरजा मात्र है, उसका कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है ।

समाजवाद का सर्वप्रथम और महत्वपूर्ण प्रयोग सोवियत रूस (सोवियत समाजवादी गणराज्य) में हुआ है । वहां सशस्त्र क्रांति के द्वारा रूस की जारशाही का अंत किया गया तथा पूंजीपति और जमीदार वर्गों को समाप्त कर दिया गया । उनके संविधान के अनुसार शासनतंत्र में प्रजातन्त्रीय पद्धति से चुनाव होते हैं । प्रत्येक वयस्क को चाहे वह समाजवादी पार्टी का सदस्य है या नहीं, मत देने का समान अधिकार है । मतदान गोपनीय प्रणाली से होता है । परन्तु श्रमिक वर्ग ही

बहुमत में होने से शासनतंत्र में उन्हीं का एकाधिपत्य (Dictatorship) है। उद्योग धंधों और बैंकों का समाजीकरण करदिया गया है। कृषि फार्मों पर संयुक्त या सहकारी संस्थाओं का स्वामित्व है (भूमि स्टेट की है) यद्यपि ऐसे भी खेत है जिनमे राज्य स्वयं खेती करता है। संयुक्त या कृषि सहकारी संस्थाएँ खेती हो नहीं करतीं, पशुपालन, पानी व आटे की चक्कियां, डेरीफार्म, जूते बनाना, ईंटें बनाना, लकड़ी के काम तथा बर्तन बनाने आदि उद्योग भी चलाती हैं। किसान अपने २ मकान से लगी हुई जमीन पर वैयक्तिक खेती भी कर सकते है परन्तु केवल इतनी सी ही कि जिसे वे अपने ही श्रमसे, बिना किसी को नौकर रक्खे कर सकते हों। इसी प्रकार दस्तकार लोग भी बिना किसी को नौकर रक्खे अपनी छोटी २ दुकानें व्यक्तिगत रूप से चला सकते हैं। वहां प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य के लिए श्रम करना आवश्यक है। जो श्रम नहीं करता उसे समाज से कुछ लेने का भी अधिकार नहीं है। वेतन काम के अनुसार दिया जाता है (आवश्यकतानुसार नहीं कि जैसा मार्क्स ने प्रतिपादित किया है), "From each according to his ability, to each according to his work" वहां अपनी आय से बचाकर प्रत्येक व्यक्ति वैयक्तिक संपत्ति भी रख सकता है और उसे अपने रहने के मकान, घरेलू उपयोग के सामान और अपने गृह उद्योग में लगा सकता है परन्तु उससे बड़े २ उद्योग धधे चलाकर लाभ नहीं कमा सकता। अस्तु अपने ही श्रम से कमाई हुई आय की बचत एक सीमा तक ही संग्रह हो सकती है। वैयक्तिक संपत्ति के उत्तराधिकार का अधिकार भी वहां है। इस प्रकार सोवियत रूस ने कार्लमार्क्स के सिद्धांतों में व्यवहारिकता का विचार कर संशोधन कर लिया है। अन्य कई देशों में भी राज्य व्यवस्था में भिन्न २ प्रकार के परिवर्तनों के साथ समाजवाद प्रयोग किया जारहा है।

अपरिग्रहवाद अचेतन (प्रकृति) से भिन्न चेतन तत्व (आत्मा) के अनादि अस्तित्व को मानता है (क्योंकि सुख दुख अनुभव करना अचेतन का गुण नहीं हो सकता) जबकि समाजवाद प्रकृति को मूल तत्व मानता है, आत्मा को नहीं (वह अचेतन से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है)। यही अपरिग्रहवाद और समाजवाद में सबसे बड़ा और बुनियादी अंतर है कि जिसके कारण दोनों की "सुख क्या है" इस विषय की धारणा अलग २ होगई है। जहां अपरिग्रहवाद आध्यात्मिक सुख को ही महत्व देता है, समाजवाद भौतिक सुख को ही सुख मानता है, समाजवाद भौतिक सुख को ही 'सुख' मानता है। अपरिग्रहवाद की 'सुख' संबंधी मान्यता यह है कि सुख का स्रोत आत्मा के अंदर है। सुख बाहर से नहीं आता। भौतिक वस्तुओं में सुख नहीं है, प्रत्युत भौतिक वस्तुओं में व्यक्ति जितना अधिक ममत्व (आसक्ति) रक्खेगा उतनाही अधिक दुखी होगा। यदि भौतिक वस्तुओं मे ही सुख का स्रोत होता तो प्रत्येक वस्तु उसका व्यवहार करने वाले सब व्यक्तियों को सर्वदा एकसा सुख देती परन्तु अनुभव से यह बात सिद्ध नहीं होती। जिस रोटी को एक व्यक्ति घृणा करके फेंक देता है उसी को दूसरा व्यक्ति बड़े आनंद के साथ खाता है। एक व्यक्ति अपनी सुंदर पत्नी से बड़ा स्नेह करता है परन्तु जिस क्षण उसे यह ज्ञात होता है कि वह दुराचारिणी है उसे दुश्मन समझने लग जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सुख का स्रोत हमारे अन्दर है बाहर नहीं। हम बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में जैसी हमारे लिए इष्ट या अनिष्ट होने की धारणा बना लेते हैं वैसी ही अच्छी या बुरी हमें प्रतीत होने लगती हैं। जिस वस्तु को हम अपने लिए अनिष्ट समझते हैं उसका संयोग होने पर हम दुःख अनुभव करने लगते है और जिसे इष्ट समझते हैं उसके संयोग से अपने आपको सुखी अनुभव करते है। इसके अतिरिक्त जहाँ आध्यात्मिक सुख स्थायी होता है, भौतिक वस्तुओं से प्राप्त सुख अस्थायी होता है। अस्तु अपरिग्रहवाद के अनुसार, भौतिक वस्तुओं के प्रति ममत्व और पर द्रव्य में इष्ट अनिष्ट कल्पना ही दुख का कारण है। इसीको उसने 'परिग्रह' संज्ञा दी है और बताया है कि मानव उतना ही अधिक सुखी होगा जितना अधिक वह अपने परिग्रह को, संग्रह की भावना को, वैयक्तिक संपत्ति को और अपने जीवननिर्वाह की आवश्यकताओं को स्वेच्छा-पूर्वक कम कर देगा। अपरिग्रहवाद, तरह तरह के वैज्ञानिक

आविष्कारों द्वारा भौतिक सुखों की वृद्धि की लालसा का भी विरोधी है। महात्मा गांधी के शब्दों में "सच्चे सुधार, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों ज्यों परिग्रह घटाइये त्यों त्यों सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता है।" "आत्मा की दृष्टि से विचार करने से तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छा से हमने शरीर का आवरण खड़ा किया है और उसे कायम रखते हैं। भोगेच्छा अत्यंत क्षीण होजाय तो शरीर की आवश्यकता मिट जाय, मनुष्य को नया शरीर धारण करने को न रहजाय।" इससे यह बात स्पष्ट है कि अपरिग्रहवाद का लक्ष्य व्यक्ति है, समाज नहीं (वैसे वह परोक्ष रूप से समाज का भी सुख वर्धन करता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करदे और धन का अनावश्यक संग्रह न करे तो किसी को तंगी न पड़े और सबको संतोष रहे)। आध्यात्मिक सुख है, भौतिक सुख नहीं और प्रत्येक व्यक्ति से अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने के लिए ही बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व अर्थात् बाह्य पदार्थों के परिग्रह का त्याग कराना चाहता है। अपरिग्रहवाद भोगोपभोग के पदार्थों के संग्रह का और वैयक्तिक संपत्ति का विरोधी ही नहीं, आदर्श के रूप में उनकी आवश्यकता को इतनी सीमित कर देना चाहता है कि व्यक्ति स्वाद का विचार किये बिना केवल इतना सा जिसमे शरीर कायम रह सके भोजन मात्र लेकर अपने आपको अत्यंत सुखी अनुभव करे, वस्त्र की भी उसे आवश्यकता न रहे और यह सब स्वेच्छापूर्वक (किसी के दबाव से नहीं) कराना चाहता है क्योंकि दूसरों के दबाव से करने पर व्यक्ति अपने आप को सुखी अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु बाह्य पदार्थों से ममत्व केवल कह देने मात्र से नहीं छूट जाता, इसके लिए साधना करनी पड़ती है। बहुधा व्यक्ति ऐसा किये बिना और इसके सिद्धांत को पूर्णतया समझे बिना अपरिग्रहवादी होने की विडंबना करने लगजाता है। शरीर में ममत्व बनाये रखता है, अच्छे से अच्छे सुस्वादु और पौष्टिक भोजन करना चाहता है परन्तु उसके लिए श्रम नहीं करना चाहता। अस्तु ऐसे व्यक्ति जो समाज के उत्पादन का भाग तो लेना चाहते हैं परन्तु उनके उत्पादन श्रम में हिस्सा बटाना नहीं चाहते, समाज के लिए भार रूप हो जाते हैं। जब तक उनकी संख्या अल्प रहती है तब तक उनकी ओर उपेक्षा रहती है परन्तु जब उनकी तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों की भी जो भोगोपभोग वस्तुओं के उत्पादन में श्रम तो नहीं या नगण्य सा करते हैं परन्तु लेना अधिक से अधिक चाहते हैं। समाज में संख्या बढ़ जाती है कि कुल उत्पादन सबके लिए पर्याप्त नहीं होता या उसके वितरण में विषमता बढ़ जाती है, समाज में उनका विरोध शुरू हो जाता है। ऐसी ही परिस्थिति का परिणाम राज्य व्यवस्था है और समाजवाद उसका आधुनिक रूप है।

समाजवाद का लक्ष्य समाज है। राज्य सत्ता को हाथ मे लेकर, सम्पूर्ण समाज (जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शामिल है) के भौतिक सुख की वृद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति से काम कराना और उत्पादन का समाज में इस प्रकार वितरण कराना कि सब सुखी हों, उसका ध्येय है। जहां अपरिग्रहवाद व्यक्ति की बाह्य तथा मन की क्रिया (दोनों) के नियमन पर जोर देता है, समाजवाद केवल बाह्य क्रिया का ही नियमन करता है, मनकी क्रिया पर नियमन उसके लिए संभव भी नहीं है। अस्तु जो अपरिग्रहवादी है वह समाजवादी भी अवश्य है परन्तु जो समाजवादी है उसका अपरिग्रहवादी होना निश्चित नहीं है। परिणामस्वरूप, समाजवादी राज्य व्यवस्था का आदर्श ऊँचा होते हुए भी उसमें भी निम्न प्रकार के दोष पैदा होजाते हैं—

१. मार्क्स के अनुसार व्यक्ति समाज का एक कलपुरजा मात्र है, उसका कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है। उनकी दृष्टि में उत्तम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थात् समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उत्तम व न्यायानुमोदित उपायों का ही प्रयोग किया जावे प्रत्युत किसी भी प्रकार के छल, कपट, झूँठ और हिंसात्मक उपायों के प्रयोग का उनने अनुमोदन किया है। अस्तु रूस और चीन में राज्यसत्ता को हथियाने और पूँजीपति और जमींदार वर्गों की सम्पत्ति

छीनने के लिए उनका खून किया गया, उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। यही नहीं, जिन लोगों को वहां राज्य सत्ता प्राप्त हुई उनने अपनी सत्ता, कायम रखने के लिए लोगों की विचार प्रगट करने की स्वतंत्रता का हनन कर दिया और अपने विरोधियों को, चाहे वे समाजवादी विचार धारा वाले ही थे, मौत के घाट उतार दिया। अतः समाजवादी विचार धारा वाले कुछ देशों ने इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया है। उनने निश्चय किया है कि समाजवाद वैधानिक तरीकों से ही लाया जावेगा, बलपूर्वक नहीं। बिना उचित मुआवजा दिये किसी की संपत्ति नहीं छीनी जावेगी और प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रगट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। परन्तु उनने पूँजीवादियों से पोषण पाने वाली उस पार्लमेंट्री पद्धति को अपना लिया है जिसके संबंध में हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी ने "हिंद स्वराज्य" मे पृष्ठ ३० से ३८ पर निम्न विचार व्यक्त किये हैं।

"इंगलेंड की इस समय जो हालत है उसे देखकर तो सचमुच दया आती है और मैं तो ईश्वर से मनाता हूं कि वैसी हालत हिंदुस्तान की कभी न हो। जिसे आप पार्लमेंटों की मा कहते है वह तो बांझ और वेश्या है। "इतना तो सभी मानते है कि पार्लमेंट के मेम्बर ढ़ोंगी और स्वार्थी हैं। सब अपनी ही खेंचातानी में लगे रहते है।" "कार्लाइल ने पार्लमेंट को दुनिया भर की बकवास की जगह बतलाया है। जिस दल का जो मेम्बर होता है, वह उसी दल को आंख मूद कर अपना मत देता है।" "जितना समय और धन पार्लमेंट बरबाद करती है, उतना समय और धन कुछ अच्छे आदमियों को मिले तो जनता का उद्धार हो जाय। यह पार्लमेंट तो जनता का सिर्फ एक मनोरंजन है, जिसमें उसका बड़ा खर्च होता है। इन्हें आप मेरे ही मनघड़न्त विचार न समझें, बल्कि बड़े २ अक्लमंद अंग्रेजों के भी यही विचार है।" "मेरा तो यह पक्का विचार है कि हिन्दुस्तान ने इङ्गलैंड की नकल की तो उसका सर्वनाश हो जावेगा।" प्रचलित पार्लमेंट्री पद्धति के संबंध में महात्मा गांधी द्वारा ५६ वर्ष पूर्व व्यक्त किये गये उपरोक्त विचारों का तथ्य अब तक के अनुभव से पूर्णतया प्रमाणित है। यदि समाजवादी विचार धारा से जनसाधारण को लाभ होना है तो इस पद्धति तथा चुनाव प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक है।

२. समाजवाद चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार तो काम करे परन्तु लेवे केवल अपनी आवश्यकतानुसार। परन्तु रूस तथा अन्य समाजवादी देशों ने भी इसे अव्यवहारिक पाया है। रूस में ही जहां एक व्यक्ति को २५० रुबल मासिक मिलता है, दूसरे को ४००० रुबल मिलता है। और अधिक वेतन पाने वाले लोग अपनी बचत को बैंक में जमा कर व्याज भी कमा सकते हैं और उसका उत्तराधिकार भी दे सकते हैं। इससे प्रगट होता है कि जिसका जितना महत्वपूर्ण व उपयोगी कार्य हो उसको उतनाही अधिक वेतन व लाभ देना व बचत के संग्रह व उत्तराधिकार का अधिकार देना समाजहित मे अच्छा काम करने वाले तथा योग्य व्यक्तियों के प्रोत्साहन के लिए आवश्यक है। इसका परिणाम—उँचा वेतन पाने वाले व्यक्तियों और उनकी संतानों के पास कालांतर मे पूँजी का संग्रह। धनी व्यक्तियों की उत्पत्ति समाज मे सर्वदा इसी प्रकार होती रही है और विशेष योग्यता, प्रतिभा वाले और उत्तरदायित्व उठाने वाले व्यक्ति समाज मे सर्वदा अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक धनवान रहे है और रहेंगे अतः समाजवादी व्यवस्था मे भी न तो उन्हें धनवान बनने से रोका जा सका है और न उनका धन छीना जा सका है। ऐसी स्थिति में, धनवान व्यक्तियों के पास जनसाधारण की अपेक्षा जो अधिक धन हो उसे निरुपयोगी न बना दिया जावे तो वे उससे इन्द्रिय सुख व विलासिता के ऐसे २ साधन जुटा लेते हैं जो साधारण लोगों को उपलब्ध नहीं होते। जिनके पास इतनी आय नहीं होती उन्हें उससे ईर्षा होती है। उदाहरण के लिए एकबार एक मजदूर ने मेक्सिम गोर्की से (जो रूस के सर्वोच्च लेखक और लेनिन के मित्र थे) कहा "कामरेड, आपके पास जो कोट है वह फटा हुआ नहीं है और मेरे पास जो कोट है वह फटा हुआ है, यह कहां का न्याय है।" अस्तु जब साधारण आय वाले व्यक्ति, अधिक आयवाले

व्यक्तियों के सुख साधनों को देखते हैं तो उन्हें ईर्षा होती है और वे भी चोरी या बेइमानी से पैसा कमाकर वैसे ही सुख साधन प्राप्त करना चाहते हैं। यही कारण है कि रूस जैसे समाजवादी देश तथा अमरीका जैसे सम्पन्न देश में भी जुर्म करने वालों की संख्या कम नहीं है। इस विषम स्थिति का एक ही उपाय है, वह यह कि जिनके पास अधिक धन है उनके धनको (छीनने के बजाय) निरुपयोगी कर दिया जावे। इसके लिए देश की उत्पादन क्षमता और प्रति व्यक्ति औसत आय का विचार करते हुए जीवन निर्वाह का एक स्टेंडर्ड (Standard of Living) नियत किया जावे और सम्पूर्ण देश को एक कुटुम्ब के समान समझकर ऐसी योजना बनाई जावे कि जिन २ वस्तुओं व सुख साधनों का उस स्टेंडर्ड के अनुसार उत्पादन किया जावे वह इतनी मात्रा में हो कि प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकतानुसार उपलब्ध हो सके तथा विशेष सुख सामग्री तथा बिलासिता की वस्तुओं का उत्पादन नहीं होने दिया जावे और यदि पहले से उत्पादन हो रहा हो तो निकास कर दिया जावे, रेलों में केवल एक क्लास हो। ताकि एक धनवान को भी वे ही और उसी क्वालिटी की वस्तुएँ और सुख साधन उपलब्ध हो सकें जो एक साधारण आय वाले व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा करने पर धनवानों का, साधारण लोगों के स्तर से बेशी धन निरुपयोगी ही नहीं होजावेगा प्रत्युत देश की अनेकों समस्याएँ जैसे मंहगाई, ब्लेक मारकेट से पैसा कमाना, भ्रष्टाचार, सत्ताकीभूख, अनावश्यक उद्योग धंधों के स्थापित किये जाने से होनेवाली विदेशी विनिमय की कमी आदि, अपने आप हल हो जावेंगी, बहुतसी शासन व्यवस्था अनावश्यक हो जावेगी और शासन खर्च कम होजावेगा। जबकि वर्तमान स्थिति में ज्यों ज्यों अधिक से अधिक अच्छा इलाज किया जा रहा है बीमारी और बढ़ती जारही है। परन्तु जीवन निर्वाह का स्टेंडर्ड (Standard of Living) नियत करने से पूर्व तत्संबंधी भ्रामक धारणाएँ दूर होजानी आवश्यक हैं अतः मैं विलासिता प्रधान आजकल की सभ्यता के संबंध में महात्मा गांधी के कुछ शब्द उद्धृत कर देना उचित समझता हूँ, "यह सभ्यता अधर्म है पर इसने यूरोपवालों पर ऐसा रंग जमाया है कि वे इसके पीछे दीवाने हो रहे हैं", "जो लोग हिंदुस्तान को बदल कर उस हालत पर लेजाना चाहते हैं जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है, वे देश के दुश्मन और पापी हैं।"

अपरिग्रहवाद और समाजवाद का जो तुलनात्मक विवेचन किया गया है उससे प्रगट होगा कि दोनों का अलग २ क्षेत्र है। जहां अपरिग्रह वाद का लक्ष्य व्यक्ति है, समाजवाद का लक्ष्य समाज है। परन्तु क्योंकि व्यक्ति समाज का अंग है अतः समाजवाद अपने ऊँचे आदर्श को प्राप्त कर सके इसके लिए आवश्यक है कि समाज के अंग (व्यक्ति) या कम से कम वे लोग, जिनके हाथ में राज्यसत्ता हो, अपरिग्रहवादी भी हों।

जैन-धर्म सर्वथा स्वतन्त्र है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है। और इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्व ज्ञान का, धर्म पद्धति का अध्ययन करने वालों के लिये वह बड़े महत्व की वस्तु है।

—डा० हर्मन जैकोबी

जैन अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्व

• रामवल्लभ सोमानी
बी. ए., साहित्यरत्न
जयपुर

क्रमबद्ध एवं प्रामाणिक इतिहास के लिए शिला लेखो का बड़ा महत्व है। इतिहास के रंगमंच पर कई राजवंश आये एवं धूम केतु की तरह चमक कर विलीन भी हो गये। निश्चित प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे उनका सब वर्णन प्रस्तुत करना अत्यन्त ही कठिन है। एवं इस दिशा मे शिलालेखादि सामग्री ही ऐसी है जिनसे यथेष्ठ सहायता ली जा सकती है। यद्यपि जैन शिला लेखो और ग्रंथ प्रशस्तियो मे प्रायः किसी राजवंश का क्रमबद्ध इतिहास नही लिखा रहता है किन्तु प्रासंगिक वर्णन भी समसामयिक इतिहास के लिए बडा महत्व का है।

प्राचीनतम जैन लेखो मे उडीसा हाथी गुम्फा का कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का लेख बडा प्रसिद्ध है। यह लेख समसामयिक इतिहास के लिए बडा महत्वपूर्ण है। इसमें राजा खारवेल की दिग्विजय का भी उल्लेख है। इस लेख के अनुसार उसने सातवाहन राजा शातकर्णी को हराकर कृष्णानदी तक के भू-भाग पर अधिकार किया, महाराष्ट्र के भोजको को पराजित किया एवं मगध को विजित किया।[1] इस लेख की ७वी और ८वी पंक्ति मे बडी महत्वपूर्ण सूचना यह भी दी गई है कि उसने यवन राजा दिमित को मध्यदेश मे भगाया। इसी यवन राजा के भारत आक्रमण सम्बन्धी उल्लेख पतंजलि के[2] महा भाष्य, मालविकाग्निमित्र[3] एव गर्ग संहिता के युग पुराण[4] मे भी है। लेकिन पतंजलि एव कालीदासने राजा का नाम नही दिया है। युग पुराण मे इसको धर्ममीत कहा है जो अस्पष्ट है। इस लेख के मिलने के पूर्व यवन राजा मेनेन्डर जो "मिलिन्द नामक" पन्दो नामक बौद्ध ग्रंथ का नायक भी है आक्रान्ता माना जाता था किन्तु इस लेख के मिल जाने से भारतीय इतिहास मे एक महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त इस लेख और वीर संवत ८४[5] के अजमेर के बड़ली के लेख से पता

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अंग ३ पृ० ३०१

२ "अरुणद्यवनः साकेतम्"

३ मालविकाग्निमित्र मे कालीसिंधु के दक्षिणी तट पर यवनो से वसुमित्र का युद्ध होने का उल्लेख है। दोनो घटनायें सम सामयिक है क्योंकि पतंजलि ने महा भाष्य मे "पुष्यमित्रं याजयामः" कहकर अपने को पुष्यमित्र का समकालीन बतलाया है।

४ धर्ममीत तमा वृद्धाजनं भोक्ष्यन्ति निर्भयाः।
यवना क्षाप यिष्यंति (नश्येरन) च पार्थिवाः।
मध्यदेशे न स्थापयन्ति यवना युद्ध दुर्मदा।
तेषामन्योय संभावं भविष्यवि न संशय। —(कोशोत्सव संग्रह मे जायसवाल का लेख)

५. वीर निर्वाण संवत और विक्रमी संवत के मध्य ४७० वर्ष का अन्तर है।
"विक्रमकालाज्जिनस्य वीरस्य कालो जिनकालः शून्यमुनिवेद युक्तः चत्वारिशतम्नि सतत्यधिक वर्षाणि श्री महावीर विक्रमादित्ययोरंतर मित्यर्थः। विचार श्रेणी-मेरुतुंग सर्ग द्वारा विरचित।

चलता है कि उत्तरी भारत में जैनधर्म राजस्थान से उड़ीसा तक प्रचलित था। खारवेल मगध से एक "कलिंगजिन" की मूर्ति भी लाया था जिसे उसने अपने राज्य में प्रतिष्ठित किया था। संभवतः भगवान महावीर के समय में भी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं बनना शुरू हो गई थी उड़ीसा में खारवेल के पहले भी जैन धर्म प्रचलित था। खंडगिरी के जैन स्तूप में किसी 'अर्हत्' की अस्थियां भी रखी जाना ज्ञात हुआ है।

कालकाचार्य कथानक भी बड़ा प्रसिद्ध है। इसके अनुसार जैनाचार्य कालकाचार्य उज्जैन के राजा गर्द के अत्याचारों से तंग आकर शक राजा के पास गये और उन्हें भारत आक्रमण के लिए प्रेरित किया। यह घटना वीर निर्वाण के ४५३ के आसपास सम्पन्न हुई मानी जाती है।[६]

मथुरा से कनिष्क के वंशजो के शासन काल के कई जैन लेख मिले हैं। जिनमें तत्कालीन राजाओं और उनके शासन काल के संवत दिये हुये हैं। वल्लभी, भीनमाल और गुजरात के प्रारंभिक इतिहास के लिए जैन सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण है। वल्लभी खंडन ३ बार होना जैन साहित्य में प्रसिद्ध है। पहला खंडन, वि सं० ३७५ के आसपास, दूसरा वि० सं० ५१० एवं तीसरा ८४५ में।[७] भीनमाल का उल्लेख वि० सं० ७३३ में लिखी निशीथ चूर्णि[८] में वर्णित है। शक सं० ६९९ (वि० सं० ८३५) में लिखी कुवलयमाला में भी इसका उल्लेख है। इस ग्रंथ में जबालीपुर के राजा वत्सराज का भी उल्लेख है।[९] इसी वत्सराज का उल्लेख जैन हरिवंश पुराण में भी है। यह ग्रंथ शक सं० ७०५[१०] में पूर्ण हुआ था। इस ग्रन्थ के अनुसार उत्तर में इन्द्रायुध दक्षिण मे कृष्ण का पुत्र वल्लभ पूर्व में वत्सराज और पश्चिम में जयवराह राजा था। इन दोनों में ५-६ वर्ष का अन्तर है। इन वर्षों में वत्सराज जबालीपुर (जालोर) से मालवा पर अधिकार कर लिया प्रतीत होता है। राष्ट्रकूटराजा गोविन्द का जिसे यहां कृष्ण का पुत्र वल्लभ कहा है, बहुत थोड़े लेखों में ही वर्णन है। उसके शासनकाल की तिथि इसी हरिवंशपुराण के आधार पर निश्चित की जाती है। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला के एक लेख में अकलंक देव और राष्ट्रकूट राजा कृष्ण का उल्लेख है। इसी का वंशज अमोघवर्ष बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इसके शासनकाल में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ लिखे गये। जिनसेन[११] इस का

---

६. जिन प्रभ सूरि के तीर्थ कल्प में इस प्रकार वर्णन है :—
तह गद्ध भिल्ल रज्जस्सच्छेयगो काल गायरिओ हो ही।
तेवण्ण चउसएहिं गुण सयकलिओ सु अप उत्ती।
श्री मोहनलाल द० देसाई जैन साहित्य नो इति० पृ० ६६

७. वही पृष्ट १३०

८. रुप्पमयं जहा भिल्लमाले चम्म लातो नि० चू० १०।२५५

९. श्री मोहनलाल द० देसाई—जैन साहित्य नो इति० पृ० १७५।७६
श्री नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य का इतिहास पृ० ११८

१०. शाकेष्वब्द शतेषु सप्तषु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्री वल्लभे दक्षिणां।
पूर्वां श्री मदवन्ति भू भृति नृपे वत्सादि राजेऽपरां।
सौराणांमधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
श्री नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य का इतिहास पृ० ११६ पर दिया गया उदाहरण

११. पार्श्वाभ्युदय में उसने लिखा है कि
"इत्यमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचित मेघदूत वेष्टित" (ज० बं० ब्रां० रा० ए० सी० भाग १८ पृ० २२४)

गुरु था। इसके शासनकाल का वर्णन कई जैन ग्रंथों मे मिलता है। प्रथम बार इसका मूलनाम "बोछुणाये" [12] जैन ग्रन्थों में ही मिलता है। अमोघ वर्ष संभवतः उपनाम था। [13] सोमदेव के यश तिलक की प्रशस्ति मे लिखा है कि शक सं० ८८१ चैत्र सुदी १३ को जिस समय कृष्णराज पांड्य, चोल, सिंहल चेर आदि राजाओं को जीतकर, मेलपाटी नामक सैनिक शिविर में था उस समय उनके सामंत वछिगको के राजत्व काल में ग्रंथ पूर्ण हुआ।

मध्यकालीन इतिहास के लिए जैन सामग्री अपेक्षाकृत अधिक महत्व की है। गुजरात के चालुक्यों का इतिहास जैन कवियो ने बड़े गौरव के साथ लिखा है। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय काव्य एवं कुमारपाल चरित मे कई ऐतिहासिक प्रसंग हैं। मेरुतुंग द्वारा विरचित "प्रबन्ध चिन्तामणि" मे चावडो और सोलंकियो का इतिहास दे रखा है लेकिन प्रसंगवश कई अन्य राज्यवंशो का भी इतिहास है। चावडों के इतिहास के बारे मे कुछ अशुद्धियां रह गई थी जिसे पुनः विचारश्रेणी नामक ग्रंथ मे उसने ठीक किया है। कुमारपाल पर कई पुस्तकें लिखी गई हैं। इनमें जयसिंह सूरी और चारित्र सुन्दर की रचनाएं बडी प्रसिद्ध हैं। वस्तुपाल चरित वि० सं० १४४० में लिखा गया इसमे भी सोलंकियों का इतिहास है [14]। मेवाड पर हुये आक्रमण का उल्लेख हमीर मद मर्दन नामक नाटक में है। इसे वि० सं० १२८६ आषाढ बदि ६ को पूर्ण किया गया है [15]। यह घटना वि० सं० १२८४–८५ को सम्पन्न हुई थी। वि० सं० १३९० मे कक्क सूरि द्वारा लिखित "नाभिनन्दनजिनोद्धार ग्रंथ" में अलाउद्दीन के मेवाड आक्रमण और रावल रत्नसेन को पकड़ कर ले जाने का उल्लेख है। [16] यह उल्लेख समसामयिक फारसी ग्रंथ "खजाइन उलफतुह" में भी नही है। इसी प्रकार तीर्थ कल्प के सत्यपुर कल्प में अलाउद्दीन के वि० सं० १३५३ में गुजरात आक्रमण का उल्लेख है। [17] इसमें यह भी उल्लेख है कि अलाउद्दीन का छोटा भाई उलूगखां मेवाड के रावल समरसिंह से हारा था।

मध्य कालीन जैन शिलालेख अधिकांशतः मूर्त्तियो पर उत्कीर्ण हुए मिले हैं। इनके प्रारंभ मे सेवन दिया रहता है। प्राचीनतम लेखो में संवत ही दिया गया है जबकि बाद के लेखों मे तिथियां भी दी हुई हैं। मेवाड के करेडा के पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के वि० सं० १०३९ के लेख [18] में केवलमात्र "सं० १०३९ वर्षे" शब्द अंकित है। सांडेराव के मूलनायक शांतिनाथ के वि० सं० १२२१ [19] के लेख मे "१२२१ माघ वदि २ शुक्रे" लिखा हुआ है। इनके पश्चात् तत्कालीन राजा का नाम दिया हुआ मिलता है। नाडोल के वि० सं० ११९५ के लेख मे "महाराजाधिराज [20] रायपाल देव विजय राज्ये"

१२. बोछणं रायणरिंदे नरिंद चूडमणिम्हि मुंजंते ॥९॥
नाथुराम प्रेमी जै० इ० पृ० १४७

१३. वही पृ० १७८

१४. ओझा निबन्ध संग्रह भाग १ पृ० ३८।४८

१५. ओझा-उदयपुर राज्य का इति० भाग १ पृ०

१६. श्री भंवरलाल नाहटा पद्मिनी चरित चोपाई की भूमिका

१७. "अह तेरमय छपन्न विक्कम वरिसे अलावदीण सुरताणस्य कणिट्ठो भाया उलूखान नामधिज्जो ढिल्ली पुराओ मति मादव पेरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ चित्तकूडाहिवई समरसिंहेणं दउं दाउं मेवाड देसो तया रक्खि ओ" (तीर्थ कल्प में सायपुर कल्प पृ० ९५)

१८. जैन सर्वतीर्थ संग्रह भाग २ पृ० ३४४

१९. वही भाग १ खंड ii पृ० २१२

२०. वही पृ० २२४

शब्द लिखा हुआ है। इसी प्रकार १३५६ के बाघीण[२१] के शांतिनाथ मंदिर के लेख में "नड्डुलदेशे बाघसीणग्रामे श्री सामन्त देव" शब्द है। रणकपुर के वि० सं० १४६६[२२] व बिजोलिया के १२२६[२३] के विस्तृत लेखों में पूरी वंशावली दी हुई है। किन्तु अधिकांशतः लेखों में वंशावलियां नहीं है। संवत के पश्चात् कहीं कहीं श्रेष्ठियों के और कहीं आचार्यों के नाम दिये गये हैं। दिगम्बर लेखों में प्रायः आचार्यों का उल्लेख पहले आता है। नागदा वि० सं० १३६१[२४] के लेख में "सं० १३६१ वर्षे चैत्र वदि ४ रवौ देव श्री पार्श्वनाथस्यमूलसंघाचार्य शुभचन्द्र "बिजोलियां के वि० सं० १४८३[२५] के लघु लेख में" श्री बलात्कारगणे। सरस्वती गच्छे। माईसंघे। कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री कीर्तिदेव "लिखा है। इनके पश्चात् बिबया शिला पत्का जिसकी प्रतिष्ठा हुई है उल्लेख मिलता है। अन्त में शुभं भवतु आदि होता है।

इन लेखों में सबसे उल्लेखनीय बिजोलियां का १२२६ का श्रेष्ठि लोलाक द्वारा उत्कीर्ण कराया जैन उन्नत शिखर पुराण का लेख है। इस लेख में चोहानों की वंशावली दी हुई है। इससे चोहानों के प्रारंभिक इतिहास के शोध में बड़ी सहायता मिली है। इसी लेख के आधार से पृथ्वी राज रासो को जाली सिद्ध करने में भी सहायता मिली है, रणकपुर के वि० सं० १४६६ के लेख में मेवाड के गुहिलवंशी राजाओं का इतिहास दे रखा है। यह लेख मध्य कालीन अन्य लेखों की तुलना में वंशावली के लिए बड़े महत्व का है।

इसमें कुंभा के शासनकाल के प्रारंभिक ६ वर्षों के कार्यकाल में हुये युद्धों का एवं विजयों का भी सविस्तार वर्णन है। इन लेखों के अतिरिक्त अन्य कई लेखों से राजनैतिक स्थिति का परिचय मिलता है। वि० सं० १२०१ के पाली के एक मूर्त्ति के लेख से ज्ञात होता है कि "महामात्य" का पद प्रायः वंश परम्परागत ही दिया जाता था। इस लेख में "महामात्य आनन्दसुत महामात्य पृथ्वी पाल"[२६] शब्द अंकित हैं। वि० सं० १३३३ के भीनमाल के एक लेख के[२७] अनुसार चाचिगदेव सोनगरा के मुख्यामात्य "गजसिंह" जो पंचकुल का भी प्रधान था उल्लेख है। इसमें पंचकुल संस्था को सम्बोधित कर दान दिया है अतएव उसकी स्थिति का पता चलता है। मंडपिकाओं का और कर व्यवस्था सम्बन्धी भी कई उल्लेख मिलते हैं। करेडा के वि० सं० १३२६ के चाचिगदेव सोनगरा के लेख में नाडोल की मंडपिका से कुछ द्रव्य देने का उल्लेख है। चित्तौड के वि० सं० १३३५[२८] के वैशाख सुद ३ के एक लेख के अनुसार भटेश्वरगच्छ के एक जैनाचार्य के उपदेश से रावल समरसिंह की माता जयतल्लदेवी ने श्याम पार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया एवं चित्तौड सज्जन-

---

२१. वही पृ० २३८

२२. आर्कियोलोजकल सर्वे रिपोर्ट आफ इंडिया वर्ष १९०७।८ पृ २१३।२१५

२३. ज० आर० एस० बी० भाग ५५ पृ० ४१।४३
वीर विनोद भाग को शेष संग्रह में छपा मूल लेख।

२४. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट आफ वेस्टर्नसर्कल वर्ष १९०५।६ पृ० ६३

२५. वही पृ० ६३७
जैन एन्टी क्युरी भाग १७ अंक १ पृ० ६७

२६. सं० १२०१ ज्येष्ठ वदि ३ रवौ श्री पल्लि कायां श्री महावीर चैत्ये महामात्य श्री आनन्द सुत महामात्य श्री पृथ्वीपालेनाल श्रेयार्थं जिन युगलं प्रदत (मूल छापसे)

२७. अर्हं श्री श्रीमाले महाराजकुल श्री चाचिगदेत कल्याण विज्य राज्ये तन्नियुक्त मंहं० गजसिंह प्रभृति पंचकुल प्रतिपतौ (जैन सर्व तीर्थ संग्रह भाग १२ पृ० १७५)

२८. ओझा उदयपुर राज्य का इति० भाग १ पृ० १७६

पुर ग्राघाट ग्रादि मंडपिकाग्रों से दान की भी व्यवस्था की। कई बार इन मंडपिकाग्रों से सीधा ही दान दे दिया जाता था। सोढेराव के वि० सं० १२२१ के लेख में [२६] कल्हण सोनगरा की माता ग्रानलदेवी ने राजकीय भोग में से एक दापल ज्वार देने की व्यवस्था की थी। इनके ग्रतिरिक्त कई प्रकार के करों का भी उल्लेख मिलता है। ग्राबू के वि० सं० १३५० के सारंगदेव बाघेला ग्रौर १५०६ के कुंभा के लेखो में ऐसे करो का उल्लेख है जो जैन मंदिरों के दर्शनार्थ ग्राते थे।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी ये लेख बड़े महत्व के हैं। इनमें विविध जातियों की व्युत्पति, उनके इतिहास ग्रौर वंशावलियां ही मिलती है। ग्रोसवालों की ग्राधुनिक जातियां मध्यकाल में ही स्थिर हो चुकी थी। उस काल की विशेषता यह भी है कि श्रेष्ठियो के नाम प्रायः एक शब्दात्मक थे। लेख पूरा संस्कृत में होते हुये भी श्रेष्ठियो के नाम लोकिक भाषा में ही मिलते हैं। कई श्रष्ठि लोग संघ निकाला करते थे। संघपति की उपाधि धारण करना गौरव की बात मानी जाती है। वि० सं० १३५२ के खंभात के एक लेख में मालवा, चितौड एवं सपादलक्ष से यात्रियो के ग्राने का उल्लेख है।

जैन सामग्री का शोध होने पर ग्रौर भी कई महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती है।

महावीर के युग में हिंसा, सम्प्रदायवाद ग्रौर जातिवाद भारतीय राष्ट्र की शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर रहे थे। भगवान ने इन शैतानों को मानव मानस से निकालने के लिये जो ग्रविश्रान्त प्रयास किया उसे इतिहास कभी नहीं भूल सकता।

यदि हमें मानव को वास्तविक ग्रौर स्थायी मान देना है तीर्थकर महावीर के उपदेशों को जन-जन के हृदय तक पहुँचाना चाहिये।

---

२६. ग्रद्येह श्री कल्हण देव राज्ये तस्यमातृ राज्ञी ग्रानल देव्या श्री षंडेरेकी मूलनायक महावीर देवाय चैत्रवदि १३ कल्याणिक निमित्तं राजकीय भोग मध्यात् युगंधर्माः हाएता एकः प्रदत्तः।

महावीर का अनेकांतिक अहिंसा दर्शन

• 'युगल' जैन
एम.ए., साहित्य रत्न
कोटा

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जीओ और जीने दो' की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जन-जीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिए अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने को अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

अहिंसा जीवन का शोधक तत्व है। अहिंसा का सीधा संबंध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार कर्म है। आत्मा ही उसका साधकतम कारण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का संपूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिये ही होता है। उसके फलका उपभोक्ता भी आत्मा ही है। वह आत्मा के अंतरंग बंधनों को तोड़कर जीवन के विकास का पथ प्रशस्त करती है। वास्तव में बहिर्जगत से उसका कोई संबंध नहीं।

अहिंसा के साथ महावीर का नाम छाया और शरीर की भांति जुड़ा हुआ है। वास्तव में महावीर ने मौलिक वस्तु स्वरूप के आधार पर अहिंसा का जो अनेकांतिक स्वरूप जगत् के समक्ष रक्खा, जगत् को उनकी वह देन अद्भुत एवं अद्वितीय है। महावीर का अहिंसा दर्शन एक-सर्वांगीण जीवन-दर्शन है। वह जीवन को जहां से उठाता है, उसे विकास के चरम बिंदु पर लेजाकर रख देता है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता विस्मृत करके आज उसे केवल 'जीओ और जीने दो' की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रहीं। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने का अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है। कोई प्राणी बच गया है उसका संपूर्ण श्रेय अहंकार के शिखर पर चढ़ा आज का अहिंसक अपने ऊपर लेकर पुण्य-संचय से मन में परम संतुष्ट होता हुआ स्वर्ग के कृत्रिम सुखमय जीवन की कल्पनाओं से मन ही मन पुलकित होता रहता है, दूसरे प्राणी को बचाने के विफल प्रयास मूलक अहंकार गर्भित अहिंसा का यह रूप महावीर के दर्शन में हिंसा ही घोषित किया गया है।

अहिंसा के मूलाधार आत्मा को यदि हम भारतीय दर्शनों के स्तर पर परीक्षण करके देखें तो हमें विदित होगा कि लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने एक स्वर से आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है। वहां हमें सुनने को मिलता है कि आत्मा अजर है, अमर है, वह शस्त्रों से नहीं छिदता, अग्नि में नहीं जलता इत्यादि। एक ओर से हमें आत्मा की अमरता के ये गीत सुनाई

देते हैं और दूसरी ओर हम 'जीओ और जीने दो' का राग भी अलापते चलते हैं। यदि आत्मा स्वभाव से अमर है तो फिर एक प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी के वध और रक्षा की बात में कितनी सचाई है ? जो कभी मरता ही नहीं है उसके वध और रक्षा की बात कभी भी वास्तविक नहीं हो सकती। हां ! आत्मा अमर होते हुए भी उसके वध और रक्षा की सतत् श्रद्धा अज्ञान के कारण उत्पन्न तो हो सकती है किंतु इस आस्था के साथ आत्मा के वध और रक्षा जैसी अघटित बातें घटित होने लग जांय यह असंभव है। अथवा आत्मा के वध और रक्षा की व्यवहार नयात्मक शैली में निहित अपेक्षाओं को समझे बिना आत्मा के एकान्त वध और रक्षा का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाय तो आत्मा की अमरता का सिद्धांत काल्पनिक ही रह जायगा।

महावीर ने अहिंसा का जो भव्य स्वरूप विश्व को दिया वह अनेकांत से अनुशासित होने के कारण अपने में इतना परिपूर्ण है कि दूसरे जीव को बचाने रूप स्थूल लौकिक अहिंसा तो उसमें सहज ही पालित होती चलती है। आत्मा की अमरता का सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर 'क्यों कि जीव मरता ही नही है' इस सिद्धांत से छल ग्रहण करके हिंसावृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिये वहां रंच भी अवकाश नही किंतु क्योंकि जीव मरता ही नही है' अतः जीव को मारने के श्रमकी विफलता ज्ञात होजाने पर वध और रक्षामूलक अहंकार तो समाप्त होही जाता है साथ ही शनैः शनैः हिंसा-वृत्तियों का भी शमन होने लगता है। फलस्वरूप आत्म-पौरुष का उपयोग एवं प्रयोग आत्म विकास के लिये ही होने लगता है।

महावीर के अनेकांतिक शासन मे चेतन एवं जड़ सभी की अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सभी पदार्थ एक दूसरे से अत्यंत पृथक रहकर अपने गर्भ में विद्यमान अनंत शक्तियों के बल पर ही अपना जीवन संचालित करते रहते हैं। प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ की काया परस्पर विरुद्ध अनंत धर्मों से निर्मित है। ये परस्पर विरुद्ध धर्म उस वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा करते हैं। समयसार परमागम की गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द ने वस्तु के इस अनैकांतिक स्वभाव की महिमा के गीत गाये हैं।

इस प्रकार लोक में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थों के प्रति यही महान् उपकार है कि वह अपने अविरुद्ध स्वभाव के कारण अपने स्वरूप में ही रहता और विरुद्ध स्वभाव के कारण पर को अपने रूप में नही होने देता। अर्थात् वह सदा पर से विभक्त रहकर अपने एकत्व में प्रतिष्ठित रहता है। यह एकत्व ही वस्तु का परम सौंदर्य है। आत्मा स्वभाव से एकाकी होते हुए भी अपने से पृथक् वस्तु के प्रति विविध विकल्प करता है और यह बंध की कथा ही चेतन की पर्याय में विसंवाद उत्पन्न करती है। यही हिंसा है।

वस्तु के अनैकांतिक स्वरूप मे परस्पर विरुद्ध दो पहलू स्पष्ट-दृष्टि गोचर होते है। एक उसका वह पहलू है जिसके कारण जो कुछ उसका अपना है उसी मे रहता हैं। वह पदार्थ अपने द्रव्य (त्रैकालिकता) अपने क्षेत्र (प्रदेश) अपने काल (क्षणिक पर्याय) और अपने भाव (अनंत शक्तियां) की चतुः सीमा में ही विद्यमान रहता है। इसे वस्तु का अस्ति धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध उसका एक दूसरा पहलू है जिसके कारण उसकी चतुः सीमा (चतुष्ट) मे उससे भिन्न सम्पूर्ण विश्व का प्रवेश निषिद्ध है। इसे पदार्थ का नास्ति धर्म कहते हैं। इस प्रकार पदार्थ एक एकाकी रहता है। इन्ही विशेषताओं के कारण चेतन सदा चेतन रहता है और जड़ सदा जड़। चेतन सदा अपना काम करता है और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन को लाभ हानि नही करता। चेतन कभी जड़ के कार्य का कर्त्ता, तथा कारण नही बनता और जड़ कभी अन्य जड़ तथा चेतन के कार्य का कर्त्ता तथा कारण नही बनता। चेतन तथा जड़ सभी पदार्थ अपने में विद्यमान अनित्य धर्म के कारण सदा स्वतः प्रतिक्षण अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन किया करते हैं यही वस्तु की मर्यादा है। अपनी इस मर्यादा में विद्यमान पदार्थ को अपने अनादि अनंत जीवन मे अन्य अनंत पदार्थों का संयोग भी होता है और वियोग भी किंतु वह समस्त संयोग वियोग वस्तु की सीमा के बाहर ही होता है। वस्तु में प्रति समय उत्पन्न होने वाले कार्यों में अनंत

पदार्थ निमित्त भी बनते हैं किंतु वे भी वस्तु की सीमा के बाहर ही रहते हैं। वस्तु के कार्य-क्षेत्र मे उनका प्रवेश नहीं होता। यह जैन-दर्शन में अनेकांत की स्थिति है जिसके कारण सारा अनंत विश्व अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहता हुआ अनंत सौंदर्य को प्राप्त होता है।

पदार्थ एक ही समय में स्वः अपेक्षा अस्तिरूप ही था पर अपेक्षा नास्तिरूप ही है। इस प्रकार वह अस्ति-रूप भी है और अपने में परके अभाव के कारण वही नास्तिरूप भी है। वह द्रव्य अपेक्षा नित्य ही है। क्यों कि पदार्थ संबंध में 'यह वही है जो पहिले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रतीति उसकी नित्यता को घोषित करती है। तथा वही पदार्थ पर्याय अपेक्षा अनित्य ही है। क्यों कि उसका रूपान्तर प्रति समय प्रतिभासित होता है। इस प्रकार वह एक ही समय में नित्यानित्यात्मक है। वह द्रव्य अपेक्षा भी नित्य हो और पर्याय अपेक्षा भी नित्य हो, अथवा वह द्रव्य अपेक्षा नित्य भी हो और अनित्य भी ऐसा नहीं है। एक जीव स्व अपेक्षा से भी जी जीव हो और अन्य जीव तथा जड़ की अपेक्षा भी जीव हो अथवा वह जीव भी हो और अजीव भी हो अथवा वह स्वकार्य भी करता हो और पर कार्य भी। अनेकांत में 'भी' का ऐसा गलत प्रयोग नही होता। उसमें वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध कोई कल्पना नहीं होती। यदि कर्ता कोई एक पदार्थ हो उसका कार्य किसी दूसरे पदार्थ में हो और कारण कोई तीसरा पदार्थ हो तो तीनों में से कार्य के फल का उपभोग कौन करेगा? यहीं बड़ी दुविधा उत्पन्न हो जायेगी। अतः एक पदार्थ अभिन्न भाव से स्वका कर्ता, कर्म, करण है ऐसा अस्ति-मूलक भाव और वह परका कर्ता, कर्म, करण नहीं है ऐसा नास्ति-मूलक-भाव अनेकांत है। कर्ता, कर्म, करण अभिन्न एक ही वस्तु में होते हैं। ऐसा अबाधित नियम है। अतः भिन्न पदार्थों में यदि कर्त्ता, कर्म, करणत्व की संभावना की जाय तो उनके ऐक्य का प्रसंग उपस्थित होगा और यहीं एकांत है। और दो पदार्थ कभी एक दूसरे में अपनी सत्ता का विलय करके एक होते नहीं है, यदि ऐसा होने लगे तो विश्व का स्वरूप ही नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। अतः ऐसे एकांत की कल्पना सर्वथा मिथ्या है। पदार्थों के परस्पर आत्यंतिक पृथकत्व के कारण जड़ चेतन, चेतना-चेतन, तथा जड़-जड़ में कभी कर्त्ता-कर्म तथा कारण-कार्य भाव बनता ही नहीं है। इस प्रकार एकही पदार्थ में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् आदि परस्पर विरुद्ध अनंत सापेक्ष धर्म विद्यमान रहते हैं जिन्हें अनेकांत कहते हैं और यह अनेकांत वस्तु स्वभाव है। पदार्थ में अनंत शक्ति की विद्यमानता अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं किंतु जो वस्तु के वस्तुत्व के नियामक है उन परस्पर विरुद्ध अनंत सापेक्षा धर्मों की एक ही वस्तु में विद्यमानता केवल जैन दर्शन ही स्वीकार करता है। इस प्रकार जैन दर्शन का संपूर्ण तत्वज्ञान प्रासाद अनेकांत की ठोस आधार शिला पर खड़ा हुआ है।

अनेकांत की इस कसौटी पर यदि हम हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करके देखें तो हमें विदित होगा जब एक जीव संपूर्ण जड़-चेतन विश्व से भिन्न अपने स्वरूप में ही सदा प्रतिष्ठित रहता है और नित्य ध्रुव रहकर प्रतिक्षण अपना विकारी अथवा निर्विकारी उत्पाद-व्यय स्वयं हो निरपेक्ष भाव से किया करता है तो एक जीव हिंसक और दूसरा हिंस्य-इस प्रकार का द्वैत ही उत्पन्न नहीं होता। जीव का प्रति समय का उत्पाद-व्यय ही उसका जीवन-मरण है जो वस्तु स्वभाव है। इस उत्पाद-व्यय की सरिता में जीव प्रति समय उन्मग्न निमग्न हुआ करता है। यही उसका व्यापार है। तब फिर कौन किस समय किसकी हिंसा अथवा रक्षा करे? यदि एक जीवके जीवन और मरण में किसी अन्य जड़ अथवा चेतन पदार्थ का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय तो फिर किसी जीव के वध के सहस्र सहस्र प्रयत्न करने पर भी उसका वध शक्य क्यों नहीं होता और किसी जीव की रक्षा के लक्ष लक्ष प्रयत्न भी विफल क्यों हो जाते हैं?

इस प्रकार एक जीव तथा अन्य जड़-चेतन पदार्थों में परस्पर वध्य-घातक भाव असिद्ध होने पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि लोक में जीव को मारने और बचाने का जो अनादि व्यवहार प्रचलित है क्या वह सर्वथा असत् है? यदि अनेकांत के प्रकाश में वस्तु-स्थिति का अवलोकन किया जाय तो यह निर्विवाद

है कि वस्तु-स्थिति का इस लोक व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई जीव अपने चतुष्टय की चतुः सीमा से बाहर कभी निकलता ही नही है। जिसे हम व्यवहार में हिंसक कहते है वह भी सदा अपनी सीमा में विद्यमान है और जिसे हम हिंसक कहते हैं वह भी अपनी सीमा कभी छोड़ता नही है। दोनों स्व-स्व कार्य निरत हैं। जिसे हम हिंसक कहते हैं वह हिंसा के विकल्परूप अपने विकारी कृत्य में निरत हैं तथा जिसे हम हिंस्य कहते हैं वह अपनी अवस्था के वर्तमान आकार का परित्याग करके दूसरे आकार को प्राप्त करने जा रहा है। अतः वध और रक्षा का व्यवहार वास्तविक नही वरन् औपचारिक ही है। 'भगवान की कृपा से मुक्ति मिली' तथा 'गुरु के प्रसाद से ज्ञान मिला' आदि निमित्त की मुख्यता से अगणित उपचार होते हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति इस कथन के अनुकूल नहीं होती। भगवान की वीतरागता में कृपा के लिये कोई अवकाश नहीं है। हां! प्रत्येक वही प्राणी उनकी वीतरागता से अपनी पात्रता के अनुकूल प्रेरणा ले सकता है यही उनका निमित्तत्व है और इसी को व्यवहार में उनकी कृपा करते हैं। इसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रदिपादित तत्व को सम्पादित किये बिना गुरु का प्रसाद भी कुछ नहीं है। इस प्रकार के कथन में विद्यमान, अनुकूल निमित्त का कार्य के कर्तृत्व का श्रेय देते हुए भी उसी के साथ परिणत उपादान को ही कार्य के कर्तृत्व का संपूर्ण श्रेय है। क्योंकि कार्य उपादान में उसकी स्वशक्ति से ही निष्पन्न होता है।

वस्तु की इस अंतरंग (उपादान सबंधित) एवं बहिरंग (निमित्त एवं संयोग से संबंधित) स्थिति को जानने एवं प्रस्तुत करने की दो पद्धतियां लोक एवं आगम सम्मत हैं। जो वस्तु की अंतरंग स्थिति को निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करती है उस शैली को निश्चय-नय कहते हैं और जो वस्तु के बाह्य वातावरण का अध्ययन के द्वारा वस्तु का ही प्रतिपादन करती है उस शैली को व्यवहार नय कहते हैं। इन दोनों नयों के प्रकाश में यदि हम हिंसा अहिंसा की समीक्षा करें तो 'एक जीव दूसरे जीव का वध अथवा रक्षा करता है' इस निमित्त सापेक्ष कथन में निश्चय-नयका यह रूप तो सदा ही परोक्ष है कि कोई जीव किसी के प्राणों का अपहरण अथवा रक्षा नहीं कर सकता किन्तु प्रत्येक प्राणी आयु परिवर्तन के क्षण को प्राप्त होकर स्वयं ही अन्य गति के प्रति गमन करता हैं तब सहज विद्यमान अनुकूल चतुर्दिक वातावरण पर उसकी रक्षा अथवा मरण के कर्तृत्व का उपचार किया जाता है, यह व्यवहार नयकी औपचारिक शैली है जो वस्तु की बहिरंग स्थिति के द्वारा वस्तु को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार लोक में वध एवं रक्षा के रूप मे हिंसा-अहिंसा का जो व्यवहार प्रचलित है वह वास्तविक नहीं वरन् औपचारिक ही है।

इस संपूर्ण विवेचन से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि जब कोई किसी का वध नही कर सकता और किसी प्राणी की किसी के द्वारा रक्षा नही हो सकती तो फिर हिंसा अहिंसा नाम की कोई चीज भी नही है? इस प्रश्न के समाधान के लिये हमें हिंसा-अहिंसा के स्वरूप पर विचार करना चाहिये। वास्तव में हिंसा-अहिंसा आत्मा की पर्यायें हैं। हैं। जड़ मे उनका जन्म नही होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाय और उसके निमित्त से उस प्राणी की वर्तमान पर्याय का अंत हो जायें अर्थात् मरण हो जाय तो पत्थर को हिंसा नहीं होती। किंतु कोई जीव किसी के वध का विकल्प करे तो उसे अवश्य हिंसा होती है, अतः हिंसा-अहिंसा चेतन की विकारी तथा निर्विकारी दशायें हैं, आत्मा अपने में स्वाधीनता से उनको उत्पन्न करता है। हिंसा का लक्ष्य 'प्रमत्त योगात् प्राण-व्यपरोपणं' कहा है। प्रमत्त-योग आत्मा का ही विकारी कर्म है अतः उस प्रमत्त योगरूप विकारी कर्म का फल प्राण-व्यपरोपण भी आत्मा में ही होता है। प्रमत्त योग रूप अपराध एक आत्मा करे और उसका फल प्राण-व्यपरोपण कोई दूसरा प्राणी भोगे, यह अनर्थ लोक में भी सह्य नहीं होता। आत्मा का एक नित्य शुद्ध त्रैकालिक ध्रुव स्वरूप है। वही उसका वास्तविक रूप है। उसका पर्यायाश्रित वर्तमान स्वरूप विकारी है अतः वह वास्तविक नहीं है। वस्तु की इन दोनों स्थिति को समझ कर जो अपने शुद्ध त्रैकालिक स्वरूप में अपनी वर्तमान पर्याय का विलय अर्थात् तल्लीनता करता है

तब द्रव्य से तद्रूप वह पर्याय अपने स्वरूप में सावधान (अप्रमत्त) होकर प्रवर्तित होती है और वस्तु की उस निर्विकारी द्रव्य से सहकृत निर्विकारी पर्याय को अहिंसा कहते हैं और चैतन्य की वह पर्याय जो अपने शुद्ध स्वरूप से बिछुड़ कर पर की अपेक्षा करती है, अपने स्वरूप में असावधान होकर पर में युक्त होती है पर के संबंध में रागद्वेषात्मक विविध विकल्प करती हैं, उस विकारी पर्याय को हिंसा कहते हैं। आचार्यों ने भी 'अप्रादुर्भावः खलुरागादीनां भवत्यहिंसेति' रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा और उनकी उत्पत्ति को ही हिंसा कहा हैं। अतएव चित्-विकार ही हिंसा है और झूंठ, चोरी आदि सभी में चित्-विकार का अविनाभाव होने के कारण वे सब हिंसा की ही पर्यायें हैं। किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के विकल्प को अर्थ क्रिया कारित्व प्रदान कर सकना जीव के अधिकार क्षेत्र के बाहर होने के कारण वह विकल्प अशक्यानुष्ठान है अतएव चित्त-विकार है और हिंसा है, अतएव किसी प्राणी के वध और रक्षा का अहं छोड़ कर विज्ञ पुरुष सभी प्रकार के विकल्पों से अतीत अपने शुद्ध स्वरूप में ही विश्राम करना श्रेयस्कर समझते हैं और यही शुद्ध आत्मव्यवहार हैं।

अहिंसा का यह स्वरूप स्थिर हो जाने पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी प्राणी का वध तो हिंसा है ही किन्तु यदि उसकी रक्षा का विचार भी हिंसा है तो फिर दूसरे प्राणी की रक्षा का भद्र विचार और व्यवहार भी छोड़ देना चाहिये? इसका समाधान यह है कि दोनों प्रकार के विफल विकल्पों का परित्याग करके यदि आत्म स्वरूप की उपलब्धि का अवसर हो तब तो दोनों विकल्पों का परित्याग ही उपादेय है और तब तो दोनों प्रकार के विकल्पों का परित्याग सहज हो ही जाता है अन्यथा रक्षामूलक शुभ विचार का परित्याग करके वध मूलक अशुभ विचार में प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है। जैसे औषधि अनुपादेय होने पर भी उसे छोड़ कर रोग में प्रवृत्ति करना अच्छा नहीं होता। हां! आरोग्य लाभ के अवसर में औषधि का परित्याग अवश्य उपादेय होता है। अतः 'विषस्य विष औषधम्' के समान वध-मूलक अशुभ-विचार तथा अशुभाचार रूप हिंसा से बचने के लिये रक्षा मूलक शुभ विचार तथा शुभाचार का निर्बल दशा में अंगीकार करना पड़ता है पर यह अंगीकार अनुपादेय दृष्टि पूर्वक छोड़ने के लिये ही होता है।

लोक में आज हिंसा और अहिंसा का स्वरूप केवल बाह्याचार में ही संकुचित हो गया हैं, उसके मूलाधार आत्मा के परिणाम से मानो उसका संबंध ही टूट गया है। यह अविवेक की पराकाष्ठा है जो लोक में अनाचार को प्रोत्साहित करती है। मनमें चाहे कितने ही निंद्य पाप-मय विचार उत्पन्न हो किंतु यदि उनके साथ किसी प्राणी को पीड़ा नहीं हुई तो वह हिंसा नहीं मानी जाती। यह विचार न केवल जैन दर्शन वरन् समग्र भारतीय दर्शन के ही विपरीत है। किसी व्यक्ति को हमारे मायाचार का पता न लगे और वह अपीड़ित न हो तो हम हिंसक ही नहीं हैं। कोई व्यक्ति परिस्थिति की विवशता में अपनी वस्तु हमें अर्द्ध मूल्य में प्रस्तावित करे तो अर्द्ध मूल्य में उसके क्रय जैसा निर्दय कृत्य करके भी हम अहिंसक ही बने रहते हैं। यदि परप्राण परिपीड़न तक ही हिंसा की सीमा हो तो मुनि के गले में सर्प डालकर श्रेणिक सातवें नरक का कर्म क्यों उपार्जित करते? मुनि को तो इस कृत्य से कोई पीड़ा नहीं हुई थी। किसी के पैर का कांटा निकालने अथवा शल्य-क्रिया करने में शरीर रूप द्रव्य प्राण का छेद भी होता है और भाव-प्राणों का पीड़न भी होता है पर शल्य कर्त्ता हिंसक तो नही कहलाते, किसी अंधे को पत्थर मारने पर यदि उसके नेत्र खुल जावें तो पत्थर मारने वाला अहिंसक तो नहीं है। न केवल चेतन वरन् किसी जड़ आकृति पर भी रोष की उत्पत्ति में हिंसा अनिवार्य है। आज आत्म परिणाम शून्य कुछ निश्चित शुभाचार नित्य करके हम 'धर्मात्मा' का ताज अपने शीश पर पहिन लेने का दंभ करते हैं किन्तु यह विस्मरणीय नहीं है कि जिस आचार के साथ विचार की तद्रूपता नहीं है उसके फल में हमें शुभत्व की आशा नही करनी चाहिये वरन् वहां अशुभ फल की ही संभावनायें अधिक होती हैं। अतः जीवन को मुक्ति के प्रशस्त पथ पर अग्रसर करने के लिये यह अनिवार्य है

कि उसमें सद्विचार और सदाचार का उदय हो। लोक में दंभ, द्वेष, और घृणा का उन्मूलन करने के लिये भी यही आवश्यक है कि हम अपनी वासनायें घटायें और परिग्रह की संचय वृत्ति घटा कर सभी प्राणियों को अपने स्वत्व की उपलब्धि का अवसर दें।

प्रमत्त-योग पूर्वक चित्-विकार के अभाव के रूप में अहिंसा का स्वरूप हृदयंगम कर लेने पर विश्व के स्व संचालन क्रम बद्ध जीवन-प्रवाह पर अपना स्वत्व स्थापित करके उसमें पद पद पर हस्तक्षेप करके उस प्रवाह क्रम को अपने अधिकार में लेने के अहं रूप महा पाप का तो अंतिम संस्कार हो ही जाता है साथ ही जीवन की निर्बल भूमिकाओं में वस्त्र, व्यापार आदि की अपेक्षा रूप चारित्र का जो विकार शेष रहा होता है वह भी शुद्ध अहिंसाचरण से शनैः शनैः जीवन से बहिष्कृत होता जाता है और जीवन निरपेक्षता की उच्चतर भूमिकाओं पर आरोहण करता हुआ अंत में पूर्ण निरपेक्ष अथवा मुक्त बन जाता है। जीवन की इस उच्चतम निरपेक्षता को सिद्ध अथवा परमात्मा कहते हैं। और यह परम निराकुल निर्विकार स्थिति ही अहिंसा का अमृत फल है।

यही महावीर की अहिंसा का अनेकांतिक दर्शन है और यही महावीर के दर्शन की अनेकांतिक अहिंसा है।

राग मांद

जब आतम अनुभव आवै
तब और कछु ना सुहावै ॥टेक॥
रस नीरस हो जात ततच्छण
अच्छ विषय नहीं भावे ॥१॥
गोष्ठी कथा कुतूहल विघटै
पुद्गल प्रीति नशावै ॥
राग द्वेष जुग चपल पच्छयुत
मन पच्छी मर जावै ॥२॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै
घट अन्तर न समावै ॥
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को
हाथ जोरि शिर नावै ॥३॥

धर्म व संस्कृति की आत्मा

• सत्यदेव विद्यालकार
नई दिल्ली

मानव जीवन की प्रयोग शाला में जो सांस्कृतिक अनुसंधान सदियों तक निरन्तर होते रहे उनका निचोड़ जैन धर्म कहा जा सकता है.........वह ऐसी कोई बनी बनाई अथवा घड़ी हुई व्यवस्था नहीं थी जिसमें रंग मंच की तरह मानव को लाकर खड़ा कर दिया गया हो। वह तो अनुभूत प्रयोगों की ही निष्पत्ति है जिनका सूत्रपात भगवान ऋषभदेव के समय हुआ और जिनका क्रम निरन्तर बना ही रहा।

भारतीय जीवन का प्रवाह यदि एक महानद के समान है, तो उसके दो किनारों को 'वैदिक' व 'श्रमण' नाम दिया जाना चाहिए। धर्म समाज के जीवन का नियमन करता है, तो संस्कृति उसका नियंत्रण करती है। आचार-विचार और व्यवहार के लिए व्यवस्था देने वाला धर्म है, तो उस व्यवस्था को व्यावहारिक रूप देने का काम संस्कृति करती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि धर्म जब मानव जीवन में व्यावहारिक रूप धारण करलेता है तब उसे संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए धर्म और संस्कृति दोनों को मुख्यतः व्यवहार की कसौटी पर कसा जाने की आवश्यकता है।

धर्म का व्यवहार

धर्म की आत्मा क्या है? इस प्रश्न की दार्शनिक व्याख्या बहुत अधिक की गई है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो इस परिणाम पर पहुंचना अप्रासंगिक न होगा कि धर्म की आत्मा उसके व्यवहार में ही नीहित है। एक जैनाचार्य ने यह बिल्कुल ठीक ही कहा है कि ''न धर्मो धार्मिकैर्बिना'' अर्थात् धर्म पर आचरण करने वाले धार्मिक लोगों के बिना धर्म की कोई स्थिति अथवा महत्त्व नहीं है। धर्म पर आचरण करने वालों के बिना धर्म स्थिर नहीं रह सकता। श्रीकृष्ण ने इसी स्थिति को ''धर्मग्लानि'' कहा है। समाज में धर्म के प्रति ग्लानि पैदा होकर जब उस पर आचरण करना छोड़ दिया जाता है, तब समाज में अव्यवस्था पैदा हो जाती है। समाज की इस हानि को ही धर्म की हानि कहा गया है। तात्पर्य यह है कि धर्म की हानि उसके अनुसार या अनुकूल आचरण न करने मे ही है। इसलिए धर्म के विधि विधान की अपेक्षा उस विधिविधान के अनुसार आचरण करना कहीं अधिक महत्त्व रखता है। श्रमण संस्कृति के अनुसार इसको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र कहा गया है। वैदिक संस्कृति में भी इसी प्रकार जीवन में धर्माचरण का समावेश करने के लिए जो स्तुति, प्रार्थना और उपासना शब्दों का प्रयोग किया गया है। वह भी एक क्रम को बतलाता है।

धर्माचरण का महत्त्व

श्रमण संस्कृति के सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का अभिप्राय संक्षेप में यह है कि धर्माचरण की पहली सीढ़ी उसको सम्यक् श्रद्धा प्राप्त

करता है। किसी भी वस्तु के विषय में पूरी श्रद्धा प्राप्त किए बिना उसके प्रति आकर्षण, लगाव अथवा अनुरक्ति पैदा नहीं होसकती। श्रद्धा प्राप्त करने के बाद ही उसके प्रति मनुष्य का झुकाव होता है। उस श्रद्धा के बाद ही ज्ञान की सचाई प्रकट होती है और उसे चिंतन, मनन आदि के द्वारा सफल बनाया जाता है। श्रद्धा के बिना ज्ञान कभी सच्चा नही होता। इसी को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। लेकिन वह चिन्तन, मनन अथवा ध्यान भी निरर्थक है, जिस को जीवन व्यवहार अथवा चरित्र में पूरा नही उतारा जा सकता। जीवन व्यवहार अथवा चरित्र ही अन्तिम सीढ़ी है।

वैदिक संस्कृति के अनुसार स्तुति, प्रार्थना और उपासना का भी यही अभिप्राय है। वैदिक संस्कृति का मुख्य आधार 'ब्रह्म' अथवा 'परमेश्वर' है। मानव जीवन का सारा व्यवहार उसके अनुसार ब्रह्म अथवा परमेश्वर की प्राप्ति के लिए ही किया जाना चाहिए। उसकी प्राप्ति को ही मानव जीवन का परम लक्ष्य और परम पुरुषार्थ माना गया है। पहली सीढ़ी उसके लिए उसकी स्तुति है। अभिप्राय यह है कि उसके गुणों को भली प्रकार जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, जिससे मानव के सम्मुख सद्‌गुणी बनने के लिए ऊंचे से ऊंचा आदर्श उपस्थित होसके। उनके विचारकों का तो मत यह है कि मानव जीवन के लिए आदर्श इतना अधिक ऊंचा होना चाहिए कि उसको कभी पूर्णरूप में प्राप्त ही न किया जा सके जिससे कि साधारण मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील बना रहे। पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद ही साधारण मनुष्य उसके सम्मुख अपनी प्रार्थना उपस्थित कर सकता है। 'ब्रह्म' अथवा 'परमेश्वर' के गुणों को जानकर सद्‌गुणी बनने का प्रयत्न करने वाला ही उपासना का अधिकारी बनता है। उपासना का अभिप्राय है 'उपासन' अर्थात् आत्मा में परमात्मा की ऐसी प्रतीति या अनुभूति पैदा होना, जो भक्त को भगवान के समीप पहुंचा दे। साधारण लौकिक व्यवहार में भी यह देखने में आता है कि साधारण मनुष्य अपनी किसी इच्छा या अभिलाषा की पूर्ति के लिए जिसके पास जाना चाहता है, पहले उसके सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त करता है, उस जानकारी के आधार पर जब उसको यह विश्वास होजाता है कि उसके द्वारा उसकी इच्छा या अभिलाषा की पूर्ति हो सकती है, तब वह उसके पास अपना प्रार्थना पत्र लेकर जाता है और प्रार्थना पत्र स्वीकार होजाने के बाद उसको उसके पास बैठकर काम करने के लिए एक छोटा सा आसन या स्थान मिल जाता है। यही है वह उपासना या उपासन की स्थिति, जिसके लिए वह सारा प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ करता है।

इस प्रकार श्रमण और वैदिक दोनों ही दृष्टियों से धर्म की आत्मा उसके अनुरूप आचरण करने मे निहित है। धर्म के नाम से जो भी व्यवस्था की जाती है, उसका उद्देश्य यही होता है मानव के लिए उसके अनुकूल आचरण करने मे कोई विशेष कठिनाई नही होती। धर्माचरण के मार्ग को सरल, प्रशस्त और निष्कलंक बनाने के लिए ही धर्म के नाम से विविध प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक विधि-विधान बनाए जाते हैं। शासन व्यवस्था में जिस प्रकार कानूनी व्यवस्था की जाती है और हमारे देश में जिस प्रकार 'इंडियन पिनल कोड' अथवा 'ताजीरातहिन्द' की व्यवस्था की गई है, ठीक इसी प्रकार धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र मे धर्म के नाम से सदाचार सम्बन्धी विधि-विधान का प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण इस धर्म व्यवस्था के लिए भी शासन शब्द का प्रयोग किया गया है। धार्मिक शासन व्यवस्था का सम्बन्ध मानव की अन्तरात्मा के साथ अधिक है। उसको बाहर से थोपने की अपेक्षा उसके पालन की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव अन्तरात्मा से ही होना चाहिए। प्रश्न यह है कि विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों में इस सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई है, वह कितनी सरल, कितनी बुद्धिगम्य और कितनी तर्क सम्मत है। एक को ऊंचा बताकर दूसरे को नीचा बताने की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करना अभीष्ट नही है। परन्तु मानव के लिए उपादेय दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होजाता है।

वैदिक संस्कृति का आधार

वैदिक संस्कृति का आधार मुख्यतः चार वेद हैं। उपनिषद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण तथा अन्य ग्रन्थ सहायक

हैं। उनमें प्रतिपादित व्यवस्था में ' न नु न च' के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उसका मन्तव्य एकान्तवादी हैं। उसमें कहा गया है कि 'नान्यः पंथा विद्यते अयनाय' अर्थात् मृत्युरूपी दुःखसागर से पार होने के लिए उसको जानने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि मानव संसाररूपी नाटक में केवल अपना पार्ट अदा करने आता है। सारा रंगमंच उसको पहले से ही तैयार मिलता है। यद्यपि गीता भगवान श्रीकृष्ण ने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का प्रतिपादन किया है; परन्तु प्रतीत यह होता है कि वस्तुतः उसको उतना भी अधिकार नहीं है। विकृत एवं जन्मपरक वर्णव्यवस्था में तो निश्चितरूप से उसको इस अधिकार से बिल्कुल वंचित कर दिया गया है। जन्म की आकस्मिक घटना के बाद उसके अपने श्रम का कुछ भी महत्व नहीं रहता। धर्म के विधि-विधान का पालन या आचरण भी कमीशन एजेंसी का विषय बन गया है। दान दक्षिणा की सामर्थ्य की तुलना पर धार्मिक विधि-विधान का अनुष्ठान तोला जासकता है और मेरे धर्माचरण का सारा लाभ वह उठा सकता है, जो मुझे भारी भरकम दान दक्षिणा दे सकता है। धर्म के ठेकेदारों या दलालों के हाथों में सारा धार्मिक विधि-विधान एक खिलोना बन गया है। ऐसी स्थिति में आडम्बर प्रपंच और दिखावे आदि से धार्मिक विधि विधान को अलग नहीं रखा जासकता। एक विकार अनेक विकारों को जन्म देने का कारण बन जाता है और शतमुखी पतन अनिवार्य हो जाता है।

श्रमण संस्कृति – बौद्ध धर्म

दूसरी ओर श्रमण संस्कृति भी विकृति से सर्वथा सुरक्षित नहीं रह सकी और उसकी एक मुख्य शाखा बौद्ध धर्म के लिए तो उसमें पैदा हुई विकृति उसके गले की फांसी बन गई। धर्मग्लानि की स्थिति का सम्बन्ध किसी धर्मविशेष के साथ नहीं है; प्रत्युत वह सभी धर्मों से सम्बन्धित है और सभी में धर्मग्लानि की स्थिति पैदा होना सम्भव है। बाममार्ग के कारण वैदिक कर्म अथवा वैदिक संस्कृति के लिए विकृतिजन्य जो स्थिति पैदा हुई, उससे भी कहीं अधिक भयानक तथा वीभत्स स्थिति बज्रयान के कारण बौद्धधर्म के लिए पैदा होगई। बज्रयान के कारण बौद्ध धर्म में खान-पान तथा आचार-विचार की सब मर्यादाओं का अन्त कर दिया गया। अहिंसा पर आधारित बौद्ध धर्म में अहिंसा का दिवाला पिट गया और संयम का नामोनिशां भी बाकी न बचा। बाममार्ग वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृति को ले डूबा और बज्रयान ने बौद्ध धर्म का दिवाला पीट दिया। यह कितनी शोचनीय स्थिति है कि जो बौद्ध धर्म महात्माबुद्ध की घोर तपस्या के फलस्वरूप फला-फूला था और जो सम्राट अशोक तथा सम्राट कनिष्क का आश्रय पाकर देश-विदेशों में चारों ओर फैला था, वह सम्राट हर्ष के समय में संयम तथा अहिंसा से विचलित या विमुख होकर मुख्यतः जादू टोने का मंत्रयान बन गया और उसके विशाल विहार सेना के अड्डे बन गए। उसने सैनिक धर्म का रूप धारण कर लिया। इस कारण भी वह बज्रयान की झोंके को झेल न सका। भारत में वह नामशेष होगया। केवल अशोक के नष्ट-भ्रष्ट शिलालेखों में और इतिहास के जीर्ण-शीर्ण पत्रों में उसका नाम रह गया। उसके विशाल विहार, स्तूप और गुफायें आदि पुरातत्व विभाग के विषय बनकर रह गए। आंधी की तरह वह चारों ओर फैला और तूफान की तरह शान्त होगया। विकृतिजन्य स्थिति का दुष्परिणाम उसको प्रकृति के दण्ड की तरह भोगने को बाध्य होना पड़ गया। प्रकृति बड़ी कठोर है। वह किसी को भी क्षमा नहीं करती।

जैन धर्म की स्थिति

इसी पृष्ठभूमि में जैन धर्म की स्थिति पर कुछ विचार किया जाना चाहिए। इतिहास के अध्ययनशील विद्यार्थी से यह छिपा नहीं है कि जैनधर्म बाममार्ग तथा बज्रयान सरीखे विकारों से प्रायः सर्वथा सुरक्षित रहा है। उसमें विकृतिजन्य वैसी स्थिति प्रायः पैदा नहीं हुई और उसका दुष्परिणाम उसको भोगना नहीं पड़ा। मानव जीवन की प्रयोगशाला में जो सांस्कृतिक अनुसन्धान सदियों तक निरन्तर होते रहे, उनका निचोड़ जैनधर्म कहा जासकता है। वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रतिपादित

किसी ग्रन्थ विशेष पर ग्राधारित नहीं है । वह उन धार्मिक विधि-विधानों में जकड़ा नहीं है, जिनका प्रतिपादन विशेष परिस्थितियों में किसी विशिष्ट महापुरुष द्वारा किया गया मिलता है । वह चमत्कारों का पिटारा नहीं है । वह तो उन चौबीस तीर्थंकारों की तपःपूत साधना का परिणाम है, जिसको मानवजीवन की रसायन शाला का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग कहा जा सकता है । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से ग्रर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ से करीब-ग्रढ़ाई हजार वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के समय तक मानव जीवन के निखार व परिष्कार की जो प्रक्रिया सतत् व निरन्तर चलती रही, उसको भगवान महावीर के बाद जैनधर्म का नाम दे दिया गया । वस्तुतः जैन शब्द का प्रयोग भगवान महावीर से पहले व्यवहार में नहीं था, ग्रौर जैनधर्म उनसे पहले ग्रनेक रूपो ग्रौर ग्रनेक नामों से विद्यमान था । व्यावहारिक दृष्टि से उसके ग्राधारभूत पांचों ग्रणुव्रतों तथा महाव्रतों का प्रतिपादन भी क्रमशः हुग्रा है । वह ऐसी कोई बनी बनाई ग्रथवा घड़ी हुई व्यवस्था नहीं थी, जिसमें रंगमंच की तरह मानव को लाकर खड़ा कर दिया गया हो । वह तो उन ग्रनुभूत प्रयोगों की ही निष्पत्ति है, जिनका सूत्रपात भगवान ऋषभदेव के समय हुग्रा ग्रौर जिनका क्रम निरन्तर बना ही रहा । समभावना से प्रादुर्भूत इन ग्रनुभूतियों में से ही ग्रहिंसा, सत्य, ग्रस्तेय ग्रौर ब्रह्मचर्य के व्रतों का प्रादुर्भाव हुग्रा । जब यह ग्रनुभव किया गया कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए केवल बाहरी ग्रपरिग्रह पर्याप्त नहीं है ग्रौर भीतर की रागद्वेष जन्य प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करना ग्रावश्यक है, तब जितेन्द्रियता की भावना में से 'ग्रपरिग्रह' का प्रादुर्भाव हुग्रा । धर्म के चातुर्याम रूप में पांचवें व्रत ग्रथवा महाव्रतों की प्रतिष्ठा हुई । इस जितेन्द्रियता की ही भावना में से 'जैन' नाम का प्रादुर्भाव हुग्रा ।

भगवान महावीर के बाद

मानव जीवन के निखार या परिष्कार की प्रक्रिया भगवान महावीर के बाद भी जारी रही । जैनधर्म में मन्दिर मार्ग का समावेश कब, कैसे ग्रौर क्यों हुग्रा,-यह इस निबन्ध का मुख्य विचारणीय विषय नहीं है ग्रौर न यह प्रमुख विचारणीय विषय है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर शाखायें किस प्रकार कब व कैसे प्रस्फुटित हुई । यह निर्विवाद ग्रौर सन्देह रहित है कि मन्दिर मार्ग के साथ बाहरी ग्राडम्बर प्रपंच तथा निरर्थक दिखावे ग्रादि स्वतः ही जुड़ जाते हैं । दान-दक्षिणा का महत्त्व बढ़ जाता है । धर्म की ठेकेदारी ग्रौर कमीशन एजेंसी की प्रवृतियाँ पनपने लगती है । इसी कारण लगभग चार सौ वर्ष पहले जैन धर्म में वीर लोकाशाह के रूप में एक उत्क्रान्ति हुई, जिसको स्थानकवासी नाम दिया गया । वीर लोकाशाह ने पूरे साहस, विश्वास ग्रौर निष्ठा के साथ यह प्रतिपादन किया कि जैन ग्रागमों में मन्दिर मार्ग का विधान नहीं है । उनकी वही गति प्राप्त हुई जो महान सुधारकों के भाग्य में लिखी होती हैं । सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया । ईसा को फांसी पर लटकाया गया । स्वामी दयानन्द को ग्राहार में विष दिया गया । स्वामी श्रद्धानन्द ग्रौर महात्मागांधी को गोली के घाट उतारा गया । वीर लोकाशाह को भी ग्राहार में विष दिया गया था ।

जैन धर्म में एक ग्रौर उत्क्रांति ग्राज से लगभग दो सौ पूर्व हुई । चार सौ वर्ष पूर्व पश्चिम से इस्लाम के रूप में जो प्रचण्ड वेगवती लहर हमारे देश में ग्राई थी ग्रौर जिसका लक्ष्य बलात् मन्दिर मार्ग पर ग्राक्रमण करना था, उससे स्थानकवासी उत्क्रांति ने जैनधर्म को बचा लिया । इसी प्रकार दो सौ पूर्व पश्चिम से इसाई धर्म के रूप में जो एक ग्रौर प्रचण्ड लहर ग्राई, उससे तेरापंथ उत्क्रांति ने जैनधर्म को बचालिया । दोनों ही उत्क्रांतियों का शुभ परिणाम यह भी हुग्रा कि संयम ग्रौर ग्रहिंसा पर समाज की निष्ठा दृढ़तर हुई । वह उस नैतिक पतन से बच गया, जिस पर ज्ञानमुखी पतन की स्थिति चरितार्थ होती है । जैन साधु चाहे किसी भी शाखा से सम्बन्धित क्यों न हो, वह समाज के सम्मुख त्याग-तपस्या, संयम ग्रौर ग्रपरिग्रह का उच्चतम व उत्कृष्ट ग्रादर्श उपस्थित करता है । उसके ही कारण जैन समाज में इन गुणों की प्रतिष्ठा कायम है । इस प्रकार जैनधर्म ग्रौर जैन समाज दोनों विकारों से सुरक्षित रहने में सफल हुए ।

जैनधर्म की उत्क्रान्तिमूलक शाखायें

एक विशाल पेड़ अपनी शाखाओं से फलता-फूलता, और फैलता है। बहुत से पेड़ ऐसे होते हैं, जो अपनी शाखाओं का भार सहन न कर सकने के कारण उनके भार से नष्ट होजाते हैं। लेकिन, ऐसे पेड़ भी कुछ कम नहीं हैं, जिनकी शाखाओं पर फल-फूल उपजते है। उनके ही कारण उसकी शोभा और उपयोगिता में चार चांद लगते रहते है। नि:सन्देह जैनधर्म दूसरे प्रकार के पेड़ के समान है। उससे विभिन्न शाखायें उत्क्रांति के रूप में प्रस्फुटित हुई है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उनके सम्बन्ध में विचार करना उनके ऐतिहासिक महत्व से इनकार करना है। उनके ही कारण जैन धर्म की आस्था का निरन्तर निखार एवं परिष्कार हुआ है और जैन समाज के जीवन व्यवहार में उसकी प्रतिष्ठा की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इस उदार एवं व्यापक दृष्टि से जैनधर्म के सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए और उसकी उत्क्रांतिमूलक परम्परा का महत्व आंका जाना चाहिए।

पाश्चात्य विद्वान मि० सर विलियम और हैमिल्टन के मध्यस्थ विचारों के विशाल मन्दिर का आधार जैनों के इस अपेक्षावाद का ही दूसरा नाम नयवाद है।

× × ×

'विशेषतः प्राचीन भारत में किसी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी, जैन-धर्म हिन्दू-धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है, उसकी शाखा रूपान्तर नहीं।'

—वैदज्ञ प्रो० मैक्समूलर सा०

जैन कवि 'नवल' और उनकी भक्ति

• डा. सोमनाथ गुप्त
जयपुर

भक्ति पदक कविता केवल वैष्णव कवियो की ही बपौती नही है। जैन धर्मावलम्बियो ने भी भक्ति भाव से अपने आराध्य का स्तवन किया है और उनकी कविता मे भगवान के प्रति अलौकिक अनुराग, असीम श्रद्धा एव अतुल विश्वास कूट-कूट कर भरा हुआ व्यजित हुआ है। नवल भी एक ऐसे ही कवि थे। हिन्दी साहित्य मे उनका साहित्य अपने स्थान का अधिकारी है।

आध्यात्म की परम्परा मे 'भक्ति' का बडा महत्व है। भागवत सम्प्रदाय के विकास के साथ साथ भक्ति भावना ने भी बडा प्रसार पाया। और भक्ति मार्ग अनेक रूपो मे जन साधारण को आनन्दानुभूति एव आत्म सतोष मे सहायक सिद्ध हुआ।

भक्ति की यह प्रवहमान धारा किसी एक ही सम्प्रदाय तक सीमित न रह सकी हिन्दू धर्म, सस्कृति और उनके विभिन्न भेदो-प्रभेदा मे भक्ति के अनेक रूपो का प्रचार हुआ। भागवत की 'नवधा भक्ति' से प्रत्येक विद्वान परिचित ही है। कुछ मूल, कुछ रूपान्तरित आकृतियो के साथ यही भक्ति भावनायें सम्प्रदायो मे जड़ पकड़ती चली गई।

वास्तव मे अपने उपास्य के प्रति अलौकिक अनुराग का नाम ही 'भक्ति है। यह अनुराग प्रेम के द्वारा प्रगट होता है। अतएव भक्ति के तीन प्रधान तत्व हैं—भक्त उपास्य और भक्ति का स्वरूप।

जैन कवि 'नवल' ढूढाड़ प्रदेश के अन्तर्गत बसवा ग्राम के निवासी थे। इनका समय सं० १७६०–१८५५ माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—"वर्द्धमान पुराण' और बुद्धि विलास।

एक तीसरी रचना फुटकर पदो के रूप मे है। इन पदो की सख्या २२२ है।

नवल के आराध्य

जैन तीर्थङ्कर— जिन भगवान भक्त कवि नवल के आराध्य थे। अपने उपास्य का वर्णन उन्होने अनेक प्रकार से किया है। उनकी उपाधियो का वर्णन करते हुए नवल कहते हैं—

१ सात छवि अति आनन्द कारी,
देखत नैन भजत भ्रम भारी।
कुमति कुभाव सकल हू टारी,
नवल गही प्रभू सरनि तिहारी ॥[1]

२ वाह्य अभ्यंतर तज्यो
परिग्रह आतमकाज करईया।
तप करि केवल ग्यान उपायो
आठो करम खिवईया ॥[2]

१ पद्स न० १०८७ पत्र स० १३–१४, बधीचन्द्र मदिर जयपुर
२ वही, पत्र १३

३. क्षुधादि दोष ताके न लेस,
ध्यानादिक गुन पीजे असेस ।।[3]

४. जीवा जीव पदारथ जेते
लोकालोक अछेव ।
जुगपति येक समैं सवहि
कौ है जानन की टेव ।।[4]

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि नवल के उपास्य का वाह्य स्वरूप अत्यन्त शान्त छवि से सम्पन्न हैं, उनका दर्शमात्र ही सारे भ्रमों के निराकरण का साधन हैं, सभी अमंगलकारी प्रभावों को दूर हटाने वाला है। नवल के आराध्य-बाह्य और आभ्यंतर दोनो प्रकार के पहिग्रह से दूर, आत्मानुकूल कार्य करने के प्रेरक एवं तप द्वारा ज्ञान उत्पन्न कराने वाले तथा आठों प्रकार के कर्मों के बंधन से छुटकारा दिलाने वाले हैं। उनमें स्वयं क्षुधा आदि दोषों की लेशमात्र भी स्थिति नहीं; वहां तो केवल मात्र ज्ञान ही की उपलब्धि है। उनके उपास्य की दृष्टि में जीव-अजीव, लोक-अलोक सभी समान हैं।

उपास्य के स्वरूप में उपरोक्त गुण केवल जैन धर्म के अनुरूप ही नही है वरन प्राय: सभी धर्मों में उपास्य के इसी प्रकार वर्णन पाये जाते हैं। आगे चलकर नवल ने उन्हें 'जगनायक' तक कह दिया है—

१. तेरे जगनायक नाम सही।
जगत उधारक दीसत हो तुम
निहचै मो परतीति भई ।।[५]

२. जगत नायक जगबंदन कहिये
यही जगत में सारवे।
....

दीन दुखी सव ही के रक्षक कहिए अरु निरधारिन ।।[६]

अध्यात्मक स्वरूप के उपरान्त सार्वजनिक नेता के रूप में अपने उपास्य की परिणिति मानववाद की चरम सीमा है। जैन धर्म का यह पक्ष भागवत सम्प्रदायों में प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। उन सम्प्रदायों में वह केवल दार्शनिक रूप तक सीमित होकर समाप्त होगया है। नवल की यह अभिव्यक्ति सराहनीय है। अपने ऐसे ही आराध्य के सामने उन्हें अपने अवगुणों को प्रगट करते हुए तनिक भी संकोच नहीं होता। भक्त अनुभव करता है कि वह स्वयं हिंसा, लोभ, असत्य, अस्तेय और परनिंदा आदि अवगुणों का दास है, परतिय की रूप-माधुरी उसे अपनी ओर ललचाती हैं, संचय करने की आदत उसका पीछा नही छोड़ती। इन्हीं सब कारणों से विवश होकर वह अपने आत्मनिवेदन में कहता है—

प्रभु जी ! मैं बहुत कु-बुद्धि करी।
थावर जगम जीव सताये करुणा उर न धरी ।।
ये जी लोभ लग्यौ विषयन संग राच्यौ निज सुध बिसरी।
झूंठ ही झूंठ वचन मुख भाख्यौ, पर धन लेत न डरी ।।
ये जी बहु आरंभ कियौ मन मान्यौ पर निंदा उचरी।
पर-तिय रूप निरखि ललचानौ परिग्रह भार भरी ।।
ये जी और अन्याय करी मैं जेती तुम जानत सगरी।
या तें 'नवल' सरनि अब पकरी है प्रभु विपति हरी ।।

यह आत्म-बोध कि वह पाप का भंडार और अनाचार का वृहत कोष है भक्त को अपना प्रायश्चित करने की प्रेरणा देता है तथा उसे भक्ति की ओर प्रवृत्त करता है। जीवन के इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के दर्शन हमें नवल की उपरोक्त पंक्तियों में होते हैं। कर्म के फन्दों में जकड़े रहने तथा लोभ-मोह में फंसे रहने का उल्लेख कवि ने अनेकों स्थानों पर किया है। अपने उपास्य नाभि-कुमार से अपना उद्धार करने की प्रार्थना उन्होंने अनेक स्थलों पर की है। क्योंकि कवि का अटल विश्वास है कि भक्त का उद्धार उपास्य की कृपा या अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। रह-रह कर भक्ति अपने उपास्य का ध्यान इस ओर भी दिलाता जाता है कि

---

३. वही, पत्र ६
४. वही, पत्र १४
५. महावीर शोध संस्थान जयपुर से प्राप्त।
६. पद संग्रह ६२,६-२, बधीचंद मंदिर जयपुर।

यदि उसके अवगुणों पर ही ध्यान दिया गया और भगवान ने अपने 'पतितोद्धारन' विरद की रक्षा स्वयं न की तो भक्त का निस्तार होना असंभव है।

"अधम-उधारक प्रगट जगत में सुनियो नाम तिहारो।
मो गुन औगुन परि नहिं जइये अपनो विरद संभारो॥"
(पद संग्रह ४६२, पत्र १८७ बधीचंद मंदिर जयपुर)

ऐसा निवेदन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्त को बड़ा निर्भीक एवं आशा से सम्पन्न बना देता है। कभी कभी तो स्थिति यह होजाती है कि भक्त भगवान को व्यंगोक्ति में बुरा भला भी कह देता है, सखा-भाव की यह अभिव्यंजना प्रायः सभी ऊंचे भक्तों में पाई जाती है।

नवल जैसे भक्त में उपरोक्त सभी गुण विद्यमान हैं। यद्यपि कवि की भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा हैं जिसमें कहीं कहीं थोड़ा सा ढूंढाड़ी का भी मिश्रण होगया है परन्तु साथ ही साथ उनकी भाषा में कई बोलियों के उदाहरण मिलते हैं। खड़ी बोली में वह कहते हैं—

"मुझे है चाव दर्शन का निहारोगे तो क्या होगा?
सुनो तुम नाभि के नंदन! परम सुख देन जगवंदन!
मेरी बिनती अपावन की, बिचारोगे तो क्या होगा?
फंसा हूं कर्म के फंदे, मुझे तुम क्यों छुड़ावो ना,
तुम्हीं दातार हो जगके सुधारोगे तो क्या होगा?
....
अरज सुन लीजिये मेरी करूं विनती प्रभु! तुम से,
नवल को जग के दुखों से छुड़ा दोगे तो क्या होगा?

एक दूसरा उदाहरण उनका रेख्ता भाषा का देखिये—

"नित मूरति तेरी आन विलोकूं आइया हो मैंनूं,
तेरे देखन दी अभिलाषा नित चहन्दा होहे मेरा मना,
नहिं भूल्यूं रयनूं दिन तैनूं।
जिया जिन विन प्रति अकुलानो
नहीं रहन्दा हो इकहु छिना,
जिन देखा मिटत अचैनूं।
सुन लीजिए अरज करां छा
यह अचल वास शिवदा मिले;
ये नवल कहै मोहे दैनूं॥
—प्राचीन जैन भजन संग्रह, भजन ४२

उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि भक्ति परक कविता केवल वैष्णव कवियों की ही बपौती नहीं है। जैन धर्मावलम्बियों ने भी भक्ति भाव से अपने आराध्य का स्तवन किया है और उनकी कविता में भगवान के प्रति अलौकिक अनुराग, असीम श्रद्धा एवं अतुल विश्वास कूट कूट कर भरा हुआ व्यंजित हुआ है। नवल भी एक ऐसे ही कवि थे। हिन्दी साहित्य में उनका सहित्य अपने स्थान का अधिकारी है।

महावीर वाणी

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।
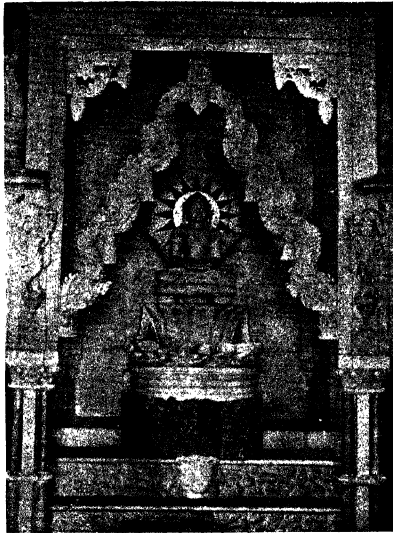
अतिशय क्षेत्र श्री पदमपुरा की नवनिर्मित वेदी ।
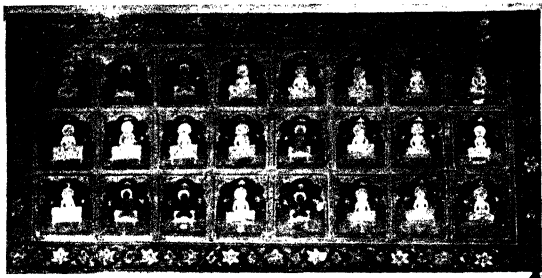
ठोलियों के मन्दिर, जयपुर का कलात्मक पुट्ठा।

बैराठियों के मन्दिर, जयपुर का कलात्मक पुट्ठा।

ढूंढाड़ी जैन गद्य साहित्य

• गंगाराम गर्ग
एम. ए., रिसर्च स्कोलर
जयपुर

जैन गद्यकारों के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—टीका ग्रन्थ एवं मौलिक ग्रन्थ। ढूंढाड़ प्रदेश में टीकाएं अधिक लिखी गई हैं। संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश में लिखे लिखे ग्रन्थों को समझना जब साधारण जनता के लिए कठिन हो गया तो धर्म-प्रेमी विद्वानों ने उनका अनुवाद जन-प्रचलित भाषा में करना शुरू किया जिससे वे सहज बोध गम्य हो सकें।

बृहत् राजस्थान बनने से पूर्व यह प्रान्त कई भागों में विभाजित था—मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ आदि। शेखावाटी के अतिरिक्त समस्त जयपुर राज्य का नाम ढूंढाड़ है। प्रदेश के नाम के आधार पर ही यहां की भाषा ढूंढाड़ी कहलाई जो राजस्थानी और ब्रज दोनों के मेल-जोल से बनी है। जयपुर को सदा विद्वानों का क्षेत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण ढूंढाड़ी को भी साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस भाषा में पद्य तो अन्य सम्प्रदायों के कवियों का भी मिलता है, किन्तु गद्य की रचनाएं अद्यावधि केवल जैन लेखकों की ही उपलब्ध हुई है।

जैन गद्यकारो के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—टीका ग्रन्थ एवं मौलिक ग्रन्थ। ढूंढाड़ प्रदेश में टीकाएं अधिक लिखी गई हैं। संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश मे लिखे ग्रंथों को समझना जब साधारण जनता के लिए कठिन हो गया तो धर्म-प्रेमी विद्वानों ने उनका अनुवाद जन-प्रचलित भाषा में करना शुरू किया जिससे वे सहज बोध गम्य हो सकें। टीकाओं के भी तीन प्रकार हैं—(१) टब्बा (२) बालावबोध (३) वचनिका।

टब्बा—टब्बा बहुत संक्षिप्त टीका होती है। इनमें मूल शब्द का अर्थ उसके नीचे, पार्श्व में अथवा अधिकांशतः ऊपर लिख दिया जाता है। यह टीका जन-साधारण के लिए उपयोगी नहीं कही जा सकती; क्योंकि शब्दार्थ लिखे जाने मात्र से मूल का भाव समझना कठिन होता है—

उदाहरण :—

मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणांतराय क्षयाच्चं केवलं

अर्थात्—मोह कर्म के क्षय तै, ज्ञानावरणी दर्शनाय वरणीय, अन्तराय, इन च्यारि कर्मनि के क्षय तै नि केवल ज्ञान ही है।

बंधहेत्वभावनिजराभ्यां कृष्णकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष।[1]

अर्थात्—बंध हेतु कारण जु है मिथ्यात्वादि तिनके अभाव करि अरु निर्जरा करि, समस्त कर्मों सेती मोक्ष कहिए छूटिबौ सोई मोक्ष कहिए।

राजस्थानी टब्बा का भी यही स्वरूप है।[2]

बालावबोध—बालावबोध ऐसी सरल और सुबोध टीका है जिसे कम पढ़ा लिखा व्यक्ति भी आसानी से

---

१. दौलतराम कृत तत्वार्थसूत्र की टब्बा टीका अध्याय १०, १, २
२. शिवस्वरूप शर्मा कृत राजस्थानी गद्य साहित्य का उद्भव और विकास ५-१४

समझ सकता है। राजस्थानी बालावबोध मे मूल के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए परम्परागत, जातक अथवा मनगढ़न्त कथाओं का बड़ा संग्रह रहता है[3] किन्तु ढूंढाड़ी के बालावबोधो में यह बात नही। वहां तो बालावबोध टीकाकार मूल छंद का अन्वय करते हुए प्रत्येक शब्द के अर्थ को खोल-खोल कर समझाता चलता है। तदुपरान्त दो-तीन पंक्तियों में मूल छंद का साधारण अर्थ लिख कर उसका संक्षिप्त भावार्थ भी लिख देता है—यदि कहीं आवश्यकता हुई तो—। शैली की दृष्टि से ढूंढाड़ी बालावबोध राजस्थानी बालावबोध से भले ही भिन्न हो किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य—बालक को समझाने के समान सरल, सीधे व स्पष्ट ढंग से कहना राजस्थानी बालावबोध से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

उदाहरण:—आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥

'मेचकामेचकत्वयोः आत्मनः चिन्तया एव अलं'— मेचक कहतां मलिन, अमेचक कहतां निर्मल इसौ छै दोइ नय पक्षपातरूप। आत्मः कहतां चेतन द्रव्यकौ, चिन्तया कहतां विचारतेनै विचारैं, अलं कहतां पूरौ होउ। इसौं विचारतां पुनि साध्यसिद्धि नहिं 'एव' कहतां इसौ निहचौ जानिवौ।

भावार्थ—इसौ जु श्रुत ज्ञानकरि आत्म स्वरूप विचारतां बहुतविकल्प ऊपजै छै। एक पक्ष विचारतां आत्मा अनेक रूप छै, दूजै पक्ष विचारतां आत्मा अभेद रूप छै, इसौ विचारतां फुनि स्वरूप अनुभव नही। इहां कोई प्रश्न करै छै विचारतां तो अनुभव नहीं, अनुभव क्यों छै? ऊतरः—इसौ जु प्रत्यक्षपनै वस्त कौ आस्वाद करतां अनुभव छै सोइ कहि जै छै।

'दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धि'—दर्शन कहतां शुद्ध स्वरूप को अवलोकन, ज्ञान कहतां शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्षपनै जानपनौ, चारित्र कहतां शुद्धस्वरूप को आचरण; इसौ कारण कहतां साध्यसिद्धि—साध्य कहतां सकलकर्म क्षय लक्षण मोक्ष, तिहि की सिद्धि कहता प्राप्ति होइ।

भावार्थ—इसउ जु शुद्धस्वरूप कौ अनुभव मोक्ष की प्राप्ति छै। कोई प्रश्न करैछै—जु इतनौ ही मोक्षमार्ग छै? कै कोई और भी मोक्ष मार्ग छै? ऊतर—इसौ जु इतनौ ही मोक्ष मार्ग छै—'न चान्यथा'—च कहतां पुनः अन्यथा कहतां अन्य प्रकारन कहतां साध्य सिद्धि नही।[4]

वचनिका—राजस्थानी गद्य में 'वचनिका' का प्रयोग टीका के अर्थ में नही हुआ प्रत्युत ऐसे गद्य के रूप मे, जिसमें गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग हो; दूसरे शब्दों में राजस्थानी 'वचनिका' को 'चम्पू' कहा जा सकता है।[5] ढूंढाड़ी गद्यकारों ने 'वचनिका' शब्द का प्रयोग संस्कृतादि भाषाओं मे लिखे गये ग्रन्थों का जन साधारण की भाषा में अनुवाद के अर्थ में किया है। वचनिका, टब्बा और बालावबोध दोनों मे अधिक बोधगम्य और बिस्तृत टीका होती है। इसमे सबसे पहले मूल छंदका साधारण अर्थ लिख दिया जाता है फिर भावार्थ के रूप मे उसकी खुलकर व्याख्या की जाती है। व्याख्या को अधिक स्पष्ट करने के लिए वचनिकाकार कभी-कभी उदाहरणों का सहारा भी लेता है।

उदाहरण:—

नित्यतां केचिदाचख्युः केच्चिचानित्यतां खलाः।
मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत्॥

अर्थ—केईतौ वस्त कौ नित्यपणां ही कहै है बहुरि केई अनित्य ताही कहै हैं अर यह जगत् नित्यानित्य स्वरूप है ताहि मिथ्यात्व के उदय करि नाही देखे हैं।

भावार्थ—सांख्य, नैयायिक वेदान्त मीमांसक मत्त के तौ आत्मा कूं नित्य ही मानै है अर जगत कूं अनित्य अविद्यादिक का विलास भ्रम रूप मानै है। अर कहै है जो आत्मा कौ अनित्य मानैं तौ आत्मा का नाश होय तब नास्तिक मत्त आवैं; अर नित्यानित्य स्वरूप मानैं तो

३. वही, पृ. १४
४. राजमल्ल कृत समयसार कलश टीका-पृ. २७
५. शिवस्वरूपशर्मा कृत राजस्थानी गद्य-साहित्य का उद्भव और विकास पृ० २५

विरोध आदि दूषण आवै । ऐसें अपनी बुद्धि सूं कल्पित सिद्ध करै है । बहुरि ऐसे ही बौधमती वस्त क्षणिक अन्यत्य रूप मानै हैं । नित्य मानने कूं अविद्या कहै हैं । नित्यानित्य मान में विरोध आदि दूषण कहै हैं, तहां ऐसा जानूं । जो वस्त का स्वरूप है सो स्याद्वाद तैं सिद्ध होय है । ता मैं विरोध आदि दूषण नाही आवै है । ऐसा स्वरूप अन्यमती समझै नाहीं अपनी बुद्धि में कल्पना करि जैसे तैसें थापि संतुष्ट भये । परंतु वस्त विचारिए तब तिनि कै ध्याता ध्यांन ध्येयादिक किछू भी सिद्ध नाहीं होय है तातैं तिनिका कहना सर्व प्रलाप मात्र है; ऐसा जांनना ।[६]

ढूंढ़ाड़ी भाषा मे टब्बा टीका लिखने वालों में शीर्ष स्थान दौलतराम कासलीवाल का है। इन्होंने वसुनन्दि श्रावकाचार और तत्वार्थ सूत्र की टब्बा टीकाएं की हैं। दौलतराम बसवा निवासी खंडेलवाल वैश्य आनंदराम के पुत्र थे। इनका रचनाकाल संवत् १७–७७ है।

बालावबोध टीका के लिए राजमल्ल पाण्डे और हेमराज पाण्डे प्रसिद्ध हैं। समयसार कलशटीका राजमल्ल की सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में लिखी गई प्रथम ढूंढाड़ी गद्य रचना है। हेमराज ने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नयचक्र, गोम्मटसार तथा परमात्म प्रकाश पर बालावबोध टीकाएं की हैं। हेमराज सत्रहवी शताब्दी के सर्वोत्तम विद्वानों में से थे। पाण्डे रूपचन्द, बनारसीदास आदि आध्यात्मिक पुरुष व मनीषियों से इनकी घनिष्ठता थी।

ढूंढ़ाड़ी मे वचनिकाएं अधिक लिखी गई। टोडरमल ने गोम्मटसार नामक प्रख्यात ग्रंथ पर सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाटीका पुरुषार्थ सिध्धुपाय टीका भाषा, आत्मानुशासन टीका भाषा आदि वचनिका-ग्रंथ लिखे। टब्बा टीकाकार दौलतराम ने भी पद्मपुराण, आदि पुराण, हरिवंश पुराण, श्रीपाल चरित्र, पुण्याश्रव कथाकोष व परमात्म प्रकाश की वचनिकाएं लिखीं। इसके उपरान्त संवत् १८६१ में जयचन्द्र छाबड़ा प्रख्यात वचनिकाकार हुए। ये फागी ग्राम में छाबड़ा गोत्रीय खंडेलवाल वैश्य श्री मोतीराम जी के यहां उत्पन्न हुए थे। जयचन्द्र जयपुर में अपने समय के सर्वोत्तम विद्वानों में गिने जाते थे। इनकी अभिलाषा थी कि राजवार्तिक आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों के अनुवाद किये जायं, किन्तु अपने पुत्र नंदलाल की प्रेरणा से इन्होने केवल उन्हीं ग्रन्थों की वचनिकाएं लिखीं जिनसे सर्व साधारण को अधिक लाभ हो।[७] इनके अनूदित ग्रन्थ सर्वार्थ सिद्धि, प्रमेयरत्नमाला, द्रव्य संग्रह, स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, समयसार, अष्ट पाहुड़, आप्त मीमांसा, परीक्षमुख, भक्तामर स्तोत्र, देवागम स्तोत्र ज्ञानावर्णव, सामायिक पाठ, धन्यकुमार चरित्र, तत्वार्थ सूत्र, चन्द्रप्रभ चरित्र (द्वितीय सर्ग) पत्रपरीक्षा और मतसमुच्चय है। जयचन्द्र के बाद सदासुख कासलीवाल भी अच्छे वचनिकाकार हुए। भगवती आराधना, तत्वार्थ सूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अकलंक स्तोत्र, समयसार आदि ग्रन्थों पर इनकी वचनिकाएं उपलब्ध हैं। परवर्ती गद्यकारों में नाथूलाल दोषी, पन्नालाल चौधरी, शिवलाल व दुलीचन्द प्रमुख हैं जिन्होंने कई ग्रन्थों की वचनिकाएं लिखी हैं।

स्वतंत्र ग्रन्थकार :—विभिन्न प्रकार की टीकाओं के अतिरिक्त ढूढ़ाड़ी में स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं; इस लिए भाषा में मौलिक ग्रन्थों का पूर्णतः अभाव रहा हो ऐसी बात नहीं। टोडरमल और दीपचन्द ढूढ़ाड़ी भाषा के सबसे बड़े मौलिक गद्यकार है।

टोडरमल जयपुर में गोदीका (ढोलाका) गोत्रीय खंडेलवाल वैश्य परिवार में संवत् १७६७ में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता जोगीदास और माता रमाबाई थीं। टोडरमल बड़े धार्मिक, दार्शनिक तथा प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। संवत् १८२३–२४ में अल्पवय में ही साम्प्रदायिक झगड़ों में इनकी मृत्यु हो गई थी।

टोडरमल के वचनिका-ग्रन्थों की चर्चा पहले हो चुकी है। उनका मौलिक ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक है।

६. जयचन्द्रकृत ज्ञानार्णव भाषा, २१

७. ,, सर्वार्थ सिद्धि भाषा, ३१–३२

मोक्षमार्ग प्रकाशक में नौ अधिकार है; प्रथम अधिकार मे मंगलाचरण व अन्यान्य बातें दूसरे में कर्म, तीसरे मे संसार के दुःख, चौथे में दर्शन ज्ञान और चारित्र का मिथ्यात्व, पांचवें में विविध मतो का खंडन, छटे मे कुदेव, कुगुरु व कुधर्म का निरूपण, सातवें में जैन मतानुयायी मिथ्यातियों का स्वरूप आठवें में अनुयोग और नवें अधिकार में जिन-मतानुसार मोक्ष-मार्ग का स्वरूप वर्णित है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में टोडरमल साम्प्रदायिक आडम्बर तथा वंशानुगत ऊंचनीच मानने के घोर विरोधी परिलक्षित होते हैं। विभिन्न मतों की चर्चा करने में लेखक जहां एक दर्शन-वेत्ता प्रतीत होते हैं वहां उनका खंडन करने मे अच्छे तार्किक और स्वतंत्र विचारक भी। पिता का उदाहरण देकर ईश्वर के कर्तत्व का निराकरण करने में लेखक की सूझ-बूझ देखिए।

"सो जैसें कोई पुरुष आप कुचेष्टा करि अपने पुत्रनि कौ सिखावै, बहुरिवैतिस चेष्टा रूप प्रवर्त्तै तब उनकों मारै तो ऐसा पिता कौं भला कैसे कहिए। तैसे ब्रह्मादिक आप काम क्रोध रूप चेष्टाकरि निपजाए लोक-निकै प्रवृत्ति करावै; बहुरि वे लोक तैसे तैसे प्रवर्तै तब उनको नरकादि विसै डारै। नरकादिक इन ही भावाने का फल शास्त्रनि विसे लिख्या है सो ऐसा प्रभु का भला कैसे मानिए।"[8]

दीपचन्द कासलीवाल सांगानेर मे उत्पन्न हुए थे। कुछ समय बाद ये वहा से आमेर आगये थे। दीपचन्द ने अनुभव प्रकाश, आत्मावलोकन, चिद्विलास, परमात्म पुराण आदि ग्रन्थो की रचनाएं की है। इस सभी मे आत्मा के अनुभव व विलास का वर्णन है। दीपचन्द की शैली उपदेश-प्रधान रही है। वाक्य छोटे-छोटे है। भाषा मुहावरेदार तथा अलंकारिक है। "जोरावरी ठीकरी कौ रुपयो चलावै, चौरासी को बन्दीखानों आदि मुहावरे बड़े अच्छे हैं। रूपकत्व की नियोजना भी लेखक को बड़ी प्रिय है; एक-दो उदाहरण देखिये।

"सद्गुरु वचन-अंजन तै पटलदूरि भये ज्ञान-नयन प्रकाशै तब लोकालोक दरसै।"[9]

"इस पर-परिणति नारी सौ ललचाय कुमति-सखी सग गति गति मै डोले निज परिणति राणी के वियोग तैं बहुत दुःखी भये।"[10]

अपने दार्शनिक विचारो को समझाने के लिए दीपचन्द ने लौकिक उदाहरणों का बड़ा सहारा लिया है।

"जैसें कोई राजा मदिरा पीय निन्द्य स्थान मे रति मानै तैसे चिदानंद देह मे रति मानि रहया है"[11]

जैसें श्वान हाड़को चावै अपने गाल तालु ममूढ का रक्त उतरै ताकौ जानै भला स्वाद है, ऐसै मूढ आप दुःख मे सुख कल्पै है।"[12]

उक्त विवरण मे स्पष्ट हुआ कि ढूंढाड़ी गद्य साहित्य के विकास मे जैन लेखकों का अपूर्व योग-दान है। हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए उसका सम्यक् अध्ययन व मूल्यांकन परम अनिवार्य है।

---

८. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय द्वारा प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ० १४५
९. परमानंदजी द्वारा संपादित अनुभव प्रकाश, पृ.३७
१०. वही, पृ० ६८
११. वही, पृ० २३
१२. वही, पृ० ४०

जैन कवियित्री :

जड़ावजी की काव्य साधना

• डॉ. नरेन्द्र भानावत
एम. ए. पी-एच. डी.
जयपुर

जैन पुरुष कवि तो कई हुए है पर जैन स्त्री कवियों की संख्या नगण्य है। सती जड़ावजी जैन कवयित्रियों में नगाने की तरह जड़ी हुई प्रतीत होती है। कविता करना उनकी जीवन चर्चा का एक अंग बन गया था। ५० वर्ष की सुदीर्घ साधना-काल में जड़ावजी ने जीवन के विविध अनुभव आत्मयात कर काव्य में उतारे। उनका जीवन जितना साधनामय था काव्य उतना ही भावनामय।

कविता हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। इसके प्रणयन में प्रेम, पीड़ा और पिपासा की प्रधानता रही है। नर ने अपने पौरुष, सामर्थ्य और बल का दिग्दर्शन इसके माध्यम से कराया तो नारी ने अपनी करुणा, ममता और विसर्जन का स्वर इसके शब्द प्रति शब्द में फूंका। पर संरक्षित साहित्य में पुरुष का कृतित्व ही अधिक उभर कर हमारे सामने आया है। स्त्री के कृतित्व की सामान्यतः उपेक्षा ही बनी रही। यों वैदिक संस्कृत साहित्य से ही विश्ववा, घोषा, नितम्बा, गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, यमी वैवस्वती आदि की सृजनात्मक प्रतिभा का संकेत मिलने लगता है। बौद्ध भिक्षुणियां भी अपने विरक्तिमूलक पद गा गा कर आत्मा का विस्तार करती रहीं पर उस युग की जैन कवयित्रियों का पता अब तक नहीं लगा है। एक ओर भगवान महावीर के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देने वाली महान सतियों की (आर्याओं) उज्जवल गाथा हमें उनके गूढ़ ज्ञान और आत्म बोध का परिचय देती है तो दूसरी ओर काव्य क्षेत्र में उनका यह अलगाव हमें आश्चर्य में ही नही डालता वरन हमारे शोध-मस्तिष्क को बार बार कुरेदता भी है।

हिन्दी कवयित्रियो [1] पर अब तक जो शोध कार्य हुआ है उसके द्वारा विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाली कई कवयित्रियां हमारे सामने आई हैं। एक ओर झीमा और पद्मावारणी जैसी कवयित्रियों ने डिंगल काव्य-धारा को अपने ओज और माधुर्य से सींचा है तो दूसरी और सहजो और दया बाई जैसी संत कवयित्रियों ने निर्गुण काव्य धारा को अपना आध्यात्मिक भाव बोध दिया है। इसी युग में गीति काव्य की साम्राज्ञी मीरां ने जन्म लेकर सगुण और निर्गुण भक्ति सरिता को सन्तुलित प्रवाह और तट का बन्धन दिया। प्रताप कुंवरी तुलछराय, चन्द्रकला बाई आदि कवयित्रियों ने जहां राम को अपना आराध्य

१. इस संबंध में दो ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—
(अ) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां। —डा. सावित्री सिन्हा
(ब) राजस्थानी कवयित्रियां। —श्री दीनदयाल ओझा
(प्रेरणा : फरवरी १९६३)

बनाकर शक्ति और प्रेम का चित्रण किया वहां गंगा बाई, सोढ़ानाथी, सौभाग्य कुंवरी आदि कवयित्रियों ने कृष्ण को अपना आराध्य बनाकर विविध लीलाओं का गान किया। प्रवीण राय पातुर जैसी कवयित्रियां शृंगारिक प्रवृत्तियों को चित्रित करने में भी पीछे न रहीं।

इन विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं के समानान्तर ही जैन काव्य धारा भी प्रवाहित होती रही। पर अब तक के शोध कर्त्ताओं का ध्यान इस विशिष्ट काव्य-धारा की साधना करने वाली कवयित्रियो की ओर नहीं गया। इसका प्रधान कारण जैन भण्डारो की अव्यवस्था तथा उनके ग्रन्थों की सूचियों के प्रकाशन का अभाव रहा। पिछले दिनों जब हमने 'आचार्य बिनय चन्द्र ज्ञान भण्डार,' लाल भवन, जयपुर के संग्रह को देखा तो श्वेताम्बर परम्परा की कुशलांजी, रूपांजी गुलाबांजी लाछांजी, केसरजी, भूर सुन्दरीजी, चन्दाजी, लज्जावतीजी, सौभाग्यवतीजी, जड़ावजी आदि जैन विदुषी कवयित्रियों का पता चला। अन्य जैन भण्डारों के अवलोकन से और कवयित्रियां भी प्रकाश मे आ सकती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम जड़ावजी की काव्य-साधना पर संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं।

जड़ावजी का जीवन वृत्त

जड़ावजी का जन्म वि० सं० १८६८ में हुआ। बाल्यावस्था में ही सेठों की रीयां (मारवाड़) में इनका विवाह कर दिया गया। कुछ समय बाद ही इनके पति का देहान्त हो गया। परिणाम स्वरूप इन्हें संसार के प्रति बिरक्ति हो गई। कालान्तर में यह वैराग्य भावना बलवती हुई और २४ वर्ष की अवस्था में संवत् १९२२ में जड़ावजी से आचार्य रतनचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय की प्रमुख शिष्या रंभाजी के हाथों दीक्षा अंगीकृत कर ली। रंभाजी के सान्निध्य में रह कर ही जड़ावजी ने विविध ग्रंथों का अध्ययन किया। सं० १९४९ तक ये रंभाजी के साथ ही विहारादि करती रहीं। रंभाजी की १६ विशिष्ट शिष्याएं थीं। जड़ावजी उनमें प्रधान थीं। काव्य-रचना की प्रतिभा और क्षमता के कारण इन्हें प्रसिद्धि भी खूब मिली। ये रंभाजी के साथ जोधपुर, बीकानेर अजमेर आदि क्षेत्रों में बिचरण करती रहीं।

सं० १९४९ में रंभाजी का स्वर्गवास हुआ। इधर जड़ावजी की नेत्र ज्योति भी धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। फलतः सं० १९५० से अन्तिम समय तक ये जयपुर में ही स्थिरवासी बन कर रहीं। गर्मी के दिनों में प्रायः दाह-ज्वर की प्रबल वेदना से ये पीड़ित रहती। सं० १९७१ के ज्येष्ठ मास में यह वेदना अधिक प्रबल हो उठी। अन्ततः सं० १९७२ ज्येष्ठ कृष्णा १४ को दिन के दो बजे जयपुर में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी सेवा में इनकी बड़ी शिष्या तेजकंवर अधिक रही। जसकंवर, मल्काजी, आदि साध्वियों ने भी मनोयोग पूर्वक इनकी परिचर्या की।

जड़ावजी की काव्य साधना

जैन पुरुष कवि तो कई हुए ह पर जैन स्त्री कवियों की संख्या नगण्य है। सती जड़ावजी जैन कवयित्रियों में नगीने की तरह जड़ी हुई प्रतीत होती है। कविता करना उनकी जीवन चर्या का एक अङ्ग बन गया था।

५० वर्ष के सुदीर्घ साधना काल में जड़ावजी ने जीवन के विविध अनुभव आत्मसात कर काव्य में उतारे। उनका जीवन जितना साधनामय था काव्य उतना ही भावनामय।

प्रवृत्तियों के आधार पर इनकी समस्त रचनाओं को ४ भागों में बांटा जा सकता है—

(१) स्तवनात्मक (२) कथात्मक (३) उपदेशात्मक और (४) तात्विक।

१. स्तवनात्मक

स्तवनात्मक रचनाओं मे श्रद्धेय लौकिक पुरुषों और लोकोत्तर पद प्राप्त करने वाले विशिष्ठ महापुरुषों तीर्थंकरादि का गुण कीर्तन किया गया है। यह गुण कीर्त्तन किसी लोकेषणा का प्रतिफल न होकर आत्म-शक्ति को प्रबुद्ध करने का माध्यम तथा श्रद्धेय के गुणों को आत्म सात करने का विनम्र प्रयत्न है। जड़ावजी की इस कोटि की रचनाओं के दो स्पष्ट वर्ग हैं। पहले वर्ग में तीर्थंकर, अरिहंत, गणधर, सतियां आदि आती हैं। दूसरे वर्ग में कवयित्री के सम्पर्क में आने वाले संत-महात्मा हैं। तीर्थंकरों में सामान्य रूप से २४ तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। इस काव्य रूप को

'चौबीसी' कहा जाता है। इन चौबीस तीर्थंकरों में कवयित्री ने नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी को ही विशेष रूप से अपना गेय विषय बनाया है। जैन-परम्परा के अनुसार महाविदेह क्षेत्र में सदा सर्वदा बीस तीर्थंकर विचरते रहते हैं। इस समय भी वे वहां धर्म प्रचार का कार्य कर रहे हैं। इसी कारण इनकी एक संज्ञा 'विहर मान भी है। कवयित्री ने इन बीस विहर मानों की भी स्तुति की है। इस काव्य रूप को बीसी' संज्ञा दी जाती है। इन विहरमानों में प्रथम विहरमान श्री सीमंधर स्वामी ही उसके आराध्य रहे है। इनके जितने स्तवन मिले हैं उतने किसी और के नहीं।

अन्य संत महात्माओं के सम्बन्ध में जो गुण कीर्तन किया गया है उसे 'स्तवन' की अपेक्षा गुण कहना अधिक समीचीन है। इस गुण वर्णन में संतों का संक्षिप्त जीवन वृत्त भी समाविष्ट हो गया है। कवयित्री ने जिन मुनि-महात्माओं का गुणगान किया है उनमें प्रमुख हैं—तपस्वी बालचन्दजी आचार्य विनयचन्दजी, सुजान मलजी चन्दन-मल कजोडमली मं० आचार्य विनय चन्दजी मं०, सुजान-मलजी मं० चन्दनमलजी मं० कजोड़मलजी देवीलालजी म०। साध्वियों में अपनी गुरुणी रम्भाजी के प्रति कवयित्री ने श्रद्धा-भावना प्रकट की है।

२. कथात्मक

कथात्मक रचनाओं में सामान्यत- पौराणिक धार्मिक कथाओं को पद्यबद्ध किया गया है। जन साधारण को धार्मिक शिक्षा देने के लिये ये कथा काव्य बड़े उपयोगी होते हैं। इन कथा-काव्यों में इतिवृत्त की ही प्रधानता है। रसात्मक स्थलों की पहचान कर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यहां नहीं किया गया है। एक रूढ़िगत शैली में ही ये कथाएं प्रारंभ होती हैं और किसी आध्यात्मिक भावना का संकेत कर साधारण ढंग से समाप्त हो जाती हैं। इन कथाओं को कई ढालों में विभक्त किया जाता है। चार ढालों की कथा 'चौढालिया, नाम से और सात ढालों की कथा "सतढालियां नाम से अभिहित होती है।" श्रावक रोचौढालियों, "सुमति कुमति रो चौढालियो", अनाथी मुनि रो सतढालियों, "जंबू स्वामी रो सत ढालियो" ऐसी ही रचनाएं हैं।

ढाल, लावणी सज्झाय आदि काव्य रूप भी कथा-काव्य से संबंधित है। सीमंधरजी री ढाल, देवानंदा री ढाल, नेमजी री लावणी पारसनाथ री लावणी, मेघरथ राजा री लावणी, नेमजी री सज्झाय आदि रचनाएं इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

३. उपदेशात्मक

जैन काव्य धारा की प्रवृत्ति काव्य-चमत्कार और रस बोध की ओर उतनी नही रही जितनी आत्म परिष्कार और आत्म-बोध की ओर। ये कवि पहले साधक और उपदेशक होते थे। आत्म-कल्याण और लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ये विरक्त बन बैठते और उसी वैराग्य-भावना को जन-जन में जगाने की इनकी दृष्टि होती। कविता का सृजन वे इसी औपदेशिक भाव से करते। यही कारण है कि यहां उपदेश की प्रधानता है। इनके उपदेश एक रस और सामान्य होते हैं। सब में लगभग कषाये (क्रोध, मान, माया, लोभ) त्याग, इन्द्रिय-दमन, मन-निग्रह, व्यसन-त्याग, व्रत पालन, आत्म-निंदा, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्य वचन, प्राण-रक्षा, जीव दया, तप-त्याग, दान-महिमा, कर्म सिद्धान्त आदि का विवेचन रहता है। आलोच्य कवयित्री ने इन्हीं बातों को अपने ढंग से रखा है। विधि-निषेध की शैली ही सामान्यतः उपदेशात्मक रचनाओं में प्रयुक्त की जाती है। यहाँ जड़ावजी ने बारह भावना भाने की, समकित धारण की चंचल मन को वशीभूत करने की प्रेरणा दी है तो भांग तम्बाखू छोड़ने की, जमीकंद न खाने की, क्रोधादि कषाय न करने की बात भी कही है।

४. तात्विक

जैनागम प्राकृत भाषा में है। जैन दर्शन का अटूट भण्डार प्राकृत भाषा ही सुरक्षित किये हुए है। सर्व साधारण को जैन धर्म से परिचित कराने के लिये जैन विद्वानों ने एक ओर इन ग्रंथो की लोक भाषा में "बालावबोध" व "टब्बा" नाम से टीकाएं की तो दूसरी ओर सार्वजनीन सिद्धान्तों को लोक भाषा में पद्य बद्ध कर जन साधारण के लिये सुलभ बनाया। तात्त्विक रचनाएं इसी कोटि की हैं। इनमें मौलिकता का आग्रह नहीं, तत्व प्रचार की दृष्टि ही प्रधान है। जड़ावजी

ने नवबाड़, २२ परिषह, ३३ आसातना, पौषध के १८ दोष, सामायिक के ३२ दोष १८ पाप, १४ नियम १० बोल, चार शरणा आदि का तत्वज्ञान सर्व सुलभ बनाने की दृष्टि से इन विभिन्न आगमिक सिद्धान्तों और बोलो को पद्यबद्ध कर दिया है। यहां कविता के माध्यम से तात्विक मीमांसा न होकर तत्व बोध के आग्रह से ही कविता को माध्यम बनाया गया है।

भक्ति भावना

जड़ावजी की भक्ति भावना पर विचार करते समय इस तथ्य को नहीं भुलाया जाना चाहिये कि जैन दर्शन ने आत्मा को ही परमात्मा बनाने के लिये साधना का पथ प्रशस्त किया है। अतः अन्य दर्शनों में भक्त और भगवान के बीच जो पारिवारिक दाम्पत्य मूलक, वात्सल्य मूलक आदि सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं वे यहां इतने सहज नहीं। एक नारी प्रेम, आंसू और करुणा का अर्घ्य चढ़ा-चढ़ा कर प्रियतम को रिझाना चाहती है पर यहां उस प्रकार की अनुरक्ति के लिये स्थान कहां? यहां तो पद पद पर विरक्ति है। यहां का आराध्य यदि तीर्थंकर हैं तो बालक होने से पूर्व ही भगवान है। युवा होने के पूर्व ब्रह्मचारी है। उसके नर रूप में ही नारायणत्व की प्रतिष्ठा है। ऐसे आराध्य के प्रति श्रद्धा हो सकती है। पर कृष्ण भक्त कवयित्रियों की तरह उसके साथ गलबांही डाल कर रास लीला नहीं खेली जा सकती। यही कारण है कि जैन कवयित्री होने के नाते भक्ति के नाम पर प्रेम का उद्दाम वेग जड़ावजी की रचनाओं में नहीं मिलेगा। पर यह भी स्मरणीय है कि जड़ावजी स्त्री है। उनमें भी हृदय है। इसलिये इनकी भक्ति केवल मात्र ज्ञान मूलक-विरक्ति मूलक या नीरस न होकर सात्विक प्रेम भावना से सजल और सरस भी है।

कृष्ण भक्त कवियित्रियों ने जहा कृष्ण को अपना आराध्य बनाया वहां इस कवयित्री ने श्री मंधरस्वामी को। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के प्रति भी इस प्रकार की अनन्य भावना व्यक्त की गई है। कृष्ण भक्त कवयित्रियों ने रुक्मणि के माध्यम से अपनी कोमल प्रेम भावना बिखेरी है तो इस जैन कवयित्री ने राजुल को मधुर भावना का प्रतीक मान कर उसकी विरह व्यथा और करुणा का चित्र खींचा है।

कवयित्री अपने प्रिय से मिलना चाहती है। पर कैसे मिले? दोनों के बीच दूरी है। यह दूरी स्थानगत ही नहीं भावगत भी है। उसके आराध्य महाविदेह क्षेत्र में विराजमान है और वह अकेली इस भरत क्षेत्र में पड़ी है। बीच में बड़ी बड़ी घाटियां है। ऊँचे-ऊँचे पर्वत है, वेगवती नदियों का बहाव है। वह आखिर पहुंचे तो कैसे? उसके पास कोई लब्धि नहीं, शक्ति नहीं, विद्याधर उसके मित्र नहीं वह तो चातक की भांति टुक टक अपने प्रिय को निहारती रहती है। उसकी तो यही 'पीपी' की पुकार है :—

'क्षेत्र विदेह विराजियाजी, श्रीमंधर स्वामी।
हो जी म्हारा अन्तर गामी॥
हूं इण भरत मोझारे, सिवगत गामी॥आंकड़ी॥१॥
बिन देख्या मन झुलसे जी, जिम चातिक जलधार॥२॥
लबद विद्या नही मां कने जी, पाखे नही तन माय॥३॥
विद्याधर मैत्री नही जी, किन बिद मेलो थाय॥४॥
दूर दिसावर आपरो जी, बिच में विखमी बाट॥५॥
आडा डूंगर बने घणां जी, नदिया अो घट घाट॥६॥

भावगत दूरी इस स्थानगत दूरी से भी अधिक गंभीर सूक्ष्म और भयावह है। वह कर्मों के घेरे में बंदी है। राग द्वेष दो पोलिया खड़े हैं, चार कषाय चौकीदार हैं। घेरे को तोड़ कर वह कैसे आये?

राग ने धेक दोनुं पोलिया, चौकी चार कषाय।
आठ करम रो घेरो लागियो, मिलण न दै म्हाराय॥
तन मन तरसै हो दर्शन देखवा, बरस रह्या मुंज नैण।
लबद विद्या तो हम पासै नही, किण विध आऊँ सैण॥
चंद चकोरा अो मोरा मोहनूं, पति वरता पति जेम।
इण विद चाऊं अो दर्शण आपरो पिण आइजे केम॥

कवयित्री विवश है असहाय है पर क्या करे? स्थूल बाधाओं को दूर करने की तो उसमें हिम्मत है। वह समुद्र को तो लाघ सकती है पर संसार सागर को कैसे लांघे? वह बालक का तो मन बहला सकती है पर स्वयं अपने मन को कैसे रक्खे? वह लोह शृंखला को

तो तोड़ सकती है पर तृष्णा को कैसे तोड़े ? वह घोड़े की रास तो मोड़ सकती है पर ममता को कैसे मोड़े ? वह धातु को तो गला सकती है पर अभिमान को कैसे गलाये ? रुठे हुए को मना सकती है पर मृत्यु को कैसे मनाए ? घावों को भूल सकती है पर कुवचनों की जलन को कैसे भूले ? बांधे हुए को छोड़ सकती है पर कुलक्षणों को कैसे छोड़े ? दुश्मन को जीत सकती है पर मोह कर्म पर कैसे विजय प्राप्त करे ? कागज को बांच सकती है पर कर्म-रेखा को कैसे बांचे ?

समद्र वेतो डाकल्यूं जीवांजी । हारे जीवा,
भव जल डाक्यों न जाय ।
बालक ने तो राख लूं जीवा । हारे जीवा,
मन बस राख्यो न जाय ।।
सांकल ने तो तोड़ल्यूं जीवा । हारे जीवा,
त्रिसना तोड़ी न जाय ।
घोड़ो ने तो मोड लूं जीवा । हारे जीवा,
ममता मोड़ी न जाय ।।
धातु ने तो गालद्ं जीवा । गरबन गाल्यो जाय,
रुस्यो ने तो मनाय ल्यूं जीवा । हारे जीवा,
मरता राख्यों न जाय ।
घाव लगे तो भूली ए जीवा । हारे जीवा,
कुवचन भुल्या न जाय ।
पकड्यो वे तो छोड़ दूं जीवा । हारे जीवा,
कुलछण छोड्यो न जाय ।।
वेरी वे तो जीतल्यूं जीवा । हारे जीवा,
मोह क्रम जीत्यो न जाय ।
कागद वे तो बांच लूं जीवा । हारे जीवा,
कर्म न बाच्यां जाय ।

यही विवशता है भक्त की भगवान के आगे । पर भक्त में आस्था है, विश्वास है । वह इस दूरी को मिटाने का प्रयत्न करता है । कवयित्री अपने प्रयत्न मे कभी तो उपास्य को उपालंभ देती है—

"भेलाइ सुख दुख भोगव्याजी, भेलाइ खेल्या खेल ।
आप तो भुगत पधार्या, मा ने चोरासी में भेल ।।"

कभी मीरां की भांति उसके साथ "पूर्व जन्म की प्रीत" का सम्बन्ध जोड़ती है—

"पर दुख भंजण आप तो छो, मारी पाल जो पूरण प्रीत" और कभी आत्म साक्षात्कार के लिये पूर्ण तैयारी करती है—

"ज्ञान का घोड़ा चित्त की चाबुक, विनय लगाम लगाई ।
तप तरवार भाव का भाला, खिम्या ढाल बंधाई ।।
सत संजम का दिया मोरचा, किरिया तोप चढ़ाई ।
सभाय पंच का दारू सीसा, तोया दीवी चलाई ।।
राम नाम का रथ सिणगारिया, दान दया की फौज ।
हरख भाव से हाथी होदे, बैठा पावो मौज ।।
माव सिपाही पायक पाला, संवर का रख वाला ।
धर्म राय का हुकुम हुआ जब, फौजा आगी चाला ।।"

पर आत्म साक्षात्कार की अनुभूति के गीतों का उल्लास यहां नहीं है । यहां केवल परमात्मा के स्वरूप और स्वभाव का चित्रण किया गया है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जड़ावजी की भक्ति भावना में ब्रह्म के प्रति मिलन की तड़फ तो है पर यह मिलन क्षण जीवी न होकर अपने अन्तराल में चिरन्तन सुख और अबाध आनन्द की साध छिपाये है जिसकी पूर्ति जीवनमुक्त दशा में ही संभव है ।

आध्यात्म-चिन्तन

आलोच्य कवियित्री की दूसरी प्रवृत्ति संत काव्य धारा मे मेलखाती है । संतों ने नारी को साधना में बाधक माना है वहां भक्त कवियों ने नारी बन कर ही भगवान की उपासना की है । जड़ावजी ने प्रत्यक्ष रूप से नारी की निंदा नही की पर सुमति-कुमति का द्वन्द बता कर कुमति की निन्दा कर नारी जाति की दुष्प्रवृत्तियों की भर्त्सना की है । संत काव्य में गुरु को आध्यात्मिक महत्व दिया गया है । जड़ावजी ने भी गुरु महिमा में कई भावपूर्ण पद लिखे हैं । इनकी प्रेरणा से ही वह जीवन-नैया को पार लगाना चाहती है—

"गुरुजी मारी नावा पार लगावो ।
सुगति की राह बताओ ।।
काया में माया भोत भरी है,
हीरो, लाल, चूनी मोती ।
पंना पांच अरु तीन रतन म्हाहे,
लागि जिगामग ज्योति ।।

करम भकोला दे छै हो लोला,
अरदी परदी डोले ।
गुरु पर बीरण लगाई,
थाग पाणी से तोलै ।।

जीवन मुक्ति में सबसे बड़ी बाधा मनकी चंचलता है। इस चंचल मन को वश में करना बड़ा मुश्किल है—

मन चंचल कैसे मुड़े री पापी बिन पांख उड़ेरी ।

मन की इस गति को कवियित्री ने कई पदों में प्रकट किया है। यहां एक उदाहरण दृष्टव्य है--

"मन चंचल हाथ न आवे ।
दौड़यो बाहर जावे ।। आंकई ।।
घेर घेर लामें निज गुण में, तो पिण फंद लगावै,
फाल भरे बन्दर की नाइ, कूद किनारे जावे ।।

इ चंचल मन को वशीभूत करने का एक उपाय है राम नाम का स्मरण। कवियित्री अपने आत्मा राम को जागृत कर यही उपदेश देती है—

उठो रे मेरा आतम राम, जिन गुण गा जाए रे । उठो ।
राम नाम का रोक रुपया, अही मैरे माया रे,
कुसी पड़े तो करज ले जावो, समरण ब्याज लगाया रे ।
मोह निद्रा में गाफल मत रै, तक र पांच लूटेरा ।।१।।
प्रभु नाम का पहरा लगावो, लूट सके नही केरा रे ।।२।।

प्रकृति चित्रण

संत-काव्य प्रकृति पूजक नही रहा। वहा प्रकृति-सौन्दर्य के चटकीले चित्र नहीं मिलते प्रकृति आई अवश्य है पर आध्यात्म-चिन्तन को गति देने, मन को विकृति से छुटकारा दिलाने और आत्मा को विरागयुक्त करने। जडावजी ने स्वतंत्र रूप से प्रकृति को काव्य का विषय नहीं बनाया। पर राजुल और नेमिनाथ के संबंध मे बारहमासा लिखने की जो परिपाटी चली आ रही थी उसे अवश्य आगे बढ़ाया। इसी प्रकार होली, दिवाली, राखी जैसे लौकिक त्यौहारों को अपना विषय बनाया पर उन सबको आध्यात्म-भावभूमि पर ला उतारा। इस प्रवृति का परिणाम यह हुआ कि प्रकृति का जो प्राकृत रूप था वह तो अदृश्य हो गया और उभर कर सामने आ गया उस पर आरोपित शील निरूपण का रूढ़िगत दृश्य। कला की दृष्टि से यहां बड़े सुन्दर और सटीक सांग रूपक निर्मित हुए।

बारहमासा को आध्यात्मिक रूप देते हुए चैत्र मास मे चेतना की प्रेरणा ग्रहण की गई। आषाढ़ में आशा को फलीभूत होते देखा गया। श्रावण में जिनवाणी श्रवण की बाढ़ आई। मगसर में ममता को मिटते देखा। फाल्गुन मे समकितरूपी स्त्री के साथ फाग खेला गया।

"आसाढ़ आसा फली रे, मोरया करत मलार ।
सतगुरु इन्द्र धड़कियो, वाणी बरसे सघन घने धार ।।
सावण श्रवण रस पीजिए रे, जिनवाणी भरपूर ।
मिथ्या रोग मिटावसी, ज्यांर सिव सुख नही छे दूर ।।
मिगसर ममता मारने रे, समता करो घर नार ।
सहल करो सिवपुर तणी, राखो केवल चौकीदार ।।
फागण फाग खेलो भवप्राणी, समकित स्त्री के संग ।
पिचकारी पछ्खाण री, भर डारो सील सुरंग ।।पृ०७०।।

राखी के त्यौहार पर कवियित्री ने सुमति के परिवार को जीमने का अच्छा न्यौता दिया है—तो दीपावली के शुभ अवसर पर उसने दान के दीपक मे समकित की बाती प्रज्जवलित कर ज्ञान की ज्योति जगाई है। तप के पकवान सजाय हैं और क्षमा की खिड़की से लोक व्यवहार देखा है। खेलने की आध्यात्मिक विधि का एक नमूना देखिये :—

"सुमत गुपत की करो पिचकारी,
समवर सील भरो पाणी ।
मन मिरदंगी सुरत सारंगी,
मधुर मधुर गावो जिनवाणी ।।
नेम धर्म का दोए मजीरा,
सरदा लेर करो प्राणी ।
ग्यान गुलाल, अबीर ध्यान को,
आठ करम करों धूल धाणी ।।

रूपक-योजना

कवियित्री ने जगह जगह लौकिक व्यवहार और प्राकृतिक वातावरण की भाव भूमिका पर लम्बे-लम्बे सुन्दर रूपक बांधे हैं। यहां शील-रथ और मुक्ति का

वरण करने वाले वीर दूल्हे का स्वांगरूपक नमूने के लिए द्रष्टव्य है—

(१) सील रथ कै जुपादयो २ गुरुजी माने,
मुगति को पंथ बतादयो ।
दया धरम की भूल करणी कर फुंधरमाल
बंदादयो २ गुरुजी०
क्रिया किलंगी, व्रत की बागा,
मेमा का मुगट धरादयो २ गुरुजी०
चेतन राजा माह विराज्या,
जस का बाजा बजादयो २ गुरुजी०
ग्यान लगाम, ठाम मन घोड़ा,
समता की सड़क चलादयो २ गुरुजी०
सतगुरु सारथी खेड़ण वाला,
सिवपुर की सैर करादयो २ गुरुजी०

(२) पंच इन्द्री ने बस करो, सुमत गुपत सुखकार ।
संवर बांध्यो सेवरो, सी लरो कियो सिणगार ।।
क्रिया किलंगी खुल रई, तपस्यां रो तिलक लिलार ।
खिम्मा खड्ग ज्यार हाथ में, ग्यान घोड़े असवार ।।
मुकति रा डंका बाजिया, संजम सैन्या लार ।
अचल अखै सुख माणवा, होय रह्या छो त्यार ।।

जड़ावजी अधिक पढ़ी लिखी न थी । चलती हुई राजस्थानी में उन्होंने हृदय की भाव-घटा को विविध राग-रागिनियों के साथ बरसाया है । यह सहज अमृत-वर्षा कला-समीक्षकों को चाहे आकर्षित न कर सके पर जो रस से मग्न होना चाहते हैं उन गोताखोरों को इसमें राशि राशि भावदर्शन मिलेंगे ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली कवियित्री जड़ावजी का हिन्दी कवियित्रियों में विशिष्ट स्थान है । उसने न तो डिंगल कवियों की भांति अन्तःपुर में रह कर रानियों के मनोविनोद के लिए काव्य रचना की न किसी की प्रतिस्पर्द्धा में ही कलम तोड़ी । वह तो सबको समान रूप से अपने हृदय का प्रेम प्रसाद बांटती हुई विश्व मन्दिर के विशाल प्रांगण मे लोक-धुन गाती रही ।

जैन-कवियों ने मूलतः धर्मप्रधान काव्यों की रचना करते हुए भी उन्हें कोरा धर्मोपदेशक ग्रन्थ नहीं बना दिया ।

काव्य धर्म के प्रमुख तत्त्व कल्पना की सुरक्षा करते हुए इन्हें वाग्वैदग्ध्य के बल पर चमत्कृत किया है—यह अलग प्रश्न है कि ऐसे स्थलों से ये अनुस्यूत नहीं है । वस्तुतः यह समुचित भी हुआ है अन्यथा मूल विषय के प्रति अन्याय होने का भय रहता ।

महाश्रमरा महावीर का दिव्य जीवन

• कस्तूरचंद कासलीवाल
एम. ए. पी-एच. डी.

भगवान महावीर जहा उपदेश देते थे उस सभा को समवसरण कहा जाता था। वहां बैठने के लिये १२ कक्ष नियत थे जिनमें मुनि, आर्जिका मनुष्य एवं स्त्रियों के अतिरिक्त पशु पक्षी भी आकर धर्म श्रवण करते थे। उनकी इस सभा में मनुष्य मात्र को आने का अधिकार था तथा जाति, धर्म एव वर्ण का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। परम अहिंसक प्रशम मूर्ति एवं क्षमाशील तीर्थंकर के प्रभाव से समवसरण में आये हुये विरोधी प्राणी भी अपने जातिगत विरोध को भूल जाते और उनके पावन उपदेश का पालन करते थे।

महाश्रमण महावीर जगत के उन महापुरुषों में से है जिन्होने अपने त्याग तपस्या एवं पावन उपदेशों से प्राणी मात्र को जीवन विकास का एक नया मार्ग दिखलाया। महावीर ने राज पाट छोड़ा, भोग विलास छोड़े। संसार की सभी सुख सुविधाओं की सामग्री त्यागी और निर्ग्रंथ तपस्वी बन कर स्वयं सुख शान्ति का मार्ग खोजा एवं जगत के दुखी प्राणियों को बताया। उस मार्ग पर पहिले स्वयं अवतरित हुये और फिर मानव मात्र को उस पर चलने का उपदेश दिया। उन्होंने सर्वप्रथम १२ वर्ष की घोर तपस्या के पश्चात् पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया, सर्वज्ञ बने और फिर अपने ज्ञानामृत से जगत को सिञ्चित किया। आत्मोद्धार का जो मार्ग उन्होंने बतलाया वह सीधा सादा था। इसलिये लाखों मानव स्वत: ही उनकी ओर आकृष्ट हो गये और अपने जीवन को उनके बतलाये हुये मार्ग पर चलकर पावन किया। ऋषभदेव राम कृष्ण एवं पार्श्वनाथ के इस देश में उन्होंने अहिंसा एवं प्रेम की गंगा बहायी तथा भारत के एक छोर से दूसरी छोर तक जनमानस को पवित्र किया। वे जबरदस्त प्रभावशाली थे; इसलिये जो भी उनके पास आता वह उनका हो जाता। शास्त्रार्थ करने वाले बड़े २ दिग्गज पंडित उनके शिष्य बनकर लौटते। अहिंसा और सत्य के वे मसीहा थे।

महावीर अपने समय के सर्वोपरि महापुरुष थे। वे मानवों द्वारा ही पूजित नहीं थे किन्तु देवताओं द्वारा भी वन्दनीय थे। देव एवं मानव दोनों ही उनकी सेवा एव सुरक्षा में तत्पर रहते-लेकिन वे किसी से कुछ सेवा नहीं लेते। उनका कहना था कि आत्म स्वातन्त्र्य के युद्ध में मानव को अपने स्वयं के बल पर ही आगे बढना चाहिए। सफलता उन्हीं का चरण चूमती है जो परमुखापेक्षी नहीं होते। इसलिये उन्होंने भारतीय जीवन मे परिवर्तन लाने के लिये जो भी क्रान्तिकारी कदम उठाये उसमें वे पूर्ण सफल हुये। आज हम ऐसे ही महामानव एवं महाश्रमण की जयन्ती मना रहे है।

जन्म

महावीर का जन्म आज से २५६२ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन बिहार प्रदेश के कुण्डल ग्राम मे हुआ था। उनके पिता क्षत्रिय वंश के थे और उसी ग्राम के राजा थे। उस समय वहा गणतन्त्र था और महाराजा सिद्धार्थ उस गणतन्त्र के प्रमुख थे। उनकी माता प्रियकारिणी त्रिशला थी जो लिच्छवियों के गणतन्त्र के प्रधान राजा चेटक की बहिन थी। महाराजा सिद्धार्थ उस समय के प्रभावशाली एव जनप्रिय शासक थे।

बाल्यावस्था

महावीर जन्म से ही विशिष्ट ज्ञान के धारी थे। उनकी बुद्धि प्रखर थी और वे अपने साथियों में प्रमुख थे। वे मेधावी एवं व्युत्पन्नमति थे। विपत्ति में वे

अपना सन्तुलन नहीं खोते थे । एक बार बाल्यावस्था में ही जब वे अपने साथियों के साथ उद्यान में बाल सुलभ खेल खेल रहे थे तो उन्होंने सामने से आते हुये भयंकर विषधर को उठा कर फेंक दिया था । जबकि उनके अन्य साथी उसे देखकर ही भाग खड़े हुये थे ।

शिक्षा एवं गृहत्याग

वे जब पढने लगे तो शीघ्र ही सब ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया । उनकी प्रखर एवं गतिशील बुद्धि को देखकर शिक्षक भी दंग रह जाते लेकिन महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञान होने का कभी गर्व नही किया । वे सुन्दरता में कामदेव को भी लज्जित करते थे । जब वे वन विहार एवं नगर दर्शन के लिए निकलते तो प्रजा उनके मनमोहक-सौंदर्य को देखकर फूली नहीं समाती । बड़े बड़े राजा महाराजा महावीर के विवाह के लिये अपनी २ राजकुमारी को देने का प्रस्ताव रखते । इस तरह आये दिन विवाह के प्रस्ताव आते लेकिन वे उन्हे सदैव टालते रहते । अन्त में उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में निर्ग्रन्थ साधु की दीक्षा लेने के अपने निश्चय को सब के सामने रख दिया । माता त्रिशला रोने लगी एवं सिद्धार्थ असमंजस में पड़ गये । उन्हें बहुत समझाया गया अनेक प्रलोभन दिखलाये गये । राज्य शासन समाप्त होने का डर दिखलाया गया तथा साधु जीवन में आने वाली विपत्तियों को गिनाया गया । लेकिन भगवान महावीर अपने निश्चय पर अटल रहे और मंगसिर बुदी १० को वे घरबार छोड़ कर निर्ग्रन्थ बन गये ।

तपस्वी जीवन

१२ वर्ष तक महावीर स्वामी ने घोर साधना एवं तपस्या की । उनका तपस्वी जीवन रोमांचकारी था । वे महीनों तक ध्यानस्थ रहते । वे जंगलों की कन्दराओं में मौन साधे हुये खड़े रहते । भूमि पर शयन करते । उन्हें एकान्त वास प्रिय था । वे आत्म ध्यान में तल्लीन रहते और जीवन-मरण के प्रश्न पर तथा आत्म तत्व पर विचार किया करते । अन्त में १२ वर्ष के पश्चात् उन्हें पूर्ण ज्ञान होगया । और भूत भविष्यत वर्तमान की समस्त घटनायें साक्षात्कार होने लगी । अब उनके ज्ञान के बाहर कोई वस्तु नहीं रही । वे सर्वज्ञ कहलाने लगे ।

महावीर की सभा

भगवान महावीर जहां उपदेश देते थे उस सभा को समवसरण कहा जाता था । वहां बैठने के लिये १२ कक्ष नियत थे जिनमें मुनि, आर्यिका, मनुष्य एवं स्त्रियों के अतिरिक्त पशु पक्षी भी आकर धर्म श्रवण करते थे । उन की इस सभा में मनुष्य मात्र को आने का अधिकार था तथा जाति, धर्म एवं वर्ण का कोई प्रतिबन्ध नहीं था । परम अहिंसक प्रशम मूर्ति एवं क्षमाशील तीर्थङ्कर के प्रभाव से समवसरण में आये हुये विरोधी प्राणी भी अपने जातिगत विरोध को भूल जाते और उनके पावन उपदेश का पालन करते थे ।

महावीर की भाषा

महावीर तीर्थंकर थे । उनकी वाणी दिव्य ध्वनि कही जाती है । भगवान की वाणी की भाषा अर्ध मागधी थी जो उस समय की जनसाधारण की प्रिय एवं बोलचाल की भाषा थी । यद्यपि संस्कृत का भी उस समय काफी प्रचलन था लेकिन अर्धमागधी जन-साधारण की भाषा होने के कारण भगवान महावीर ने इसी भाषा में ही उपदेश देना प्रारम्भ किया । यह प्रथम अवसर था जब एक सर्वोपरि धार्मिक नेता ने बोलचाल की भाषा में अपना प्रवचन दिया इसलिये महावीर के धर्म की ओर शीघ्र ही लाखों भारतवासी उनके अनुयायी होगये ।

प्रमुख उपदेश

भगवान महावीर ने सर्व प्रथम 'जीओ और जीने दो' यानी अहिंसा धर्म को अपनाने एवं उसे जीवन में उतारने का उपदेश दिया । सब जीवों के समान आत्माएँ है । जैसे हमारी आत्मा को दुःख होता है वैसा ही दुःख दूसरों की आत्मा को भी होता है । अहिंसा सब धर्मों का मूल है । कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों ही प्रकार की हिंसा से मनुष्य को बचना चाहिए । वस्तुतः अहिंसा ही धर्म का सार है । अतः महावीर ने अपने प्रवचन में अहिंसा को ही सर्वप्रथम स्थान दिया ।

उन्होंने सर्व जाति सम भाव का मंत्र फूंका । सभी जातियाँ समान हैं । जन्म मात्र से न कोई ऊँचा है और न नीचा । नीच-ऊंच तो अपने कर्मों से होता है । उच्चकुल में जन्म लेने मात्र से किसी की पूजा करना एवं

नीच कहेजाने वाले के यहां उत्पन्न होने से ही किसी से घृणा करना उचित नहीं है। मानव की पूजा गुणों से की जानी चाहिए जाति वर्ण एवं गोत्र से नही । भगवान महावीर के इस क्रान्तिकारी कदम से बड़े २ पुरोहितो एवं पुजारियों के आसन हिल गये । उन्होंने सबको जीवन विकास का समान अवसर दिया और इससे सारे भारत में उस समय उपेक्षित, पददलित एवं पीडित समाज में पुनः आशा का संचार हुआ और वे भी अपने विकास के सुनहले स्वप्न देखने लगे ।

भगवान महावीर ने सर्वधर्म-समभाव का भी उपदेश दिया। उनके समय में ३६३ प्रकार के विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित थे और जो एक दूसरों को नीचा दिखलाने के लिये लड़ा करते थे। इसलिये महावीर ने सबसे सर्वधर्म समभाव अपनाने के लिये कहा। और अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद के सिद्धान्त को जन्म दिया। उन्होंने कहा कि आग्रह ही लडाई झगडे का कारण बनता है अतः सभी धर्मों का आदर करना चाहिए। जो कुछ हम कहते हैं वही एक मात्र सही नहीं है किन्तु किसी दृष्टि से दूसरे का कथन भी सही हो सकता है । इस सिद्धान्त को जीवन में उतारना चाहिए। तभी जगत में सुख शान्ति स्थापित हो सकती है । सर्वधर्म समभाव के रूप में उन्होंने सहअस्तित्व के सिद्धान्त का ही मानों प्रतिपादन किया जिसकी आज के युग में सबसे अधिक आवश्यकता है ।

पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को और जोड़ कर पांच व्रत किये। उस जमाने में लोगों का चरित्र भी बहुत गिर चुका था तथा वे असंयमी बन चुके थे। कुमार्ग में जाने मे जरा भी संकोच नहीं करते थे। स्त्रियों का बाजार लगता तथा वे बिका करती थीं। वेश्याओं की दूकानें लगती तथा अनैतिक व्यापार का भी बाहुल्य था। इसे रोकने के लिये महावीर ने ब्रह्मचर्य को जीवन का प्रमुख अंग घोषित किया।

परिग्रह परिमाण व्रत के नाम पर महावीर ने आर्थिक समानता के सिद्धान्त को जन्म दिया। एक निश्चित राशि से अधिक धन धान्य, दासी दास, मकान आदि संपत्ति किसी भी श्रावक को नही रखना चाहिये। यदि ये परिग्रह की वस्तुएँ अधिक होंगी तो समाज मे किन्हीं लोगों का ही प्रभुत्व रहेगा। समाज के सर्वोदय के लिए आवश्यक है कि धन धान्य आदि के वितरण एवं संग्रह में अधिक विभिन्नता न हो। किसी गृहस्थ के पास जरूरत से इतना अधिक न हो कि वह उससे खाया भी न जाय और दूसरे लोग भूखे पेट ही सोवें। महावीर ने सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया जिससे समाज मे सभी सुखी एवं साधन सम्पन्न हो सकें। इस प्रकार महावीर ने परिग्रह परिणाम के नाम पर २॥ हजार वर्ष पूर्व ही समाजवाद के सिद्धान्त का सूत्रपात कर दिया था जिसकी आज चारों ओर चर्चा है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचाणुव्रत (अहिंसा सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह परिमाण) आज भी जीवन के लिए उतने आवश्यक है जितने कि ये उस समय थे। आज जहां नैतिकता का दिनों दिन ह्रास होता जारहा है, फैशन परस्ती बढ रही है तथा व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से विमुख होता जारहा है उस समय महावीर के इन सिद्धान्तो को जीवन मे उतारा जाय तो हम सबका जीवन फिर से सुखी एवं सम्पन्न बन सकता है। इन उपदेशों को जीवन में उतारने के लिए किसी सम्प्रदायवाद के चक्कर मे पडने की आवश्यकता नहीं। धर्म के नाम पर समाज के नाम पर वर्ण भेद के नाम पर जो जगत् के कोने २ में अत्याचार एवं उत्पीडन हो रहा है वह तभी मिट सकता है जब हम अपने जीवन में सर्वजीव समभाव (अहिंसा) सर्वधर्म समभाव (अनेकान्त) एवं सर्व जातिसमभाव के सिद्धान्तों को जीवन में उतारें। यदि हम ऐसा नहीं करसकें तो हमारा समाज की भविष्य में क्या गति होगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आशा है भगवान महावीर की इस पावन जयन्ती पर हम भारतीय फिर से उनके द्वारा दिखलाये हुये मार्ग पर चलने का पुनः प्रयास करेंगे जिससे हम अपने जीवन का विकास कर सकें।

अहिंसा का व्यापक चिंतन और आचार

• जवाहिरलाल जैन

मानव में जीने और जानने की मूलभूत प्रवृत्तियां है। जीने की प्रवृत्ति पशु में भी है पर मानव में चिंतन, वाणी, भाषा और लेखन के विकास और विस्तार ने उसके ज्ञान को बढ़ाया है, विवेक को विकसित किया है, इसी से मानव में सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। जहां सभ्यता और संस्कृति है वहां मानव-समाज में अपनी सुरक्षा, कमजोर को संरक्षण, जियो और जीने दो का विचार और दूसरों के लिए स्वयं कष्ट-सहन और त्याग तथा बलिदान की भावना और आचार पनपे और बलवान बने हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानव-सभ्यता और संस्कृति अहिंसा के विचार के विकास पर ही आधारित हैं। यह अवश्य है कि विभिन्न युगों और देशों मे इस विचार के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न परिमाण में जोर दिया गया है और वह कुछ उनकी 'अपनी-अपनी' परिस्थितियों और मानव-समूहों की विकास-श्रेणी के अन्तर का प्रभाव है। यह सारा का सारा अध्ययन अपने आपमें बहुत रोचक, ज्ञान वर्द्धक और उपयोगी है।

भारत में अहिंसा का विचार मुख्यतः पशुओं के प्रति करुणा से आरंभ हुआ लगता है। यज्ञों में की जाने वाली पशु-हिंसा का विरोध भी इसी का परिणाम है और मांसाहार निषेध का जो महान् और व्यापक प्रयोग भारतीय सभ्यता और संस्कृति में गये हजारों वर्ष से चला है, वह भी इसी का सूचक है। वैदिक, बौद्ध और जैन सभी संस्कृतियों में इसके विचार और आचार पर गंभीर चिंतन चला और अनेक पद्धतियां प्रयोग में लाई गई। जैन सूक्ष्म प्राणियों तक की हिंसा के बचाव की दिशा में बहुत गहराई में गये। मानवेतर प्राणियों की हिंसा से बचने का प्रयत्न इस देश में बहुत अधिक रहा।

लेकिन अहिंसा का एक पहलू हिंसा से बचने का, हिंसा न करने का है तो दूसरा पहलू प्राणियों के कष्ट को दूर कर उनकी सेवा करने का, उनको अधिक सुखी बनाने का भी है। ऐसा लगता है कि इस दिशामें इस देश में अपेक्षाकृत चिंतन कम हुआ। यद्यपि पक्षियों के रोग दूर करने के उनको चारा-दाना देने के लिए चिकित्सालयो के कुछ उदाहरण मिलते हैं और गायों के लिए पिंजरापोलों की व्यवस्था भी हर देश में व्यापक रही है पर गायों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के लिए ऐसी व्यवस्थाएं कम ही सोची गई और रोगियों की, घायलों की सेवा की सामूहिक और व्यापक परम्परा ज्यादा नहीं बनी और मानव-समाज में गरीबी, विषमता, बीमारी क्यों होती है और उसे किसी विशेष प्रकार मे समाज-संगठन के द्वारा दूर किया जा सकता है या नहीं इस दिशा में भी बहुत अधिक नहीं सोचा गया। हो सकता है कि आवागमन और भाग्य के सिद्धांतों की प्रबलता के कारण इस तरफ ज्यादा ध्यान भारतीय संस्कृतियों का न गया हो।

मध्यपूर्व में उत्पन्न होने वाली यहूदी, ईसाई और इस्लामी संस्कृतियों मे मांसाहार निषेध पर जोर कम रहा, यद्यपि रोजा, उपवास आदि के द्वारा आहार में संयम पर विचार किया गया और अमुक पशु का मांस न खाया जाय, या केवल मछली ही उपवास के दिन खाई जाय पर सोचा गया। मानवों की सेवा का विचार विशेष हुआ, घायल रोगी-कोढ़ी आदि के दुःख दूर करने पर जोर दिया गया। सूद-खोरों का निषेध हुआ।

अहिंसा के नकारात्मक पहलू के बजाय प्रेम के विधेयात्मक पहलू को बल मिला। युद्ध का निषेध जो भारतीय संस्कृतियों में शायद ही कहीं मिलता हो, ईसाई-संस्कृति में विशेष रूप से किया गया। अपराधों के कारण दी जाने वाली सजाओं पर विचार गंभीरता से हुआ। फांसी की सजा किसी व्यक्ति को न दी जाय यह आंदोलन पश्चिम के अहिंसा-विचार का ही परिणाम है।

युद्ध-विरोध, निःशस्त्रीकरण—तलवारों को हल के फालों में बदल दिया जाय—ईसा-मसीह की इस कल्पना के मूल में है। यह आन्दोलन पश्चिम में ही पनपा और बढ़ा। युद्धों में मानव-समूहों को जो अपमान और कष्ट सहने पड़े, अन्याय और निर्दयता पूर्वक इंसानों को मौत के घाट उतारा जाता है, जो अत्याचार स्त्री-बालकों पर होते है, उनका गहरा प्रभाव पश्चिम के विचारकों पर पड़ा है और उसी में से युद्ध-विरोध का चिंतन और प्रयोग निकले हैं और सारी दुनिया में फैले हैं। रोग के उपचारों में रोगी को कष्ट कम से कम किस प्रकार हो यह चिंता और उसके परिणाम स्वरूप होने वाले आविष्कार पश्चिम मे प्रवाहित होने वाली अहिंसा की एक धारा है।

इस विचार की अन्य दिशा मानव-समाज की व्यवस्था और संगठन का चिंतन इस दृष्टि में है जिसमे मानव की गरीबी, विषमता और कष्ट में कमी हो सके, सारे मानव अलग-अलग और कुल मिला कर अधिक सुखी, ज्ञानवान दीर्घजीवी और प्रसन्न हो सकें। भौतिक दृष्टि से अहिंसा के इस पहलू का विचार पश्चिम में हुआ है। भारत में तथा पूर्व के देशों में मानवीय सुख का आध्यात्मिक और आस्तिक दृष्टिकोण से किया गया है। यद्यपि उसमें अगले जन्म, और मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले स्वर्ग और मोक्ष के विचारने वर्तमान जीवन के इस पहलू को जितना प्रभावपूर्ण और प्रबल बनाना चाहिये था संभवत- नहीं बना पाया।

गांधीजी ने अहिंसा के व्यक्तिगत और सामाजिक, आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओं का समन्वय और संतुलन करने का प्रयत्न किया और इसके साथ ही उन्होंने पूर्व पथा पश्चिम के अहिंसा के विचार में संतुलन लाने की कोशिश की। विनोबाजी आत्मज्ञान और विज्ञान के समन्वय की चर्चा करते हैं और ऐसा मानते हैं कि भविष्य में आध्यात्म और विज्ञान मे ही दो महान् विचार शक्तियां रहने वाली हैं जो मानव को तारक या मारक सिद्ध होंगी। यदि ये दोनों मिल कर चलेंगी तो दुनियां इस धरती पर स्वर्ग बन सकेगी और ये दोनो एक दूसरे के विपरीत गई तो धरती पर से मानव-जाति का या शायद प्राणिमात्र का ही सफाया हो सकता है। विज्ञान के संहारक विकास और विस्तार ने अहिंसा और आध्यात्मिकता के सामने यह चुनौती रखी है विशेष रूप से उनके सामने जो इनमें आस्था रखते हैं और इन पर गर्व करते है।

आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया के विभिन्न भागों में प्राचीन तथा मध्यकाल में अहिंसा के संबंध मे जो चिंतन और आचरण हुआ है उनका व्यापक दृष्टि मे तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और आधुनिक काम मे जो चिंतन तथा प्रयोग चल रहे है उनकी जानकारी की जाय तथा कराई जाय। यह काम देश-विदेश अहिंसा तथा शांति के शोध-संस्थानों को करना चाहिये। इस के साथ ही दुनिया मे आज अनेक देशों मे चलने वाले अहिंसा तथा शांति के आंदोलनों को बल देना चाहिये। ऐसा करने से ही वर्तमान अणुयुग में अहिंसा की शक्तियों को बल मिलेगा और आध्यात्मिकता तथा विज्ञान का समन्वय हो सकेगा। संसार का भविष्य इसी समन्वय पर निर्भर है।

भगवान महावीर की मंगलमय वाणी

• अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म के प्रवर्तक एवं प्रचारक तीर्थंकर महापुरुषों ने कई जन्मों की साधना के अनन्तर आत्म साक्षात्कार करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और जगत के जीवों के उद्धार के लिए कल्याण मार्ग का उपदेश निरन्तर घूमकर सर्वत्र प्रचारित किया उसे श्रवण करके लाखों व्यक्तियों ने आत्मोद्धार का मार्ग अपनाया। कुछ ने अणु व्रत, कुछ ने महा व्रत तथा जो व्रतों को धारण न कर सके, उन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त करके ही अपने चिरकालीन भव भ्रमण को बहुत ही सीमित कर दिया और अनेकों प्राणियों ने तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया। ऐसी मंगलमय वाणी का जितना अधिक प्रचार हो, उतना ही भव्य जीवों के लिए प्रशस्त और उचित है।

इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में से तेबीस तीर्थंकरों की वाणी तो हमें प्राप्त नहीं है पर केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद सभी एक ही भूमिका पर समानरूप से पहुँच जाते हैं, अतः यह माना गया है कि तात्विक या कल्याण-मार्ग का उपदेश सभी तीर्थंकरों का एकसा होता है, इसलिए भगवान महावीर की वाणी का जो कुछ भी अंश हमें प्राप्त है उसे ही अनन्त तीर्थंकरों का उपदेश मान सकते हैं और यह कि यदि उनके उपदेश के अनुसार साधना की जाय तो सिद्धि अवश्य मिलेगी। यह ठीक है कि पंचम काल में भाव-विशुद्धि इतनी उच्च भूमिका की नहीं होती और जो कभी-कभी बहुत अच्छे भाव प्राप्त होते हैं, वे भी चिरकाल टिक नहीं पाते। इसलिए इस जन्म में मोक्ष न भी हो, पर धर्म करणी का फल तो मिलेगा ही अर्थात् इससे निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। यह जीव जो अनादि काल से विषय और कषाय के सेवन से भव भ्रमण बढ़ाता आ रहा है यदि वह साधना के द्वारा आगामी जन्मों को सीमित कर सके तो भविष्य के अनन्तकाल का दुःख तो सहज ही मिट सकता है और इतनी उपलब्धि कोई मामुली उपलब्धि नहीं है।

महापुरुषों का प्रभाव उनकी आकृति से भी दूसरों पर पड़ता है। साधारणतः अहिंसक व्यक्ति के निकट सम्पर्क में आने वाले हिंसक जीव-जन्तु भी अपने बुरे स्वभाव और पारस्परिक वैर भाव को भूल जाते हैं। यद्यपि महापुरुषों की वाणी को समझने की योग्यता उनमें नहीं होती, पर वाणी केवल मुंह से निकले हुये शब्दों को ही नहीं कहते, आकृति से पड़ने वाला प्रभाव भी एक तरह से मूल वाणी है अर्थात् बिना शब्दोच्चारण के भी अन्दर का भाव बाहर झलकता है और उससे दूसरे व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें महा-मानव की सौम्यमुद्रा भी एक अद्भुत संदेश दे रही है एवं इससे वे परम शान्ति का अनुभव करते हैं। जैनागमों में यह कहा गया है कि महावीर के समवसरण में नर-नारी और देव-देवी ही नहीं पर पशु-पक्षी भी आकर धर्म सन्देश ग्रहण करते थे। बहुत से तिर्यंच प्राणी सम्यग्दर्शन और कुछ एक अणुव्रत धर्म को भी ग्रहण कर लेते थे।

महावीर के समय में भी अपने को तीर्थंकर कहने वाले कई धर्म प्रवर्तक थे, पर महावीर जैसी उग्र और उच्च साधना करने वाला उनमें से कोई न था। इसीलिये उनकी परम्परा अधिक नहीं बढ़ पाई। मनुष्य के विचार, वाणी द्वारा व्यक्त होते हैं किन्तु उनका प्रभाव साधना की गहराई पर आधारित है। मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण का प्रभाव भी जबरदस्त पड़ता है। महावीर का जीवन, आचार और विचार दोनों दृष्टियों से अन्य

समस्त साधकों की अपेक्षा विलक्षण रहा है। अहिंसा आदि धर्मों का निरूपण करने से पहले उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया। अहिंसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या महावीर ने की वैसी ही अहिंसा की उत्कृष्ट साधना भी। इसलिए उनका जीवन भी दूसरों के लिये प्रकाश-स्तम्भ स्वरूप है। इससे दूसरो को सहज ही सत्प्रेरणा मिलती है। कथनी और करनी की एकता से वाणी में जो ताकत पैदा होती है केवल जोशीले और चटपटे शब्दों से कभी भी नहीं। समभाव की साधना महावीर के जीवन का मूल मंत्र था। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में उन्होंने समभाव रखा। गरीब और अमीर छोटे एवं बड़े ऊंच तथा नीच सभी उनकी दृष्टि में समान थे। इसी तरह मारणान्तिक कष्ट देने वाले और सदा सेवा में रहने वाले परम प्रशंसक भक्त पर भी वे समान भाव रखते थे। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के कारण ही वे "जिन" कहलाये। सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष या पाप से वे निवृत्त हो गये। तभी उन्हें वस्तु तत्व का वास्तविक रूप पूर्ण रूप से ज्ञात हुआ इसीलिये उन्हें 'सर्वज्ञ' और 'केवली' कहते हैं। ऐसे महान साधक एवं सिद्ध व्यक्ति की वाणी में न परस्पर विरोध हो सकता है, न छलना और संशय ही। १२।। वर्षों की कठोर साधना के बाद प्राणी मात्र का जो कल्याण मार्ग उन्होंने प्रवर्तित किया वह चिरकाल तक असंख्य जीवों के उद्धार का कारण हुआ और होता रहेगा। सुप्त मानव-चेतन को और भ्रांति बुद्धि मानव को उन्होंने जागृत किया तथा तथ्यों के प्रकाश द्वारा अज्ञानान्धकार को नष्ट कर दिया। यहां उनकी उस शक्ति संदेश-मयी और परम कल्याणमयी वाणी में से थोड़ीसी सूक्तियों को उद्घृत किया जा रहा है जिनके द्वारा व्यक्ति और समष्टि सभी को समान रूप से शांति मिल सकती है और दीर्घकालीन दुःख की परंपरा नष्ट हो सकती है।

१. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।

अपनी आत्मा में स्थित कषाय विकार, वासना से ही युद्ध करो, बाह्ययुद्ध में क्या रखा है? बाह्य युद्ध तो और भी अधिक कषाय, वैर-विरोध और हिंसा एवं प्रतिहिंसा को बढ़ाने वाला होता है।

२. अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।

अपनी आत्मा को सांसारिक भोगों से हटाकर राजस और तामसिक दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर, सात्विकता प्राप्त करने पर ही सुखी बन सकते हैं।

३. सव्वं अप्पे जिएं जियं।

केवल एक आत्मा को जीत लेने पर ही यानी कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से ही सब कुछ जीत लिया जाता है। इसके बाद कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता है।

४. अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।

अपने आपको दुःख मय स्थान मे पहुंचाने वाला अथवा सुख मय स्थान म पहुंचाने वाला यह स्वयं आत्मा ही है, यह आत्मा ही स्वयं का शत्रु है और मित्र भी है। सन्मार्ग-गामी हो तो मित्र है और उन्मार्ग गामी हो तो शत्रु है।

५. अप्पाकत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।

यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुःख का कर्त्ता है। कर्मो का बांधने वाला यही है और कर्मों को काटने वाला भी यही है।

६. अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा में नन्दणं वणं

सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा मे यह आत्मा स्वयं खुद के लिये काम दुग्धाधेनु यानी इच्छा पूर्ति करने करने वाली गाय के समान है। नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा मे यह आत्मा स्वयं नंदनवन के समान है। पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वयं मनोवंछित फल देने वाला हो जाता है, स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त कराने वाला स्वयं यही है।

७. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा में कूड सामली।

यह आत्मा ही स्वयं-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से कार्यों में फंसे रहने की दशा में कूट शाल्मली वृक्ष के समान है। उन्मार्ग-गामी होने की दशा

आत्मा स्वयं अपने लिये वैतरणी और कूट शाल्मली वृक्ष जैसे ना ना विध दुःखों को पैदा कर लेता है ।

८. न तं अरी कंठ छित्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वयं का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नहीं करता है । अनर्थ मय प्रवृति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयंकर और अनेक जन्मों में दुःख देने वाली होती है ।

अब महावीर ने मानव को जो नया प्रकाश दिया उसके कतिपय सूत्र नीचे दिये जा रहे हैं । महावीर का सबसे बड़ा धर्म सन्देश यह है कि यह आत्मा ही परमात्मा है । अनन्त शक्ति और गुणों का यह भण्डार है । ईश्वर एक नहीं, अनेक है । प्रत्येक आत्मा में परमात्मा अर्थात् सिद्ध होने की पूर्ण क्षमता है उसे प्रकट करने के लिये पराश्रित न होकर स्वावलम्बी होना आवश्यक है । अपने स्वरूप को हम भूल चूके हैं । और पौद्गलिक शरीर, धन और कुटुम्ब आदि को अपना मान रहे है ।

यही सबसे बड़ी भूल है । विषय और कषाय आत्मा के दो महान शत्रु हैं । राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के मूल कारण हैं और कर्मों के कारण ही संसार है । कर्म को बांधने वाला व्यक्ति स्वयं है और कर्मों से मुक्त होने के लिये पुरुषार्थ भी स्वयं को ही करना पड़ेगा ।

सभी जीवों को अपना जीवन प्रिय है । दुःख और मरण कोई नहीं चाहता । इसलिये प्राणी मात्र को अपने ही जैसा मानते हुए किसी को भी कष्ट न दो, हिंसा न करो । जीवन क्षेत्र मे जो कुछ पाप प्रवृति हुई है उसके लिये पश्चाताप करो और किसी भी जीव के साथ कोई वैर विरोध का मौका हो गया तो क्षमा मांगो । क्षमा दे दो । संयम और तप आत्म विशुद्धि के महान साधन है । संयम के द्वारा कर्मों के आने का मार्ग अवरुद्ध होता है । और तप के द्वारा पुराने कर्म जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट हो जाते हैं । स्वाध्याय और ध्यान निरन्तर करते रहो । कषाय और प्रमाद से बचे रहो । सभी जीवों के साथ मैत्री भाव रखो । किसी के साथ भी वैर न रखो । सद्धर्म की प्राप्ति सब जीवों को हो ऐसी भावना रखो और उनके आत्मोत्थान में सहायक बनो । गुणी जनों की पूजा निरन्तर करते रहो, पापियों के प्रति भी घृणा का भाव न रखो । ममत्व ही दुःख का कारण है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है ।

करता हो तथा चाहे कितना ही तप करता हो । शुद्धात्मा के लक्ष्य को सदैव दृष्टि के सामने रखना नैतिक या मोक्षमार्गीय चेतना का सर्वस्व है । इस दृष्टि का अभाव होते ही जीव मोक्षमार्ग के अपने चरम उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है । निश्चय नय इसी चरम लक्ष्य के सापेक्ष वस्तु की व्याख्या करता है ।

नैतिक सद्गुण

• डा. ईश्वरचन्द्र शर्मा

अधिकारों तथा कर्तव्यों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होना नैतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व रखता है। न तो हम किसी व्यक्ति को केवल अधिकार देकर उसके व्यक्तित्व का विकास कर सकते है और न ही बार २ कर्तव्य की दुहाई देकर किसी को नैतिक बना सकते है। अधिकारों तथा कर्तव्यों का उद्देश्य नैतिकता का निर्माण और सच्चरित्रता का संचार है। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य के स्वभाव मे नैतिकता स्वच्छन्दरूप मे प्रस्फुटित हो उठे और जब उसे सदाचारी बनने के लिए न तो बाहरी आदेशों की जरूरत हो और न ही वह किसी प्रकार के अधिकारों की उपेक्षा करता हुआ नैतिक जीवन मे पिछड़ा हुआ रह जाय। नैतिक व्यक्ति वही है, जो सर्वगुण सम्पन्न है, जिसकी आदतें इस प्रकार स्थिर हैं कि नैतिक कर्तव्य का पालन करना उसका स्वच्छन्द व्यवहार बन जाता है। सद्गुण सम्पन्न अथवा धार्मिक जीवन ही सम्पूर्ण जीवन है। जिस व्यक्ति मे सद्गुण स्थित हो जाते है, उसके लिए सदाचार उसके व्यक्तित्व का आन्तरिक अंग बन जाता है और स्थितप्रज्ञ बन जाने के कारण उसका जीवन अधिकार और कर्तव्य का सुन्दर समन्वय बन जाता है।

सद्गुण शब्द के दो प्रकार के अर्थ किए जाते है। विस्तृत दृष्टिकोण से सद्गुण को मानवीय चरित्र की कोई भी उत्कृष्ट अवस्था एवं मानवीय श्रेष्ठता कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सद्गुण का अर्थ शक्तिमत्ता है। अतः हम सद्गुण को वह गुण मानते हैं जो कि किसी भी प्रकार की श्रेष्ठता होती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक औषधि मे यह गुण है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि इसमे एक विशिष्ट प्रभाव है। इसी दृष्टि से हम शूरवीरता, साहस आदि को सद्गुण कहते हैं। यूनानी दार्शनिकों ने भी सद्गुण की ऐसी ही व्याख्या की थी और मानवीय चरित्र के गुणों को मूल्य माना था। इन सद्गुणों की विशेषता यह है कि ये सरलतम हैं और इनमें व्यापकता है। ये सद्गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) विवेक	(२) साहस
(३) संयम	(४) न्याय

ये चारों सद्गुण निस्सन्देह सर्वमान्य है और आज तक भी विश्व मे इनको वही मान्यता दी जाती है, जो कि इन्हें प्राचीनकाल में प्राप्त थी। वैदिक, जैन, बौद्ध एवं अन्य सभी धर्मों ने इन पर जोर दिया है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने इन सद्गुणों की निरपेक्षता के प्रति आपत्ति की है, तथापि सरलता की दृष्टि मे यह सूची स्वीकार करने योग्य है। यह भी कहा जाता है कि प्रथम सद्गुण विवेक के अन्तर्गत अन्य सभी सद्गुण सापेक्ष है। एक दृष्टि से विवेक की व्यापकता को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सद्गुण पर आधारित क्रिया वही होती है जो विवेकपूर्ण होती है। यही कारण है कि सुकरात ने सद्गुण को ज्ञान माना था।

विवेक, साहस, संयम तथा न्याय चारों सद्गुणों को स्वतन्त्र और मुख्य माना गया है। इनमें विषमता होते हुए भी समानता का तत्त्व उपस्थित रहता है। आधारभूत एवं मुख्य सद्गुण वास्तव में उन मानवीय गुणों तथा संस्कारों की अभिव्यक्ति है जो कि नीचे के स्तर के मूल्यों की अपेक्षा ऊंचे स्तर के मूल्यों के निर्वाचन की क्रिया के द्वारा विकसित होते है। उदाहरणस्वरूप, साहस को ले लीजिए। यह एक ऐसा संकल्प का गुण है जो कि भय अथवा शारीरिक दुःख की उपस्थिति में भी मनुष्य को दृढ़ता देता है। यह सद्गुण सदैव स्वलक्ष्य होने के कारण प्रशंसनीय होता है और इसके मूल्य का स्तर उतना ही ऊंचा होता है, जितना कि वे मूल्य ऊंचे होते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए भय अथवा दुःख का

सामना किया जाता है। इसी प्रकार न्याय, व्यक्तिगत पक्षपात और हित की उपस्थिति में तटस्थता धारण करने का दृढ़ संकल्प है। इसी प्रकार विवेक का अर्थ सत्य को जानने के लिए और कर्म को ज्ञान पर आधारित करने के लिए दृढ़ निश्चय है।

इस दृष्टि के कुछ अन्य गुणों को भी सद्गुण माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, बचत का आर्थिक सद्गुण, काम से सम्बन्धित ब्रह्मचर्य का सद्गुण तथा सामाजिक दृष्टि से निष्ठा का सद्गुण भी चार मुख्य सद्गुणों के सदृश हैं किन्तु यदि इन सद्गुणों की व्याख्या की जाय, तो इन सभी को चार मुख्य सद्गुणों के अन्तर्गत माना जा सकता है। इनमें वही समान तत्त्व उपस्थित रहता है, जो चार मूल सद्गुणों में है। उदाहरणस्वरूप, बचत में विवेक के अतिरिक्त संकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान आर्थिक सुख की अपेक्षा भविष्य के आर्थिक शुभ का निर्वाचन करने के प्रेरित करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य एक प्रकार का संयम है, किन्तु इसका मूल तत्त्व भी संकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान शारीरिक कामवृत्ति की तृप्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट मूल्यों का निर्वाचन करने के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार सभी मूल्यों को चार मुख्य मूल्यों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

ये चारों मूल सद्गुण या तो व्यक्तिगत विकास के मूल्य हैं या सामाजिक कल्याण को प्रेरित करने वाले हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इनको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। वास्तव में व्यक्ति कदापि समाज से पृथक् नहीं हो सकता और जो सद्गुण व्यक्ति के विकास के लिए है, वही सामाजिक विकास के लिए भी उपयोगी होता है। अतः एक दृष्टि से चारों सद्गुण सामाजिक सद्गुण हैं। किन्तु साहस और संयम दो सद्गुण ऐसे हैं, जो प्रत्यक्षरूप से व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालते हैं और विवेक तथा न्याय ऐसे सद्गुण हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध सामाजिक कल्याण से है। यदि हम साहस का अर्थ, दुःख के भय का सामना करना एवं दुःख सहन करने की वीरता समझें, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि साहस व्यक्तिगत जीवन में हमें लोभ का विरोध करने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार संयम भी हमें व्यक्तिगत जीवन के प्रलोभन से दूर करने की प्रेरणा देता है। हमारे जीवन में दो प्रकार के मुख्य प्रलोभन उपस्थित रहते है। एक तो वह प्रलोभन है, जो हमें दुःख से दूर भागने की प्रेरणा देता है। दूसरा वह प्रलोभन है, जो हमें सुख की ओर आकर्षित करता है। जो व्यक्ति पहले प्रकार के प्रलोभन से प्रभावित होता है, वह पलायनवादी कहलाता है और जो विषय-भोग आदि में संलग्न हो जाता है, उसे सुखवादी कहते है। इन दोनों अवगुणों से बचने का एकमात्र उपाय साहस और संयम के द्वारा, बुद्धि की स्थिरता बनाए रखना है। जो व्यक्ति स्थिर बुद्धि वाला है उसीमें ये दोनों सद्गुण उपस्थित रहते है।

भारतीय तथा पश्चिमीय आचारशास्त्र के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बुद्धि की स्थिरता ही व्यक्तिगत सद्गुणों का लक्ष्य है और वही नैतिकता का उच्चतम आदर्श है। जिस प्रकार प्लेटो ने साहस और संयम के साथ २ विवेक को अनिवार्य सद्गुण बताया है, उसी प्रकार भगवद्गीता में भी ज्ञान को संतुलित जीवन के लिए आधार माना गया है। कोई भी व्यक्ति तब तक संतुलित व्यक्तित्व वाला नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह साहस और संयम के साथ २ विवेक न रखता हो। जो व्यक्ति इन तीनों सद्गुणों का अनुसरण करता है, वह निस्सन्देह न्याय का भी अनुसरण करेगा। इस प्रकार यद्यपि हम साहस और संयम को व्यक्तिगत जीवन के आधारभूत सद्गुण मानते हैं, तथापि सम्पूर्ण वैयक्तिक विकास के लिए विवेक तथा न्याय के सद्गुण भी उपयोगी होते है। अतः हम कह सकते हैं कि चारों मूल सद्गुण व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए समान महत्त्व रखते है।

संकुचित दृष्टिकोण से सद्गुण को कर्तव्य से सम्बद्ध किया जाता है। इस दृष्टिकोण से सद्गुण चरित्र के वे अंग तथा आदतें हैं जो कि व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए तथा अनेक प्रकार के अधिकारों का उपभोग करते हुए ग्रहण करता है। इस दृष्टि से सद्गुण उत्कृष्टता का वह आकार है, जो शुभ संकल्प में

अभिव्यक्त होता है और जिसको कांट ने स्वलक्ष्य मूल्य माना है। इस दृष्टिकोण से सद्गुण का मानवीय व्यवहार के बाहरी अंग से वैसा ही सम्बन्ध रहता है, जिस प्रकार कि निहित शक्ति का गत्यात्मक गति से। सद्गुणात्मक प्रवृत्तियां कर्तव्यों को निभाने की स्थिर आदतें मात्र हैं। किन्तु ये आदतें निमित्त रूप से ही मूल्य प्रमाणित होती हैं। इसलिए सद्गुण की यह परिभाषा शूरवीरता, संयम, पवित्रता आदि सब को निमित्त मूल्य बना देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दृष्टिकोण भी एक यथार्थ दृष्टिकोण है। वास्तव में सद्गुण की परिभाषा के दोनों दृष्टिकोण इस बात में सहमत हैं कि सद्गुण का अर्थ चरित्र की उत्कृष्टता है। सद्गुण का आचरण करने से निस्सन्देह व्यक्तित्व का उत्थान होता है। अतः सद्गुण ही सच्चरित्रता का एकमात्र आधार है। दूसरे शब्दों में, वह शुभ की ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। शुभ की यह अभिव्यक्ति जो कि सर्वथा मानवीय चरित्र में उपस्थित होती है, मनुष्य की श्रेष्ठता का एकमात्र चिह्न है। सद्गुण की उपस्थिति पशुओं में नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें न तो ज्ञान होता है और न वे शुभ को लक्ष्य बना कर सद्गुण का क्रियात्मक जीवन में अनुसरण कर सकते हैं। सुकरात ने सद्गुण को इस दृष्टि से ज्ञान माना है और कहा है कि कोई भी व्यक्ति अज्ञानवश सद्गुण का आचरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार अरस्तू ने सद्गुण को सविकल्पक निर्वाचन की आदत कहा है, क्योंकि ऐसी आदत केवल मानवीय चरित्र का ही अंग हो सकती है।

सद्गुणों का नैतिक महत्त्व

अरस्तू ने प्लेटो के दृष्टिकोण पर आधारित सद्गुणों की व्याख्या करते हुए मनुष्य की आत्मा के निम्नलिखित तीन अंग स्वीकार किए हैं :—

(१) आत्मा का वनस्पति भावात्मक अंग

(२) आत्मा का पशुभावात्मक अंग

(३) आत्मा का तर्कात्मक अंग

नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य के तर्कात्मक अंग को अधिक प्रभावशाली बनाना और उसके अन्य दोनों अंगों को तर्क के आधीन करना है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो प्रथम स्तर उसे स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करते हैं और उसे प्रलोभन से आकर्षित होने को बाध्य करते हैं। नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए एक ओर उन प्रेरणाओं का नियंत्रण करना आवश्यक है जो मनुष्य के वनस्पति भावात्मक अंग से तथा पशुभावात्मक अंग से उत्पन्न होती है और दूसरी ओर तर्कात्मक अंग को इस प्रकार विकसित करना है कि वह मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य की ओर ले जाय। सद्गुण का उद्देश्य यही द्विविध उद्देश्य है। सद्गुण नैतिक जीवन की वह प्रक्रिया है, जो कि मनुष्य की प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करती है और उसकी स्वच्छन्द प्रेरणाओं, भावनाओं तथा इच्छाओं को तर्कात्मक क्रिया प्रदान करती है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान के अनुसार सद्गुणों को व्यावहारिक सद्गुण तथा सैद्धान्तिक सद्गुण नामक दो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। व्यावहारिक सद्गुण वे सद्गुण है, जो कि उच्च स्तर वाले सद्गुणों के निर्वाचन में संकल्प को स्थायित्व देते हैं तथा न्यून स्तर वाली प्रवृत्तियों को तिरस्कृत करने में सहायता देते है। ये व्यावहारिक सद्गुण साहस, संयम, ब्रह्मचर्य आदि हैं। इस दृष्टि से व्यावहारिक सद्गुण वह सद्गुण है, जो कि तर्क के आधार पर दो अत्यन्त विरोधी दृष्टियों में मध्यम मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। उदाहरणस्वरूप साहस, कायरता तथा आवेश में आने की प्रवृत्ति के दो विरोधी तत्वों के बीच का तत्व है एवं उनका सुन्दर समन्वय है। व्यावहारिक सद्गुण हमे वनस्पतिभावात्मक तथा पशुभावात्मक प्रेरणाओं को तर्कात्मक व्यक्तित्व के नियन्त्रण में लाने के लिए सहायक होते हैं। इसके विपरीत सैद्धान्तिक सद्गुण वे सद्गुण हैं जो हमारे व्यक्तित्व के विशुद्ध तर्कात्मक विकास के लिए सहायक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, विवेक तथा अन्य ऐसे सभी सद्गुण, जो कि बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक स्वलक्ष्य मूल्यों से समन्वित हैं, सैद्धान्तिक सद्गुण हैं। ये सद्गुण व्यावहारिक सद्गुणों की अपेक्षा ऊंचे स्तर पर होते हैं और क्षणिक सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट आनन्द को देने वाले हैं।

पश्चिमीय आचार शास्त्रियों की धारणा है कि वर्तमानयुग में जबकि उपयोगितावादी वातावरण हमारी तर्क की धारणा पर प्रभुत्व जमाए हुए है, सैद्धान्तिक सद्गुणों को सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। यदि कोई श्रेष्ठ सैद्धान्तिक सद्गुण हैं, वे आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित न हो कर उपयोगिता पर आधारित, जीवन के उच्चतम मूल्यों से समन्वित वैज्ञानिक सद्गुण है। वर्तमान समय में आध्यात्मिक मूल्यों को श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार नहीं किया जाता कि जो व्यक्ति इन मूल्यों को अपनाने वाले हैं, वे उन साधारण व्यक्तियों से श्रेष्ठ हैं जो कि व्यावहारिक सद्गुणों का अनुसरण करते हैं। पश्चिमीय आचारशास्त्र में यह प्रवृत्ति प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित है और सैद्धान्तिक सद्गुणो को अव्यावहारिक घोषित करती है। यहां पर इस पश्चिमीय दृष्टिकोण की भारतीय दृष्टिकोण से तुलना करना अनुचित न होगा। भारतीय आचार-शास्त्र की दृष्टि से अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष चारों मूल्यों को मनुष्य के जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। इन चारों मूल्यों मे से अर्थ और काम को धर्म की अपेक्षा गौण माना जाता है और धर्म, अर्थ तथा काम को मोक्ष की अपेक्षा गौण स्वीकार किया जाता है। मोक्ष उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य है और धर्म एवं नैतिकता उसका साधन है।

इसका अभिप्राय यह नही कि अर्थ और काम, जिनमें कि साहस और संयम की आवश्यकता रहती है, अवांछनीय मूल्य हैं। विपरीत, इन दो मूल्यों को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के बिना धर्म एवं नैतिकता का अनुसरण करना असम्भव है और धर्म के बिना मोक्ष का चरम लक्ष्य कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। पुरुषार्थों पर आधारित यह प्राचीन नैतिक सिद्धान्त निस्सन्देह व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणो एवं नैतिकता का सुन्दर समन्वय है। इसके विपरीत, अरस्तू का व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणों का वर्गीकरण विश्लेषणात्मक होने के कारण पार्थक्य तथा द्वैतवाद को जन्म देने वाला है। हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि पश्चिम में सिद्धान्त और व्यवहार के पार्थक्य ने व्यवहार पर अधिक बल देकर वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक विकास को इतना आश्रय दिया है कि आज मनुष्य प्रकृति पर शक्ति की दृष्टि मे विजयी हो रहा है। किन्तु इसके साथ २ आध्यात्मिक मूल्यों को केवल सैद्धान्तिक घोषित करके और उन्हें व्यावहारिक जीवन से पृथक् मानकर उनकी इतनी अवहेलना की गई है कि पश्चिमीय जीवन में व्यक्तित्व का आध्यात्मिक विकास आज तक भी पिछड़ा हुआ रह गया है।

इसका अभिप्राय यह नही कि भारतीय जीवन में व्यक्तित्व का समन्वित विकास हुआ है। इसके विपरीत, राजनैतिक तथा ऐतिहासिक दुर्घटनाओं के कारण भारत में भी जहां तक जनसाधारण के जीवन का सम्बन्ध है, सिद्धान्त और व्यवहार मे एक बड़ी खाई उत्पन्न हो गई है। भारतीय आध्यात्मवादियों ने मोक्ष के पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक बल देकर और निवृत्ति मार्ग को ही एकमात्र उसका साधन मान कर भौतिक तथा व्यावहारिक मूल्यों का इतना तिरस्कार किया है कि कुछ सीमा तक भारतीय दृष्टिकोण में निराशावाद उत्पन्न हो गया है। यही कारण है कि पश्चिमीय देशों में भारतीय दर्शन के प्रति अनेक भ्रान्तियां प्रचलित है और भारतीय दर्शन को नैतिकता शून्य, पारलौकिक और निराशावादी दर्शन ही माना जाता है। मैंने स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन के प्रति इन भ्रान्त धारणाओं का अनुभव किया। मैं जिस जिस स्थान पर भारतीय दर्शन के अध्यापन के लिए गया तो मुझे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि भारतीय दर्शन का एक निराशावादी सिद्धान्त बुद्धवाद वहां पर अत्यन्त प्रभावशाली था और प्रायः सभी अमरीकी अध्यापक तथा छात्र भारतीय दर्शन के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ थे। इन भ्रन्तियों का मूल कारण यह है कि विदेशी साम्राज्यवादियों ने भारतीय दर्शन के वास्तविक स्वरूप को जानने की चेष्टा नहीं की और न ही भारतीय दर्शन को पनपने का अवसर दिया। जब तक भारत परतन्त्र रहा, तब तक उसकी भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति अवरुद्ध रही। किन्तु इसके साथ ही साथ भारत के

कोने २ में, हर युग में ऐसी महान आत्माओं ने जन्म लिया, जिन्होंने कि आज तक भारतीय आध्यात्मवाद की पूँजी को न ही केवल सुरक्षित रखा है, अपितु उन्होंने एक समन्वित आदर्श जीवन व्यतीत करके प्रमाणित किया है कि व्यावहारिक जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों को लागू किया जा सकता है। भारतीय आध्यात्मवाद की यह अद्वितीय प्रगति और पश्चिमीय भौतिकवाद द्वारा उत्पन्न असीम शक्ति का सुन्दर समन्वय और सामंजस्य मानव-समाज के कल्याण का एकमात्र साधन प्रमाणित हो सकते हैं। मूल्यों का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक वर्गीकरण यह नहीं बताता कि सद्गुण अथवा मूल्य, मूल रूप से किसी प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न करता है। इसके विपरीत सद्गुण विभिन्न होते हुए भी सामूहिक व्यवहार उत्पन्न करते है और यही समरूपता चरित्र निर्माण का दूसरा नाम है।

यदि हम प्राचीनकाल के लोगों के व्यवहार पर दृष्टि डालें, तो हम यह अनुभव करेंगे कि वे भी शक्ति, वीरता, विश्वासपात्रता, सत्यपरायणता आदि मूल्यों की सराहना इसलिए करते थे कि ये मूल्य स्वलक्ष्य सद्गुण है और चरित्र निर्माण की आधार शिला हैं। इसलिए ऐसे सद्गुणों को चरित्र सम्बन्धी मूल्य भी कहा जाता है। ये चरित्र सम्बन्धी मूल्य एवं सद्गुण उन लोगों को प्रत्यक्ष तुष्टि प्रदान करते हैं जिनमे कि ये मूल्य उपस्थित होते हैं। न ही केवल इतना, अपितु जो व्यक्ति चरित्र सम्बन्धी मूल्यों को दूसरो में उपस्थित देखता है, वह भी आनन्दित होता है और तुष्टि का अनुभव करता है। इस आनन्द का कारण यह है कि ये सद्गुण स्वलक्ष्य होते हैं। जिस प्रकार कि हम किसी कलाकार की दक्षता की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि उसकी कला में स्वलक्ष्य मूल्य है, इसी प्रकार हम पौरुषयुक्त साहस तथा आत्म-त्याग की प्रशंसा इसलिए करते है कि वह सद्गुण कला की भांति स्वलक्ष्य होता है। ऐसा करते समय हम उन परिणामों की ओर ध्यान नही देते, जो उस सद्गुण द्वारा प्रेरित कर्म की उत्पत्ति होते हैं। इसलिए चरित्र की उत्कृष्टता को ही सद्गुणों के विकास का आत्मिक लक्ष्य स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में सद्गुणों का नैतिक मूल्य केवल इतना है कि वे नैतिक दृष्टि से मनुष्य के चरित्र का मूल्यांकन करने में सहायता देते हैं।

कुछ लोग सद्गुण की स्वलक्ष्यता का विरोध करते हैं और कहते हैं कि सद्गुणों का अनुसरण करना निरर्थक है। उदाहरणस्वरूप, विश्वयुद्ध के दौरान एक राजनीतिज्ञ ने यह घोषणा की थी कि युद्ध की विजय पहले ही प्राप्त हो चुकी है और कि उन मनुष्यों के नैतिक गुणों में उसकी संगतता प्रमाणित हो चुकी है जो एक लक्ष के लिए युद्ध कर रहे हैं। इस प्रकार की घोषणाएं सन्देह उत्पन्न करने वाली होती है, क्योंकि ज्यो २ युद्ध का समय व्यतीत हुआ, यह स्पष्ट होगया कि ऐसी घोषणा सद्गुणों की भ्रान्त अभिव्यक्ति थी। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि चरित्र स्वलक्ष्य नही है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि धैर्य, माता पिता का आत्म त्याग, साहस तथा युद्ध मे नागरिको की विश्वासपात्रता ऐसे सद्गुण है जो कि जीवन के लिए निमित्त मूल्य हैं। क्योंकि नैतिक नियम जीवन के लिए होते है और जीवन नैतिक नियमों के लिए नही होता, इसलिए हम कह सकते हैं कि सद्गुण जीवन के लिए अस्तित्व रखता है न कि जीवन सद्गुण के लिए। यदि हम सद्गुणों का गम्भीर विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इनकी उत्पत्ति और इनको आदर्श स्वीकार करने का कारण सार्वजनिक प्रवृत्ति को निरपेक्ष मूल्य स्वीकार करना है। यह सार्वजनिक वृत्ति मनुष्य के नैतिक स्वभाव पर ही आश्रित है। अतः सद्गुणो का महत्त्व यही है कि वे नैतिक मूल्याकन का मुख्य साधन हैं।

जिस व्यक्ति मे सद्गुण स्वभाव में परिवर्तित हो जाते है, वह बिना किसी बाहरी आदेश के सद्व्यवहार पर चलने वाला हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार से किसी व्यक्ति में सद्गुणो को स्वभाव में परिवर्तित किया जाय। इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि सद्गुण कोई सैद्धान्तिक धारणा न होकर एक ऐसा तत्त्व है जो वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखता है। सद्गुण का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है, किन्तु केवल ज्ञान ही सद्गुण को किसी व्यक्ति में विकसित नही कर

सकता। अरस्तु ने यथार्थ ही कहा था कि सद्गुण एक सविकल्पक निर्वाचन का अभ्यास है। चरित्र में सद्गुण को विकसित करना सरल कार्य नहीं है। ऐसा करने के लिये सर्वप्रथम दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखने के लिए कड़े अनुशासन की आवश्यकता है। चरित्र के निर्माण के लिए न ही केवल कड़े अनुशासन की आवश्यकता है, अपितु उसमें ऐसे उदाहरणों की भी आवश्यकता है, जिनमें कि कुछ व्यक्ति व्यावहारिक रूप से सद्गुणों का आचरण करते हों। अंग्रेजी भाषा में कहा गया है "व्यावहारिक उदाहरण केवल धारणा प्रस्तुत करने की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।" जिस प्रकार बुरी आदतें एक छूत के रोग की भांति तुरन्त फैल जाती हैं, उसी प्रकार सद्गुण भी मनुष्यों द्वारा अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ग्रहण किए जाते हैं। प्रायः लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जब बहुमत दुराचारियों का हो, तो वहां सदाचारियों की अल्प संख्या समाज में नैतिक क्रान्ति उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त धारणा है। यदि एक व्यक्ति भी दृढ़ प्रतिज्ञ होकर सदाचार का जीवन व्यतीत करता है, तो असंख्य अन्य व्यक्ति उससे प्रेरित होकर सदाचारी बन जाते हैं। राम, कृष्ण, महावीर बुद्ध, ईसा आदि महापुरुषों ने जगत के असंख्य जीवों को सदाचारी बनने की प्रेरणा दी है। यह उनकी सदाचार शक्ति थी। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गांधी जैसा छोटे शरीर वाला एक व्यक्ति कोटि २ मनुष्यों में सत्य और अहिंसा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर सकता है और उन्हें सत्याग्रह का पालन करने पर प्रेरित कर सकता है। महात्मा गान्धी के जीवन का उदाहरण एक ऐसा शाश्वत नैतिक स्रोत है, जिससे असंख्य व्यक्तियों ने नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त की है और आगे आने वाली पीढ़ियों में भी असंख्य व्यक्ति ऐसी प्रेरणा प्राप्त करते रहेंगे।

न ही केवल महापुरुष सदाचारी जीवन का प्रेरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, अपितु सामान्य व्यक्ति भी सद्गुण को कोने-कोने में प्रसारित कर सकते हैं। नैतिक शिक्षा के लिए किसी बल के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का अन्तःकरण सद्गुण ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। अतः जब वह किसी अन्य व्यक्ति को सद्गुण का अनुसरण करते हुए देखता है, वह तुरन्त उसे स्वयं अपनाता है और स्वयं अपनी भूल पर पश्चाताप भी करता है। यही कारण है कि चरित्र की प्रशिक्षा सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा उपदेश द्वारा नहीं दी जा सकती, अपितु साक्षात व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा दी जा सकती है।

इसी प्रकार संयम का अनुसरण करने से नैतिकता का स्वतः ही विकास होता है। पूर्व तथा पश्चिम में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट धर्मों में संयम को आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य साधन माना गया है। संयम हमारा ध्यान आन्तरिक जीवन की ओर ले जाता है और हमारे व्यक्तित्व का कायाकल्प कर देता है। भारत में तो संयम को जीवन का मूल आधार माना गया है और कहा गया है कि "संयम ही जीवन है।" जब किसी समाज में थोड़े से व्यक्ति भी आदर्शों को अपने जीवन में उतारते है, वे संयम का अनुसरण करके ही न केवल स्वयं परम आनन्द का अनुभव करते हैं, अपितु सच्ची समाज सेवा द्वारा अन्य प्राणियों का भी लाभ करते हैं। जिस समाज में इस प्रकार की नैतिकता का विकास होता है और जिसमे प्रत्येक व्यक्ति सद्गुणों की प्रतिमूर्ति बन जाता है, तो उस समाज के लिए न तो किसी प्रकार के बाहरी अनुशासन की आवश्यकता रहती है और न उसे किसी प्रकार की नैतिक प्रशिक्षा से लाभ होता है। सद्गुणों के विकास का व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए भारी महत्वहै किन्तु अभी तक विश्व में किसी भी ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकी, जो सर्वगुण-सम्पन्न हो और जिसमें राजकीय अनुशासन और व्यवस्था की जरूरत न हो। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में नैतिकता की प्रगति के लिए नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है और नैतिक सुधारकों का क्षेत्र बना रहता है।

जैन धर्म का आत्मतत्व और कर्म सिद्धांत

• पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। जब से आत्मा है, तब से ही उसके साथ कर्म लगे हुए हैं। समय पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के रागद्वेषादि भावों के द्वारा नये प्रत्येक कर्म बंधते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती जैसे अग्नि में बीज जल जाने पर बीज वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है वैसे ही रागद्वेषादि विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलती। कर्म अनादि होने पर भी शान्त है। यह व्याप्ति नहीं है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिए—नहीं तो बीज और वृक्ष की परम्परा कभी समाप्त नहीं होगी।

जीव अथवा आत्मा एक अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है। संसार के सभी दार्शनिकों ने इसे तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा की है। स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि अति परोक्ष पदार्थों का मानना भी आत्मा के अस्तित्व पर ही आधारित है। आत्मा न हो तो इन पदार्थों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। यही कारण है कि जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करने वाला चार्वाक इन पदार्थों के अस्तित्व को कतई स्वीकार नहीं करता। आत्मा का निषेध सारे ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड के निषेध का एक अभ्रान्त प्रमाण पत्र है। पारलौकिक जीवन से निरपेक्ष लौकिक जीवन को समुन्नत और सुखकर बनाने के लिए भी यद्यपि ज्ञानाचार और क्रियाचार की जरूरत तो है। और इसे किसी न किसी रूप में चार्वाक भी स्वीकार करता है तो भी परलोकाश्रित क्रियाओं का आत्मा आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानने वालों के मन में कोई मूल्य नहीं है।

जैन दर्शन एक आस्तिक दर्शन है। वह आत्मा और इससे सम्बन्धित स्वर्ग, नरक, और मुक्ति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। आत्मा के सम्बन्ध में उसके समन्वयात्मक विचार है। वह अनेकान्तवादी दर्शन होने के कारण आत्मा को भी विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। उसके विभिन्न धर्मों और स्वभावों की ओर जब उसका ध्यान जाता है तब उसके (आत्मा के) नाना रूप उसके सामने आते है और वह उन्हीं रूपों अथवा गुणधर्मों एवं स्वभावों को विभिन्न अपेक्षा मानकर आत्मा की दार्शनिक विवेचना करता है। यह विवेचना आत्मा के सारे रूप उसके सामने ला देती है।

आत्मा का वर्णन करने के लिए जैन दर्शन ये नौ विशेषताएं बतलाता है।

(१) वह जीव है (२) उपयोगमय है (३) अमूर्त है (४) कर्त्ता है (५) स्वदेह परिमाण है (६) भोक्ता है (७) संसारस्थ है (८) सिद्ध है (९) स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

पहिले हमने कहा है कि चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता, उसी को लक्ष्य करके 'जीव' नाम का पहला विशेषण है। जीव सदा जीता रहता है, वह अमर है, कभी नहीं मरता। उसका वास्तविक प्राण चेतना है। जो उसकी तरह ही अनादि और अनन्त है। उसके कुछ व्यावहारिक प्राण भी होते हैं जो विभिन्न योनियों के अनुसार बदलते रहते है।

इन प्राणों की संख्या दस है, पांच ज्ञानेन्द्रियां मनोबल, वचन बल और कायबल यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु। यह दस प्राण मनुष्य, पशुपक्षी देव और नारकियों के होते है। इनके अतिरिक्त भी दुनियां में अनन्तानन्त जीव होते हैं। जैसे वृक्ष लता आदि, लट आदि, चींटी आदि, भ्रमर आदि, और गोहरा आदि। इन जीवों के क्रमशः चार, छह, सात, आठ, और नौ प्राण होते है।

आत्मा नाना योनियों में विभिन्न शरीरों को प्राप्त हुआ कर्मानुसार अपने व्यावहारिक प्राणों को बदलता रहता है। किन्तु चेतना की दृष्टि से न वह मरता है और न जन्मधारण करता है। शरीर की अपेक्षा वह भौतिक होने पर भी आत्मा की अपेक्षा वह अभौतिक है। जीव को व्यवहार नय और निश्चयनय की अपेक्षा कथंचित भौतिकता और कथंचित अभौतिकता मानकर जैन दर्शन इस विशेषण के द्वारा चार्वाक आदि के साथ समन्वय करने की क्षमता रखता है। यही उसके स्याद्वाद की विशेषता है।

आत्मा का दूसरा विशेषण उपयोगमय है। आत्मा उपयोगमय है, अर्थात ज्ञानदर्शनात्मक है। यह विशेषण नैयायिक एवं वैशेषिक दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दोनों दर्शन आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैन दर्शन भी आत्मा को आधार और ज्ञान को उसका आधेय मानता है।

आत्मा गुणी और ज्ञान उसका गुण है। गुण गुणी में आधार आधेय भाव होता है। जब अखण्ड आत्मा में उसके गुणों की दृष्टि से भेद कल्पना की जाती है तब आत्मा को ज्ञानाधिकरण माना जाना युक्ति संगत है। किन्तु यह मानना कथंचित है। और इसी लिए एक दूसरी दृष्टि भी है जिससे आत्मा का ज्ञानाधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञानात्मक मानना ही अधिक युक्ति संगत है। प्रश्न यह है कि क्या आत्मा को कभी ज्ञान से अलग किया जा सकता है? आत्मा और ज्ञान जब किसी भी अवस्था में भिन्न नहीं हो सकते तब उसे ज्ञान का आश्रय मानने का आधार क्या है? आधाराधेय भाव तो उन में होता है जो भिन्न भिन्न हों जैसे दूध और उसका पात्र आदि इस दृष्टि से तो आत्मा ज्ञान का आधार नहीं अपितु ज्ञानमय उपयोगमय अर्थात् ज्ञान-दर्शनात्मक ही है। यह मान्यता भी समन्वयवादी है।

आत्मा का तीसरा विशेषण है अमूर्त्त। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक दोनों को लक्ष्य करके कहा गया है। ये दोनों दर्शन जीव को अमूर्त्त नहीं मूर्त्त मानते हैं। किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि वास्तव में आत्मा में आठ प्रकार के स्पर्श पांच प्रकार के रूप, पांच प्रकार के रस, और दो प्रकार के गंध इन बीस प्रकार के पौद्गलिक गुणों में से एक भी गुण नही है। इसलिए आत्मा मूर्त्त नही, अपितु अमूर्त्त है। तो भी अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ होने कारण व्यवहार दृष्टि से उसे मूर्त्त भी कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मा को कथंचित् अमूर्त और कथंचित् मूर्त्त भी कह सकते हैं। अर्थात् शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा वह अमूर्त्त और कर्मबंध रूप पर्याय की अपेक्षा मूर्त्त है। यदि उसे सर्वथा मूर्त्त ही माना जाय तो उसके भिन्न अस्तित्व का ही लोप हो जाय तथा पुद्गल और उसमे कोई भिन्नता ही नही रहे। जैन दर्शन की यह समन्वय दृष्टि उसे दोनों मानती है और यही तर्क सिद्ध भी है।

आत्मा का चौथा विशेषण है:—कर्त्ता। यह विशेषण उसे सांख्य दर्शन को लक्ष्य करके दिया गया है।

यह दर्शन आत्मा को कर्त्ता नहीं मानता। उसे केवल भोक्ता मानता है। कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, किन्तु जैन दर्शन सांख्य के इस अभिमत से सहमत नहीं है। बल्कि उसका कहना है कि आत्मा व्यवहार-नय से पुद्गल कर्मों एवं घटपटादि पदार्थों का अशुद्ध निश्चयनय से चेतन कर्मों (रागद्वेषादि) का और शुद्ध निश्चयनय से अपने ज्ञान दर्शनादि शुद्ध भावों का कर्त्ता है। इस प्रकार वह एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता है। यदि आत्मा को कर्त्ता न माना जाय तो उसे भोक्ता भी कैसे माना जा सकता है। वस्तुतः कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं है। यदि इन दोनों में विरोध माना जाय तब तो आत्मा को 'भुजि' क्रिया का कर्त्ता भी कैसे माना जा सकता है? क्योंकि भोगने की

क्रिया के कर्त्ता को ही तो भोक्ता कहते है । इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार न करने का अर्थ है उसका भोक्तृत्व भी न मानना । इस लिए यदि उसे भोक्ता मानना है तो कर्त्ता भी जरूर मानना चाहिए ।

आत्मा का पांचवा विशेषण है 'भोक्ता' । यह विशेषण बौद्ध दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है । यह दर्शन क्षणिकवादि होने के कारण कर्त्ता और भोक्ता का ऐक्य मानने की स्थिति में नही है, किन्तु यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जाय तो कृतप्रणाश और अकृत के अभ्यागम का प्रसंग आवेगा अर्थात् जो कर्म करेगा उसे उसका फल प्राप्त न होकर उसे प्राप्त होगा जिसने कर्म नही किया है और इसमे बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जायगी । इस लिए आत्मा को अपने कर्मो के फल का भोक्ता अवश्य मानना चाहिए । हां यह बात अवश्य है कि आत्मा सुख दुःख रूप पुद्गल कर्मों का भोक्ता व्यवहार दृष्टि से है । निश्चय दृष्टि से तो वह अपने चेतन भावों का ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नही है इस लिए वह कथंचित भोक्ता है, और कथंचित् अभोक्ता है ।

आत्मा का छठा विशेषण 'स्वदेह परिमाण' है । इसका अर्थ है इस आत्मा को जितना बड़ा शरीर मिलता है उसीके अनुसार इसका परिमाण हो जाता है । यह विशेषण नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, और सांख्य इन चार दर्शनो को लक्ष्य करके कहा गया है । क्योंकि ये चारों ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं । यद्यपि उसका ज्ञान शरीरावच्छेदेन (शरीर में) ही होता है तो भी उसका परिमाण शरीर तक ही सीमित नहीं है वह सर्वव्यापक है । जैन दर्शन का इस सम्बन्ध मे यह कहना है कि आत्मा के प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विस्तार होता है । हाथी के शरीर में उसके प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है । किन्तु यह बात समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है । (समुद्घात का अर्थ है मूल शरीर को छोड़कर तेजसकार्माण शरीर के साथ आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकल जाना), समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते है । यहां तक कि वे सारे लोक मे व्याप्त हो जाते है । यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा स्वशरीर परिमाण वाला व्यवहार नय से है । निश्चय नय से तो वह लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोक के बराबर बड़ा है । यही कारण है कि वह लोक पूरण समुद्घात मे सारे लोक में फैल जाता है । इस प्रकार जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक मानता है और उक्त चारो दार्शनिको के साथ इसका समन्वय हो जाता है ।

आत्मा का सातवां विशेषण है 'संसारस्थ' । यह विशेषण 'सदाशिव' दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है । इसका अर्थ है आत्मा कभी संसारी नही होता, वह हमेशा ही शुद्ध बना रहता है । कर्मो का उस पर कोई असर ही नहीं होता, कर्म उसके है ही नहीं, इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का दृष्टिकोण यह है कि हर एक जीव संसारी होकर मुक्त होता है । पहिले उसका संसारी होना जरूरी है । संसारी जीव शुक्ल ध्यान के बल से कर्मो का संवर, निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है । संसारी का अर्थ है अशुद्ध जीव । अनादि काल से जीव अशुद्ध है और वह अपने पुरुषार्थ से शुद्ध होता है । यदि पहिले जीव संसारी न हो तो उसे मुक्ति के लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं है । किन्तु जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यवहारिक दृष्टिकोण है । शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध है । इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर भी दूसरी नय से अविकारी मान लेता है । यह जैन दर्शन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है ।

आत्मा का आठवां विशेषण है 'सिद्ध' इसका अर्थ है ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित । यह विशेषण भट्ट और चार्वाक को लक्ष्य करके दिया गया है । भट्ट मुक्ति को स्वीकार नही करता । उसके मत में आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है । जो मुक्ति को स्वीकार नही करता वह आत्मा का सिद्ध विशेषण कैसे मान सकता है ? उसके मत में आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति कभी होती ही नही अर्थात मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है । चार्वाक तो जब जीव की सत्ता ही नहीं

मानता तब मुक्ति को कैसे स्वीकार कर सकता है ? वह तो स्वर्ग का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता इसलिए भट्ट से भी वह एक कदम आगे है । पर इस सम्बन्ध मे जैनदर्शन का कहना है कि आत्मा अपने कर्म बन्धन काट कर सिद्ध हो सकता है । जो यह बन्धन नही काट सकता वह संसारी ही बना रहता है । आत्मा का संसारी और मुक्त होना दोनों ही तर्क सिद्ध हैं । जैन दर्शन में कुछ ऐसे जीव अवश्य माने गये है जो कभी सिद्ध नहीं होगे । ऐसे जीवो को अभव्य कहते है । उन जीवों की अपेक्षा आत्मा के सिद्धत्व विशेषण का मेल नही बैठता । किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि जीवों में सिद्ध बनने की शक्ति अथवा योग्यता तो है ही ।

आत्मा का नौवा विशेषण है 'स्वभाव से ऊर्ध्व गमन' । यह विशेषण मांडलिक ग्रन्थकार को लक्ष्य करके कहा गया है । इसका अर्थ है आत्मा का वास्तविक स्वभाव ऊर्ध्वगमन है । इस स्वभाव के विपरीत यदि उसका गमन होता है तो इसका कारण कर्म है । कर्म उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह चला जाता है । जब वह सर्वथा कर्म रहित हो जाता है तब तो अपने वास्तविक स्वभाव के कारण ऊपर ही जाता है और लोक के अग्रभाग में जाकर ठहर जाता है । उसके आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने के कारण वह नहीं जा सकता । इस सम्बन्ध में माडलिक का यह कहना है कि जीव सतत गतिशील है, वह कहीं भी नहीं ठहरता चलता ही रहता है । जैन दर्शन उसकी इस बात को स्वीकार नही करता । वह उसे ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला मानकर भी उसे वहीं तक गमन करने वाला मानता है जहां तक धर्म द्रव्य है, यह द्रव्यगति का माध्यम है, ठीक-ऐसे ही जैसे प्रकाश की गति का माध्यम ईथर और शब्द की गति का माध्यम वायु है ! जहां गति का माध्यम खतम हो जाता है वहीं जीव की गति रुक जाती है ! इस प्रकार जीव उर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर उर्ध्वगामी नही है, यह जैन दर्शन की मान्यता है । आत्मा के इन नौ विशेषणों से यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि जैन दर्शन कहीं भी आग्रहवादी नहीं है उसके विचार सभी दार्शनिकों के साथ समन्वयात्मक हैं ।

जैन धर्म का कर्मवाद

संसार अवस्था मे सदा ही आत्मा कर्माधीन बना रहता है अतः आत्मा को समझने के लिए कर्म को समझना भी बहुत जरूरी है । कर्म को समझने के लिए कर्मवाद को समझने की जरूरत है । वाद का अर्थ सिद्धान्त है । जो वाद कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति और उनकी रस देने आदि विविध विशेषताओं का वैज्ञानिक विवेचन करता है वह कर्मवाद है । जैन शास्त्रों में कर्मवाद का बड़ा गहन विवेचन है । कर्मों के सर्वांगीण विवेचन से जैन शास्त्रों का एक बहुत बड़ा भाग सम्बन्धित है । कर्म स्कन्ध परमाणु समूह होने पर हमें दीखता नहीं ।

आत्मा, परलोक, मुक्ति आदि अन्य दार्शनिक तत्त्वों की तरह वह भी अत्यन्त परोक्ष है । उसकी कोई भी विशेषता इन्द्रियगोचर नहीं है । कर्मोंका अस्तित्व प्रधानतया आप्त प्रणीत आगम के द्वारा ही प्रतिपादित किया जाता है (जैसे आत्मा आदि पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए आगम के अतिरिक्त अनुमान का भी सहारा लिया जाता है वैसे ही कर्मों की सिद्धि में अनुमान का आश्रयः भी लिया गया है ।

इस कर्मवाद को समझने के लिए सचमुच तीक्ष्ण बुद्धि और अध्यवसाय की जरूरत है । जैन ग्रन्थकारों ने इसे समझाने के लिए स्थान-स्थान पर गणित का उपयोग किया है । अवश्य ही यह गणित लौकिक गणित से बहुत भिन्न है । जहां लौकिक गणित की समाप्ति होती है वहां इस अलौकिक गणित का प्रारम्भ होता है । कर्मों का ऐसा सर्वांगीण वर्णन शायद ही संसार के किसी वाङ् मय में मिले ! जैन शास्त्रों को ठीक समझने के लिए कर्मवाद को समझना अनिवार्य है !

कर्मों के अस्तित्व में तर्क

संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है ! यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है । बहुत से अभाव और अभियोगों का वह प्रतिक्षण शिकार बना रहता है । वह अपने आपको सदा पराधीन अनुभव करता है । इस पराधीनता का कारण जैन शास्त्रों के

अनुसार कर्म है। जगत में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताएं हैं उनका कारण मनुष्य कृत नही हो सकता। जब सब में एक सा आत्मा है तब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और वृक्ष लताओं आदि के विभिन्न शरीरों और उनके सुख दुःख आदि का कारण क्या है ? कारण के बिना कोई कार्य नही हो सकता। जो कोई इन विषमताओं का कारण है वही कर्म हैं—

कर्म सिद्धान्त यही कहता है

जैनों के कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है, उसका अस्तित्व ही नही है। उसे जगत की विषमताओं का कारण मानना एक तर्क हीन कल्पना है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने वाले दार्शनिक भी कर्मों की सत्ता अवश्य स्वीकार करते है। ईश्वर जगत के प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है ! उनकी इस कल्पना मे कर्मों की प्रधानता स्पष्टरूप से स्वीकृत है। 'सब को जीवन की सुविधाएं समान रूप से प्राप्त हों और सामाजिक दृष्टि से कोई ऊंच-नीच नहीं माना जाए' मानव मात्र में यह व्यवस्था प्रचलित हो जाने पर भी मनुष्य की व्यक्तिगत विषमता कभी कम न होगी। यह कभी सम्भव नही है कि मनुष्य एक से बुद्धिमान हो, एक सा उनका शरीर हो, उनके शारीरिक अवयवों और सामर्थ्य मे कोई भेद न हों। कोई स्त्री, कोई पुरुष, और किसी का नपुंसक होना दुनियां के किसी क्षेत्र में बन्द नहीं होगा। इन प्राकृतिक विषमताओ को न कोई शासन बदल सकता है और न कोई समाज। यह सब विविधताएं तो साम्यवाद की चरम सीमा पर पहुंचे हुए देशों में भी बनी रहेंगी। इन सब विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है।

कर्म आत्मा के साथ कब से है और कैसे उत्पन्न होते हैं ?

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है। जब से आत्मा है, तब से ही उसके साथ कर्म लगे हुए हैं। प्रत्येक समय पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के रागद्वेषादि भावों के द्वारा नये कर्म बंधते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती जैसे अग्नि में बीज जल जाने पर बीज वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है वैसे ही रागद्वेषादि विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलती। कर्म अनादि होने पर भी शान्त है। यह व्याप्ति नहीं है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिए—नहीं तो बीज और वृक्ष की परम्परा कभी समाप्त नही होगी।

यह पहले कहा है कि प्रतिक्षण आत्मा मे नये-नये कर्म आते रहते हैं। कर्मबद्ध आत्मा अपने मन, वचन, और काय की क्रिया मे ज्ञाता वरणादि आठ कर्मरूप और औदारिकादि ८ शरीर रूप होकर योग्य पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता रहता है। आत्मा में कषाय हो तो यह पुद्गल स्कन्ध कर्मबद्ध आत्मा के चिपट जाते हैं—ठहरे रहते है। कषाय (राग द्वेष) की तीव्रता और मन्दता के अनुसार आत्मा के साथ ठहरने की कालमर्यादा कर्मों का स्थिति बन्ध कहलाता है। कषाय के अनुसार ही वे फल देते हैं यही अनुभवबन्ध या अनुभाग बन्ध कहलाता है। योग कर्मों को लाते है, आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं। कर्मों में नाना स्वभावों को पैदा करना भी योग का ही काम है। कर्मस्कन्धों में जो परमाणुओं की संख्या होती है, उसका कम ज्यादा होना भी योग हेतुक है। योग का अर्थ आत्मा के प्रदेशों का चंचल होना है। योग से होने वाली ये दोनों क्रियाएं क्रमशः प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध कहलाती हैं।

कर्मों के भेद और उनके कारण

कर्मों के मुख्य आठ भेद हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय। जो कर्म ज्ञान को प्रगट न होने दे वह ज्ञानावरणीय, जो इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावान्वित नहीं होने दे वह दर्शनावरणीय, जो सुख दुःख का कारण उपस्थित करे अथवा जिससे सुख दुःख हो वह वेदनीय, जो आत्मरमण न होने दे वह मोहनीय, जो आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक के शरीर में रोके वह आयु, जो शरीर की नाना अवस्थाओं आदि का कारण हो वह नाम, जिससे ऊंच नीच कहलावे वह गोत्र, और

जो आत्मा की शक्ति आदि के प्रकट होने में विघ्न डाले वह अन्तराय कर्म है ।

संसारी जीव के कौन-कौन से कार्य किस किस कर्म के आस्रव के कारण हैं यह जैन शास्त्रों में विस्तार के साथ बतलाया गया है । उदाहरणार्थ—ज्ञान के प्रकाश में बाधा देना, ज्ञान के साधनों को छिन्न-भिन्न करना, प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना, आवश्यक होने पर भी अपने ज्ञान को प्रगट न करना और दूसरों के ज्ञान को प्रकट न होने देना आदि अनेकों कार्य ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव के कारणों को भी जानना चाहिए। जो कर्मास्रव से बचना चाहे वह उन कार्यो से विरक्त रहे जो किसी भी कर्म के आस्रव के कारण हैं । तत्वार्थसूत्र के छट्ठे अध्याय में आस्रव के कारणों का जो विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है वह हृदयंगम करने योग्य है ।

कर्म आत्मा के गुण नहीं हैं

कुछ दार्शनिक कर्मो को आत्मा का गुण मानते है पर जैन मान्यता इसे स्वीकार नही करती । अगर पुण्य पाप रूप कर्म आत्मा के गुण हो तो वे कभी उसके बन्धन के कारण नहीं हो सकते । यदि आत्मा का गुण स्वयं ही उसे बांधने लगे तो कभी उसकी मुक्ति नही हो सकती । बन्धन मूल वस्तु से भिन्न होता है, बन्धन का विजातीय होना जरूरी है । यदि कर्मों को आत्मा का गुण माना जाय तो कर्म नाश होने पर आत्मा का नाश भी अवश्यंभावी है, क्योंकि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न भिन्न नहीं होते । बन्धन आत्मा की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है; किन्तु अपना ही गुण अपनी ही स्वतन्त्रता का अपहरण नही कर सकता । पुण्य और पाप नामक कर्मों को यदि आत्मा का गुण मान लिया जाय तो इनके कारण आत्मा पराधीन नही होगा; और यह तर्क एवं प्रतीति सिद्ध है कि ये दोनो आत्मा को परतन्त्र बनाये रखते हैं । इसलिए ये आत्मा के गुण नहीं किन्तु एक भिन्न द्रव्य हैं । ये भिन्न द्रव्य पुद्गल हैं यह रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला होता एवं जड़ है । जब राग द्वेषादिक विकृतियों के द्वारा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को घातने का सामर्थ्य जड़ पुद्गल में उत्पन्न हो जाता है तब यही कर्म कहलाने लगता है । यह सामर्थ्य दूर होते ही यही पुद्गल दूसरी पर्याय धारण कर लेता है ।

कर्म आत्मा से अलग कैसे होते हैं

आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बन्ध है इसे ही जैन परिभाषा में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध कहते हैं । संयोग तो अस्थायी होता है । आत्मा के साथ कर्म संयोग भी अस्थायी है । अतः इसका विघटन अवश्यंभावी है । खान से निकले हुए स्वर्णपाषाण में स्वर्ण के अतिरिक्त विजातीय वस्तु भी है । वह ही उसकी अशुद्धता का कारण है । जब तक वह अशुद्धता दूर नही होती उसे सुवर्णत्व प्राप्त नहीं होता । जितने अंशों में वह विजातीय संयोग रहता है उतने अंशों में सोना अशुद्ध रहता है । यही हाल आत्मा का है । कर्मो की अशुद्धता को दूर करने के लिए आत्मा को बलवान प्रयत्न करने पड़ते है । इन्हीं प्रयत्नो का नाम तप है । तप का प्रारम्भ भीतर से होता है । बाह्य तपो को जैन शास्त्रों मे कोई महत्त्व नहीं दिया गया है । अभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए जो बाह्य तप अनिवार्य है वे स्वतः ही हो जाते हैं । तपों का जो अन्तिम भेद ध्यान है वही कर्मनाश का कारण है । श्रुतज्ञान की निश्चल पर्यायें ही ध्यान हैं । यह ध्यान उन्हीं को प्राप्त होता है जिनका आत्मोपयोग शुद्ध है । शुद्धोपयोग ही मुक्ति का साक्षात् कारण अथवा मुक्ति का स्वरूप है आत्मा की पुण्य और पाप रूप प्रवृत्तिया उसे संसार की ओर खीचती हैं । जब इन प्रवृत्तियो से वह उदासीन हो जाता है तब नये कर्मों का आना रुक जाता है । इसे ही जैन शास्त्रों की परिभाषा में 'संवर' कहा गया है । संवर हो जाने पर जो पूर्व संचित कर्म है वे अपना रस देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं । और नये कर्म आते नही । तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है । एक बार कर्मबन्धन से आत्मा अलग होकर फिर कभी कर्मों से संप्रक्त नही होता । मुक्ति का प्रारम्भ है, पर अन्त नहीं । वह अनन्त है । मुक्ति ही आत्मा का चरम पुरुषार्थ है । इसकी प्राप्ति अभेद रत्नत्रय से होती है । जैन शास्त्रों में कर्मों के नाश होने का अर्थ है आत्मा से उनका सदा के लिए अलग हो जाना । यह तर्क सिद्ध है कि किसी पदार्थ

का कभी नाश नहीं होता । उसका केवल रूपान्तर होता है । पदार्थ पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय ग्रहण कर लेता है । कर्म पुद्गल कर्मत्व पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं । उनके विनाश का यही अर्थ है :—

"सतो नात्यन्तसंक्षयः" (आप्त परीक्षा)

"नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः" (गीता)

"नैवासत्तो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति" (स्वयंभूस्तोत्र)

आदि जैना जैन महान दार्शनिक सत् के विनाश का और असत् के उत्पाद का स्पष्ट विरोध करते हैं । जैसे साबुन आदि फेनिल पदार्थों से धोने पर कपड़े का मैल नष्ट हो जाता है अर्थात् दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मा से कर्म दूर हो जाते हैं । यही कर्मनाश कर्ममुक्ति अथवा कर्मभेदन का अर्थ है । जैसे आग में तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक हो जाता है वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाता है ।

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए वि कहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥

गुणवान आदमी गुणवालों में अपने गुण को अपने कार्यों से ही प्रकट करता हुआ शोभा को प्राप्त होता है जैसे गुणहीन गुणरहित लोगों में वचनों से अपनी प्रशंसा करता हुआ ।

जाव न जरकंडपूयणि सव्वंगयं गसइ ।
जाव न रोयभुयंगु उग्गु निद्दउ डसइ ॥
ताव धम्मि मणु दिज्जउ किज्जउ अप्पहिउ ।
अज्ज कि कल्लि पयाणउ जिउ निच्छप्पहिउ ॥

जब तक जरारूपी राक्षसी सारे शरीर के अंगों को न ग्रस ले और जब तक उग्र एवं निर्दय रोगरूपी भुजंग न डसले तबतक (उसके पहले ही) धर्म में मन लगा और आत्मा का हित करो क्योंकि आज या कल जीव को निश्चय ही प्रयाण करना पड़ेगा ।

भारतीय दर्शनों में चेतनास्तित्व

• आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री
विद्यालंकार
जयपुर

विश्व के दो प्रमुख तत्व जड़ और चेतन पर प्रायः सभी पाश्चात्य एवं पूर्वीय दर्शनों में विभिन्न विचार व्यक्त किए गये हैं। चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने जड़ से पृथक् चेतनास्तित्व को स्वीकार किया है, फिर चाहे उसका स्वरूप अथवा लक्षण कुछ भी किया हो या नाम कोई भी रखा हो। प्रस्तुत लेखमें हम चेतन सत्ता के विषय में विभिन्न मतों के विचार प्रदर्शित करना चाहते हैं। भिन्न २ दर्शनों में चेतन सत्ता के जो नाम हमें मिलते हैं उनमें आत्मा, जीव, जीवात्मा, पुरुष ये चार प्रमुख हैं। यद्यपि इस विषय के प्रतिपादन में नाम भेद का विशेष महत्व नहीं माना जाता। चेतनास्तित्व के निरूपण में भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है।

वेदान्त दर्शन में चेतनास्तित्व

आज वेदान्त दर्शन के नामसे दर्शन शास्त्र में अद्वैत दर्शन-जिसे शांकर वेदान्त भी कहते हैं-का ही ग्रहण प्रायः किया जाता है। यद्यपि वेदान्त का यही एकान्त अर्थ नहीं है, फिर भी हम यहां उसी के मतानुसार प्रस्तुत विषय का विवेचन करेंगे।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा का प्रत्यय स्वयं सिद्ध है। उसे अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। संसार के समस्त व्यवहार अनुभव के आधार पर चलते हैं। जब हम किसी विषय का अनुभव करते हैं तो उस के साथ विषयीआत्मा स्वयं सिद्ध रहता है। यदि हम आत्मा को ज्ञानरूप से विषय के साथ उपलब्ध न करें तो निश्चय ही विषय का ज्ञान भी उत्पादित नहीं किया जासकता। अनुभव के साथ साथ अनुभवकर्ता की सत्ता अवश्यंभावी है। आचार्य शंकरने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

आत्मातु प्रमाणादि व्यवहारा श्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्ने रौष्ण्यग्नि ना निराक्रियते।

वेदान्त दर्शन शां. भा. २।३ (७)।

इस उद्धरण का भाव यह है कि आत्मा ही समस्त प्रमाण व्यवहार का आश्रय है। अतः प्रमाण व्यवहार से पूर्व आत्मा सिद्ध है। उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। निराकरण आगन्तुक-बाहर से आनेवाली वस्तु का होता है, स्वभाव का नहीं जैसे उष्णता का निराकरण अग्नि के द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह उसका स्वभाव है।

इस विषय में शंकर ने दूसरी जो बात कही है वह है प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा के अस्तित्व में अटल विश्वास। हर व्यक्ति यही विश्वास करता है कि 'मैं हूं", "मैं नहीं हूं" ऐसा विश्वास किसी को भी नहीं होता।

सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि नात्मत्व प्रसिद्धिःस्यात् सर्वोलोको नाहमस्मीति प्रतीयाम्।

ब. सू. शा. भा. १।१।१।

अतः आत्मा के अस्तित्व में शंका करने का कोई अवसर है ही नहीं। याज्ञवल्क्य ने भी बहुत पहले यह कह दिया है।

विज्ञातारमो केन विजानीयात्—बृह. २।४।१४।
जो सब का ज्ञाता है उसे किस प्रमाण से जाना जाय। सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—

यतोऽसिद्धि प्रमाणानां तदवं तैः प्रसिध्यति।
जिससे प्रमाणों की सिद्धि होती है, उसे प्रमाणों के द्वारा कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

वेदान्त दर्शन में आत्मा को ज्ञाता और ज्ञानरूप दोनों माना जाता है। ज्ञाता वास्तव में ज्ञान से अलग नहीं होता। इनमें भिन्नता स्थापित नहीं की जासकती। नित्य आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानने में किस विप्रतिपत्ति का सामना हो सकता है ? इसमें संशय की गुञ्जायश नहीं है। आत्मा की अद्वैतता के विषय में भी वेदान्त के विचार बड़े प्रौढ़ प्रतीत होते हैं, यद्यपि व्यवहार दृष्टि से अनुभव में दो पृथक् सत्तायें प्रतिभासित होती हैं। एक जीव तथा दूसरा जगत, परन्तु परमार्थतः सूक्ष्म दृष्ट्या आत्मा ही एक मात्र सत्ता सिद्ध होता है। जगत की सत्ता व्यवहार मात्र है। आचार्य शंकर का कहना है कि हम प्रत्येक अनुभूति में-विषयी या विषय रूप से, या कर्ता और कर्म रूप से आत्मा की ही एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र उपलब्ध होती है। विषयी तथा विषय का पार्थक्य परमार्थतः नहीं है, वह तो व्यवहारतः है।

सांख्य दर्शन में चेतनास्तित्व

चेतनास्तित्व के निरूपण में सांख्य दर्शन का अपना महत्व सब से अलग ही है। सांख्य में जो चेतन सत्ता स्वीकृत की गई है उसे "पुरुष" संज्ञा दी है! सांख्य में पहला तत्व प्रकृति को स्वीकार किया गया है। पुरुष दूसरा तत्व है। यह त्रिगुणातीत है, सत्, रज और तम। इन तीनों गुणों से परे है। विवेकी, विषयी, विशेष्य, चेतन तथा अप्रसव धर्मी है। चैतन्य इसका गुण नहीं है, अपितु स्वरूप है। जगत् के पदार्थों में त्रिगुणात्मकत्ता प्रकृति का अंश है और चैतन्यास्तित्व चेतन पुरुष का भाग है। पुरुष सदृश तथा विसदृश परिणाम से रहित है। यह विकार-रहित, कूटस्थ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। यह निष्क्रिय है तथा अकर्ता है। चैतन्य संयुक्त पदार्थों में जो क्रियाशीलता तथा कर्तृत्व दिखाई देता है वह वास्तव में प्रकृति का धर्म है। जगत् का कर्तृत्व प्रकृति में है, पुरुष तो केवल साक्षीमात्र एवं द्रष्टा है। वह त्रिगुण विलक्षण है अतः नित्य-मुक्त है। वह स्वभावतः ही कैवल्य सम्पन्न है। सांख्य में उसे मध्यस्थ कहा गया है।

सांख्य में पुरुष को विविध सुदृढ़ तर्कों के आधार पर खड़ा किया गया है। उन सभी तर्कों का संग्रह सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण ने इस प्रकार किया है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्यायादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

१. संघातपरार्थत्वात्—संघात-समुदाय सदा ही दूसरों के लिये होता है, उसी प्रकार यह समुदायमय जगत् भी किसी अन्य के उपयोग के लिये है। यही अन्य वस्तु 'पुरुष' है।

२. त्रिगुणादि विपर्ययात्—वह त्रिगुणात्मक नहीं है इसलिये वह अधिष्ठाता है। प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका है वह अधिष्ठान है, अधिष्ठान बिना अधिष्ठान के नहीं रह सकता। इसलिये अधिष्ठाता पुरुष की कल्पना आवश्यक है।

३ अधिष्ठानात्—जड़ पदार्थ में जब चेतन का अधिष्ठान होता है तभी वह प्रवृत्त होता है। रथ में जब चेतन सारथि का अधिष्ठान नहीं होता तो रथ चल नहीं सकता। ऐसे ही सुख दुःखात्मक यह जड़ जगत् भी किसी चेतन पदार्थ से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है।

४. भोक्तृभावात्—संसार के सभी विषयभोग्य है इनका भोक्ता भी कोई होना चाहिये, यह भोक्ता ही चेतन पुरुष है।

५. कवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—इस विश्व में बहुत से मनुष्य दुखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहते हैं। यह मोक्ष चाहने वाला कौन है ? बस यही पुरुष है।

सांख्य के मत में पुरुष अनेक हैं। इसके लिये अनेक प्रमाण हैं। पुरुष देश कालातीत है इसलिए वह एक होगा, इस मान्यता का कोई ठोस प्रामाणिक आधार नहीं है।

न्याय वैशेषिक और योग में चेतनास्तित्व

न्याय दर्शन में-इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग-परिचायक बताये गये हैं। मुक्त अवस्था में आत्मा में इन गुणों का अत्यन्ताभाव होजाता है। न्याय के मत में मुक्ति में सुख का भी अभाव होने के कारण आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। वेदान्त का मत इसके सर्वथा विपरीत है। इसीलिये मुक्तावस्था में आत्मा में नित्य आनन्द को मानने वाले श्री हर्ष ने अपने नैषधीय चरित में नैयायिकों की मुक्ति की हंसी उड़ाते हुए लिखा है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।

।।नैषध १७।७५।।

अर्थात् जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिए ज्ञानसुखादि रहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतला कर उपदेश दिया है, उनका अभिधान 'गोतम' शब्दतः ही यथार्थ नहीं है अपितु अर्थतः भी यथार्थ है। वह केवल गो-बैल न होकर गोतम-अतिशयेन गौ-अत्यधिक बैल है अर्थात् निरा मूढ।

न्याय में आत्मा को स्वतन्त्र स्वीकार किया है तथा उसे देह एवं इन्द्रियों से अलग एक नित्य स्थायी पदार्थ माना है।

वैशेषिक दर्शन में भी आत्मा के स्वरूप को करीब २ उपर्युक्त प्रकार का ही स्वीकार किया है। वह शरीर तथा इन्द्रियों से तो असार है ही अपितु मन से भी पृथक् है। अनुभव तथा स्मरण ये दोनों समानाधिकरण में विद्यमान रहते हैं, अतः आत्मा इन्द्रियादि से भिन्न है और अनुभव तथा स्मरण का अधिकरण है। वेदान्त में आत्मा को एक माना है, परलोक व्यवहार के अनुरोध पर वैशेषिक में उसकी अनेकता स्वीकार की है।

महर्षि कणाद ने अहं प्रत्यक्ष रूप से आत्मा को प्रत्यक्ष माना है। वह न आगम प्रमाण से सिद्ध है और न अनुमेद है। वह प्रत्यक्ष गम्य है।

योग दर्शन का अभिमत आत्मा के विषय में थोड़ा बहुत अन्तर से सांख्य के साथ सम्बद्ध है। सांख्य के समान ही योग में भी उसे पुरुष नाम से अभिहित किया गया है। पुरुष स्वभावतः शुद्ध, चेतन स्वरूप एवं दैहिक तथा मानसिक बन्धनों से रहित है। परन्तु वह अज्ञानावस्था में चित्त से सम्बद्ध रहता है। यद्यपि चित्त प्रकृति जन्य होने से अचेतन है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण वह चेतन के समान भासता है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण चित्त ही वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है, पुरुष को चित्त के परिवर्तनों के कारण ही पदार्थ का ज्ञान होता है। पुरुष स्वतः अपरिणामी है पर चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण परिणामी प्रतीत होता है। पुरुष चैतन्यात्मक होते हुए भी चैतन्य से भिन्न नहीं है।

जैन तथा बौद्ध दर्शन में चेतनास्तित्व

जैन दर्शन में चेतनास्तित्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व द्रव्य का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। द्रव्य सत् है इस सत् के विषय में विविध दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्त में केवल ब्रह्म को ही सत् माना गया है बौद्ध दर्शन सत् को निरन्वय क्षणिक अर्थात् उत्पादन विनाशशील मानता है, सांख्य चेतन (पुरुष) रूप सत् पदार्थ को कूटस्थनित्य मानता है, परन्तु अचेतन प्रकृतिरूप पदार्थ को परिणामिनित्य मानता है। जैन दर्शन में इस सत् की व्याख्या एक विशेष रूप से ही प्रस्तुत की गई है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। उसके मत में प्रत्येक पदार्थ के दो अंश होते हैं, एक शाश्वत अंश, दूसरा अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश की वजह से विश्व की प्रत्येक वस्तु 'ध्रौव्यात्मक' अर्थात् नित्य है तथा अशाश्वत अंश के कारण वही वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील-अनित्य है। जैन दर्शन इस तरह हर वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त मानता है।

इस द्रव्य के दो बड़े विभाग हैं। १-एक देश व्यापी द्रव्य २-बहु देश व्यापी द्रव्य। काल एक ही पदार्थ है जो एक प्रदेश व्यापी माना जाता है। जगत् के अन्य सभी पदार्थों में विस्तार पाया जाता है, इसलिये वे बहुदेश व्यापी कहे जाते हैं। जैन दर्शन में विस्तार वाले

द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। सत्ता के कारण वे 'अस्ति' हैं तथा शरीर के समान विस्तार युक्त होने से 'काय' हैं। ऐसे पांच द्रव्य माने गये हैं—

१—जीवास्तिकाय, २—पुद्गलास्तिकाय, ३—आकाशास्तिकाय, ४—धर्मास्तिकाय, ५—अधर्मास्तिकाय।

देश व्यापक (अस्तिकाय) द्रव्य प्रधानतः दो भेद वाला है। १—जीव और अजीव। ये जीव सामान्यतः दो तरह के होते हैं एक बद्ध तथा दूसरे मुक्त। बद्ध संसारी कहाते हैं। इनके अनेक भेद किए गए है। जो जीव किसी उद्देश्य को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं उन्हें त्रस कहा जाता है। जो जीव ऐसी शक्ति से रहित है वे स्थावर कहाते हैं। संसारी जीव के चार अन्य भेद भी किए गये हैं। १—नारक २—मनुष्य ३—तिर्यञ्च ४—देव। स्थावर जीव सब से निःकृष्ट हैं ये मात्र स्पर्शनिय ही होते हैं। जंगम जीवों में कुछ में दो, कुछ में तीन, कुछ में चार इन्द्रियां होती है। मनुष्य पशुपक्षी आदि उन्नत जीवों मे पांचों इन्द्रियां पाई जाती हैं।

चेतन द्रव्य जीव कहलाता है। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है। संसार के सभी जीवों में चैतन्य मिलता है। हर जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से युक्त है। जीव के इन स्वाभाविक गुणों पर अपने ही शुभाशुभ कर्मो का आवरण पड़ा रहता है। जब मात्र शुभ कार्यों के अनुष्ठान से यह आवरण तिरोहित हो जाता है तो जीव अपने उपर्युक्त गुणों का साक्षात् करता है। जीव शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता और कर्म फलों का भोक्ता स्वयं ही है। विश्व के प्रत्येक भाग में जीवों का अस्तित्व है।

वस्तुओं का ज्ञाता, कर्मों का सम्पादक और सुखों का भोक्ता जीव ही है। वह दुःखों का सहने वाला है। वह अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों का भी प्रकाशक है। वह नित्य होने पर भी परिणामी है। वह शरीर से अलग है, चैतन्य की उपलब्धि जीव के अस्तित्व में प्रबल प्रमाण है। जैन दर्शन जीव को मध्यम परिमाण वाला मानता है। वेदान्तिकों ने जीव को विभु माना है और वैष्णव दर्शनों ने उसे अणु स्वीकार किया है इन दोनों से भिन्न जैन दर्शन ने मध्यममार्ग स्वीकार किया है। जीव शरीरत्वच्छिन्न है। अपने निवासस्थान शरीर के परिमाणवाला है। वह हाथी के शरीर में हाथी के परिमाण वाला और चींटी के शरीर में चींटी के समान स्वल्प परिमाण वाला हैं। प्रदीप के समान जीव संकोच विकासशील है। वह तत्वतः अरूपी है, इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता. फिर भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान से उसे जाना जा सकता है।

बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी दर्शन कहा जाता है फिर भी वह चेतनास्तित्व को तो मानना ही है। हां, अन्य दर्शनों के समान उसने आत्मा को पृथक् सत्तावान् पदार्थ स्वीकार नहीं किया है। यह चेतनास्तित्व-प्रत्यक्ष गोचर मानस प्रवृत्तियों का एक समूह है। इस समूह के अलावा आत्मा की कोई सत्ता दिखाई नही देती। इस विषय में बौद्ध दर्शन वर्तमान मनोवैज्ञानिकों के अभिमत के तुल्य है। बौद्ध प्रतिपादित यह चेतनास्तित्व नाम रूपात्मक है। इन्द्रियों के अनुभव से निरूपित पदार्थो की संज्ञारूप है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु एवं एतज्जन्य शरीर रूप कहाता है, भारीपन तथा परिमाण रहित द्रव्य को नाम कहते है। यह मन तथा मानसिक प्रवृत्तियो की संज्ञा है। इसलिये यहां नामरूप से तात्पर्य शरीर व मन अर्थात् शारीरिक कार्य एवं मानसिक प्रवृत्तियां हैं। शरीर के कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियों के समुच्चय से अलग आत्मा कुछ नहीं है। रूप एक है, पर नाम के चार भेद हैं—वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। बौद्धों का तथाकथित 'आत्मा' रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन पञ्चस्कन्धों का एक पुञ्ज है। उसे आत्मा यह नाम केवल व्यवहार के लिये दिया गया है। उसकी वास्तविक सत्ता कुछ नहीं है। पञ्च स्कन्धों का समूहरूप यह व्यवहृत आत्मा भी अनित्य है। त्रिपिटकों के अनुसार इसका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। यह प्रतिक्षण परिणामी है। वह दीप शिखा एवं जल प्रवाह के समान सनातनशील है।

इस उपर्युक्त विवेचन से हम यह भली भांति जान सकते हैं कि भारतीय दर्शनकारों में आस्था के अस्तित्व के विषय में कितना गहन तथा सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया गया है। वेदान्त, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने अपने अपने ढंग से आत्मा की सत्ता तथा प्रामाणिकता को स्वीकार करके और विस्तृत विवेचन करके भारतीय दर्शन को विस्तार प्रदान किया है।

इस समस्त विवेचन का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो बड़े रोचक परिणाम निकल सकते हैं और संभवतः अन्त में सभी दर्शनों के मत एक स्थान पर आकर मिल भी सकते हैं। वस्तुतः अध्यात्म में आत्मा का विवेचन बड़ा रूचि पूर्ण विषय है। कहना न होगा कि बौद्ध दर्शन का नैरात्म्यवाद भी यत्किञ्चित् रूप से व्यवहारतः ही सही, चेतनास्तित्व को स्वीकार करता है चाहे वह क्षणिक ही हो। जैन दर्शन का आत्म विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ है। उसका द्रव्य स्वरूप बड़ा विलक्षण तथा बहुतर्क सम्मत लगता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य युक्त है। वस्तुतः यह मान्यता दर्शन में एक विशेष महत्व रखती है। वेदान्त द्वारा स्वीकृत आत्मा की स्वयं सिद्धता और सांख्य स्वीकृत पुरुष का स्वरूप भी बड़ा अद्भुत प्रतीत होता है। न्याय वैशेषिक द्वारा सुख-दुःख आदि के आधार पर आत्मा का अनुमान तर्क साध्य लगता है। जो भी हो, उपर्युक्त सभी दर्शनों के हम ऋणी हैं जिन्होंने आत्मस्वरूप को पहचानने के लिये विभिन्न मार्ग बताये हैं।

महावीर वर्द्धमान

• राजकुमारी लुहाडिया
धर्मालंकार
जयपुर

महावीर के जन्म के समय भारत का सामाजिक एव धार्मिक वातावरण पूर्णत विषाक्त था । लोग क्रिया काडो मे उलझ हुए थ स्त्री और शूद्रो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय एव दयनीय थी । ऐसी स्थिति का जनमत विरोधी था लेकिन उसके विरुद्ध बोलने का किसी मे साहस नही था । जाति एव धर्म के नाम पर गरीबो एव छोटी जातिया के सभी लोगो पर जुल्म ढाये जाते थे । शिक्षा का पूर्णत अभाव था । ऐसे समय मे महावीर स्वामी का जन्म विराट प्रदेश के कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ के यहा हुआ । उनकी माता का नाम त्रिशला था जो उस समय के शक्ति सम्पन्न महाराज चेटक की पुत्री थी । उनका ज म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन की शुभ बेला मे हुआ ।

महावीर के जन्म होते ही सारे जगत मे आनन्द की लहर दौड गयी । पीडित दलित एव त्रसित प्राणियो ने सुख की सास ली । चारो ओर उत्सव मनाये जाने लगे नगर को विशेष रूप से सजाया गया । तोरण एव बदनवार बाधी गयी । बाजे बजाये गये एव घर घर मे मगल गीत गाये जाने लगे । सिद्धार्थ एव माता त्रिशला अपने लाडले पुत्र का मुख देख कर फूले नही समाये । और ऐसा होनहार बालक को पैदा कर अपने जीवन को धन्य माना ।

महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था । वे धीरे धीरे बडे होने लगे । अपनी बाल –सुलभ क्रीडाओ से वे सारे महल को आनन्दित कर देते थे । जो भी उन्हे गोद मे लेता वही अपने जीवन को धन्य समझता । बचपन मे ही वे साहसी एव व्युत्पन्न मति थे । वे जब अपने साथियो के साथ खेलते तो खेल ही खेल मे अपनी बुद्धि कौशल का खूब परिचय देते । एक बार जब वे उद्यान मे खेल रहे थे तो उ ह अकस्मात ही उधर ही दौड कर आता हुआ सर्प दिखाई दिया । सब साथी उस देखते ही भाग गये । लेकिन महावीर डरे नही और उन्होंने उसकी पू छ पकड कर उसे बहुत दूर फेंक दिया । यह उनक साहस एव अहिंसक जीवन का प्रथम स्वरूप था ।

वर्द्धमान बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि थे । वे प्रतिभा सम्पन्न थे । आप समस्याओ को सुलझाने मे बडे चतुर थे । उनसे समस्याओके समाधान क लिये कितने ही व्यक्ति आते और महावीर बातो ही बातो मे उनका समाधान इस तरह से करते कि सभी उनकी बुद्धि की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए जाते । एक बार दो चारण ऋद्धिधारी मुनियो को शका हो गई और वह शका उनके दर्शन भाव से दूर हो गई । क्यो न हो महावीर तीर्थङ्कर जो ठहरे । मति श्रुति अवधि तीनो ज्ञान के वे धारी थे । उ हाने शीघ्र ही शिक्षा समाप्त कर ली । गम्भीर ग्र थो का उनको ज्ञान हा गया । इनकी बुद्धि एव स्मरण शक्ति को देखकर बडे बडे विद्वान भी हैरान हो जाते । इस प्रकार थोडे ही समय म महावीर अपनी बुद्धि ज्ञान एव प्रतिभा के लिये भारत के कोने कोने मे प्रसिद्ध हो गये । वे ग भीर प्रकृति क थे । चिंतन मनन एव स्वाध्याय मे वे अपना अधिक से अधिक समय लगाते ।

जब वे युवावस्था मे पहुँचे तो उनकी गम्भीरता और भी बढ गयी । वे अत्यत एकात प्रिय हो गये । सासारिक वैभव से दूर एकात मे ही वे मानव जीवन की गभीर समस्याओ पर मनन करने लगे । जब महावीर बडे हुये तो उनके विवाह का प्रश्न उपस्थित हुआ । वे विवाह के प्रश्न को सदा ही टालते रहे क्योकि उनका मन तो किसी ही अन्य ओर ही लगा हुआ था । महावीर ने भी

३० वर्ष की उम्र में घर छोड़ कर बन का मार्ग लिया । इसके पश्चात वे करीब साढ़े बारह वर्ष की अखंड तपस्या में लीन हो गये ।

वर्द्धमान अधिकतर मौन रहते थे । इन बारह वर्षों में उन्हें अनेक उपसर्ग सहने पड़े । यह एक वास्तविक तथ्य है कि प्रत्येक महान कार्य के बीच में कोई न कोई अड़चन अवश्य आती है । मोक्ष मार्ग के विचरण में महावीर को भी अनेकों कठिनाइयों का डट कर मुकाबला करना पड़ा ।

एक बार भगवान किसी भयंकर जंगल में कायोत्सर्ग के लिये खड़े थे । उसी मार्ग से एक ग्वाला दो बैलों को लेकर गुजरा । उसने वर्द्धमान से कहा "मेरे बैलों की सम्भाल रखना" और स्वयं गायों का दूध दूहने चला गया । जब वापस आया तो बैलों को न पाकर ग्वाले के क्रोध का ठिकाना न रहा । वह महावीर से कहने लगा "ओ बाबाजी मेरे बैल किधर गये, सुनते नहीं क्या ?"

एक बार भगवान श्वेताम्बरी नगरी की ओर चले । ग्राम वासियों ने उन्हें बताया कि इस मार्ग से न जाइये इसमें एक भयंकर विषधर रहता है । महावीर योगी थे । अहिंसा के मसीहा थे । वे जानते थे कि जो स्वयं शुद्ध होता है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता , वे उधर ही चल दिये जिधर विषधर का बिल था । जब महावीर उस सर्प के बिल के पास से बिहार कर रहे थे तो वह क्रोधित होकर अपने बिल से निकला और लगा महावीर को डसने । उसने पूरे वेग से महावीर पर प्रहार किया । लेकिन जब वह उनका कुछ भी नहीं बिगाड सका तब महावीर ने उसे आदेश दिया । महावीर के वचनामृत से उसे अपने पूर्व भव का स्मरण हो गया और वह महावीर का भक्त बन गया ।

भगवान महावीर का ध्येय सभी प्राणियों को सुमार्ग पर लगाना था । उनका अवतार ही प्राणी मात्र के उद्धार के लिये हुआ था । इसीलिये कष्टों तथा बाधाओं की परवाह किये बिना अपने ध्येय की ओर बढते रहे । भगवान के तप, त्याग, तेज और आत्म बल के सामने सभी बाधायें स्वयमेव दूर हो गई । बारह वर्ष पांच माह और पन्द्रह दिन की कठोर तपस्या करने के पश्चात ऋजुकूला नदी के किनारे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन चार घातिया कर्मों को नाश कर महावीर ने केवल ज्ञान प्राप्त किया । इस समय आपकी अवस्था ४२ वर्ष की थी । अब वे केवली हो गये थे । वे भूत, भविष्य एवं वर्तमान के दृष्टा एवं ज्ञाता हो गये थे । इसके बाद आप ३० वर्ष और जीवित रहे तथा अपने उपदेशों के द्वारा संसार को कल्याण का मार्ग दिखाते रहे ।

भगवान महावीर अनेक देश देशान्तरों में बिहार करके धर्मोपदेश देने लगे । वे जहां पहुंचते वहीं अलौकिक समवसरण (सभाभवन) की रचना होती । जिसमें १२ कक्षाएं होती थीं । अपनी सभा में सभी को आने की अनुमति थी । ऊँच,-नीच,-जाति-पांति एवं गरीब-अमीर बिना वैर भाव के धर्मोपदेश सुनते और अपना जीवन सफल बनाते । भगवान महावीर अर्द्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन करते । जिसे सभी श्रोतागण आसानी से समझ लेते थे । आपके शासन में सिंह और मृग एक ही घाट पर पानी पिया करते थे अर्थात हिंसक पशु तक अपनी जातिगत क्रूरता को छोडकर भक्ति से भगवान के आदेश सुनते थे । इस तरह भगवान काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, सिन्धु, कुरुणागल, कम्बोज, गांधार आदि देशों में बिहार करते हुये अन्त में परवा नगरी में पधारे । और वहां से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि में अर्थात अमावस्या के प्रातःकाल में मुक्ति लाभ किया ।

महावीर ने अहिंसा एवं सत्य का जो उपदेश दिया । उसमें भारत में सभी वर्गों में शान्ति एवं सद्भावना स्थापित हो गयी । ऊँच-नीच का भेद भाव समाप्त हो गया और सभी को धर्म पालन की सुविधा प्राप्त हो गयी । देश में शिक्षा का प्रचार फैल गया और लोग अपने आपको सुशील समझने लगे ।

ऐसे शान्ति एवं अहिंसा के अवतार भगवान महावीर की फिर से महावीर जयन्ती आ रही है । इसलिये हम सब फिर उनके ऊच्च आदर्शों पर चलने का प्रयत्न करें । जिससे हमारा जीवन शान्त एवं निरापद बन सके ।

"तुम्हें मिला जब जन्म"

तुम्हें मिला जब जन्म, धरा आकाश झुक गये ।
तुम्हें मिला निर्वाण कि सौ सौ दीप जल गये ॥

तुम मुक्तक की प्रथम पंक्ति में, ही जीवन का काव्य बन गये
जिस को खोज रही सदियां उस मंजिल की तुम राह बन गये
तुम मानव से ऊपर उठ कर वीतराग भगवान बन गये ।
तुम्हें मिला जब जन्म...

तुम मृत्यु का अहम जीत युग युग के शाश्वत् सत्य बन गये
तुम संयम की घोर साधना लक्ष्य स्वयं का स्वयं बन गये
तुम अवनी से ऊपर उठकर वर्धमान महावीर बन गये ।
तुम्हें मिला जब जन्म...

तुम तत्वों के निज स्वरूप को धर्मों का विश्वास दे गये
निज स्वरूप का पाठ पढ़ा तुम जीने का अधिकार दे गये
जन्म-मरण से ऊपर उठ कर सृष्टि-पुत्र अतिवीर बन गये ।
तुम्हें मिला जब जन्म...

सतत साधना से तुम अपनी विश्व-वन्द्य वरदान बन गये
तुम ऊंच-नीच के तोड़ कगारों को समता की धार बन गये
तुम जीवन से ऊपर उठ कर भूत-भविष्य-वर्तमान बन गये
तुम्हें मिला जब जन्म...

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्य-विवरण

राजस्थान, जैन सभा जैन समाज का एक मात्र प्रतिनिधि संगठन है। वह अपने जीवन के ११ वर्ष समाप्त कर बारहवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। अपने इस अल्पकाल में वह जो कुछ कर पाई है उससे इस सभा की कार्य प्रगति का संकेत मिल सकता है। समाज में आज से ११ वर्ष पूर्व कई संस्थायें विद्यमान थीं और सामाजिक कार्यकर्ता उनमें विभक्त थे। समाज के उत्साही नवयुवकों ने संगठन के महत्व को समझ परस्पर के समस्त मतभेदों को भुलाकर तत्कालीन संस्थाओं के नाम का मोह त्यागकर समाज के हित में राजस्थान स्तर पर एक संगठन बनाने का निश्चय किया। जिसके फलस्वरूप सन १९५२ में कई जैन संस्थाओं के अभूतपूर्व एवं अद्वितीय एकीकरण से राजस्थान जैन सभा की स्थापना हुई।

इस सभा की स्थापना समाज-हित की दृष्टि से समस्त राजस्थान में जैन समाज के प्रत्येक स्त्री पुरुष को संगठित करने, विभिन्न जैन संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करके एक सूत्र में लाने, जैन समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये यथा सम्भव प्रयत्न करने एवं जैन समाज के हितों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहने के उद्देश्य से हुई।

अपने उद्देश्य की पूर्ति में समाज में जीवन, जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त जनमानस को धर्म एवं कर्तव्य की ओर आकृष्ट करने के लिये अनेक प्रवृत्तियां प्रारम्भ की।

सभा की प्रवृत्तियां

१. पर्यूषण पर्व

युवकों में धार्मिक विषयों का अध्ययन एवं मनन करने की दिशा में रुचि बढ़े एवं जन साधारण में भी धर्म के प्रति श्रद्धा बनी रहे इसी उद्देश्य से सभा ने प्रारम्भ से ही भाद्रपद मास में पर्यूषण पर्व आयोजित किया है।

इस वर्ष पर्यूषण पर्व की विशेषता यह रही है कि अनेक माने हुये विद्वानों के जैन धर्म और उसकी महत्ता पर महत्वपूर्ण भाषण हुये। इस पर्वराज का उद्घाटन राज्य के उद्योग एवं वित्त विभाग के उप मंत्री श्री चन्दनमलजी वैद ने किया। पर्यूषण में प्रतिदिन जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के ओजस्वी एवं सारगर्भित प्रवचन हुए। आपके अतिरिक्त प्रतिदिन अधिकारी विद्वानों, वक्ताओं आदि का विभिन्न विषयों पर प्रभावोत्पादक एवं प्रेरणादायक भाषणों का आयोजन किया गया जिनमें सर्वश्री रामप्रसाद लड्ढा, उप मंत्री, देवस्थान एवं राजस्व, डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थान विश्व विद्यालय, डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थान विश्व विद्यालय श्री केवलचन्द ठोलिया, श्री मोहनलाल रांवका, श्री ताराचन्द शाह, श्री फूलचन्द जैन सदस्य विधान सभा, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डा० राजमल कासलीवाल, प्रिन्सिपल मेडिकल कालेज, श्री कपूरचन्द पाटनी एवं

डा० सुधीरकुमार गुप्त, राजस्थान विश्व विद्यालय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भाषणों के अतिरिक्त नित्य भजन, कविता पाठ आदि हुये जिनमें बहिन श्रीमती चमेली देवी वैद्य, एवं सर्वश्री प्रसन्नकुमार सेठी, महेन्द्रकुमार रांवका, दामूलाल आदि के विशेष रुचिकर रहे।

सामूहिक क्षमापन पर्व

सभा के तत्त्वावधान में यह पर्व प्रतिवर्ष आसोज कृष्णा २ को मनाया जाता है। इस दिन समाज के समस्त वृद्ध, युवक व बाल एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने समस्त गत वर्ष के मतभेदों को भुलाने की दिशा में अग्रसर होते हैं। सभा का यह एक अनूठा प्रयास है। इस वर्ष यह पावन दिवस राज्य के राज्यपाल महामहिम डा० सम्पूर्णानन्दजी की अध्यक्षता में मनाया गया। सभा के अध्यक्ष श्री केशरलालजी बक्षी ने आपका स्वागत किया। इस वर्ष इस समारोह की यह विशेषता रही कि वर्षा आने पर भी हजारों की संख्या मे नरनारी शांति-पूर्वक बैठे रहकर इस पर्व के कार्यक्रम को मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रहे।

महावीर निर्वाणोत्सव

अपने शिशुकाल से ही इस सभा के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्णा अमावस्या का भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव आयोजित किया जाता है। इस वर्ष यह महोत्सव दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान तथा दर्शन विभाग, महाकौशल महाविद्यालय जबलपुर (म० प्र०) के प्राध्यापक आचार्य रजनीशजी की अध्यक्षता में दो दिन तक समारोह पूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर व्यापार उद्योग मण्डल, जैन श्वे० स्थानक वासी संघ, आत्मानन्द मण्डल, फाइडे क्लब राष्ट्रदूत प्रेस आदि स्थानों पर चर्चा सभाओ, विचार गोष्ठियों आदि का आयोजन किया गया।

निर्वाणोत्सव पर्व पर आचार्य रजनीशजी के अतिरिक्त डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल पं० चैनसुखदासजी न्याय-तीर्थ के इस दिवस की महत्ता पर भाषण हुये तथा श्री दामूलाल एवं प्रसन्नकुमार सेठी ने अपनी मनमोहक कवितायें प्रस्तुत की।

महावीर जयन्ती समारोह

प्रति वर्ष चैत्र शुक्ला १३ को भगवान महावीर का पावन जयन्ती समारोह सभा के तत्त्वावधान मे आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर भगवान महावीर तथा उनके सिद्धांतो पर जैन अजैन विद्वानों के भाषणों का आयोजन तथा विशाल जुलूस एवं भण्डारोहण आदि का कार्यक्रम सम्पन्न किया जाता है।

इस वर्ष समारोह के अन्तर्गत महिला सम्मेलन, जुलूस, भण्डा-अभिवादन, विचार गोष्ठी एवं आम सभा आदि का दो दिवसीय कार्यक्रम सम्पन्न हुआ :—

क—महिला सम्मेलन

भगवान महावीर के २५६१ वें जन्मोत्सव समारोह के प्रथम दिन दिनांक ५ अप्रेल ६३, चैत्र शुक्ला १२ को, जैन समाज के प्रसिद्ध सभा भवन शिवजीराम भवन के प्रांगण में श्रीमती सुमित्रा देवी, सदस्या राजस्थान विधान सभा की अध्यक्षता में मनाया गया जिसमे अनेक जैन अजैन महिलाओं ने भगवान महावीर व उनके सिद्धातो पर प्रकाश डाला। जैन दर्शन विद्यालय की बालिकाओ के द्वारा एक रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया। समाज की महिला शिक्षण संस्थाओ द्वारा भजन, गायन, नृत्य आदि के कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये गये। इस कार्यक्रम की संयोजिका श्रीमती हीरादेवी जैन थी।

ख—जुलूस एवं भण्डाभिवादन

समारोह के मुख्य दिन अर्थात चैत्र शुक्ला १३ तारीख ६ अप्रेल १९६३ को प्रातः एक विशाल जुलूस महावीर पार्क से प्रमुख बाजारो मे होता हुआ निकाला गया। जुलूस की समाप्ति पर रामलीला मैदान के विशाल प्रांगण में श्री अम्बुजकुमारजी जैन डिप्टी अकाउन्टेन्ट जनरल राजस्थान के कर कमलों द्वारा भण्डारोहण का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस वर्ष सदा की भांति समाज की संस्थाओं का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। इस कार्यक्रम के संयोजक श्री हीराचन्द वैद थे।

ग—विचार गोष्ठी

भगवान के जन्मोत्सव के दिन दोपहर को समाज के प्रसिद्ध सभा भवन आत्मानन्द सभा भवन में भारत के प्रसिद्ध विद्वान, साहित्यकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार की अध्यक्षता में विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया।

घ—आम सभा

सदा की भांति इस वर्ष भी भगवान महावीर के जन्मोत्सव के दिन एक विशाल आम सभा का आयोजन राजस्थान के गृहमंत्री श्री मथुरादासजी माथुर की अध्यक्षता में किया गया। राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्दजी ने इस विशाल आम सभा का शुभारम्भ किया। श्री सत्यदेव विद्यालंकार इस समारोह के मुख्य अतिथि थे। समारोह में राजस्थान के प्रसिद्ध सैनाणी कवि मेघराजजी मुकुल ने कविता पाठ किया। अचानक आंधी और तूफान आजाने के कारण समारोह के अध्यक्ष श्री माथुर साहब ने भगवान के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये सभा की समाप्ति की घोषणा की। इस वर्ष इस समारोह की यह विशेषता रही कि सभी कार्यक्रमों में जैन समाज के सभी सम्प्रदायों का पूरा २ सहयोग सभा को मिला।

ङ—महावीर जयन्ती स्मारिका

गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी लगभग २५० पृष्ठ की महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया गया। इस स्मारिका में भगवान महावीर के जीवन दर्शन एवं सिद्धांतों के अतिरिक्त जैन धर्म, दर्शन, कला, इतिहास आदि के विषय में महत्वपूर्ण लेख व रचनायें आदि हैं। इस स्मारिका को साहित्यिक जगत के अतिरिक्त सभी क्षेत्रों में भारी सम्मान मिला है। जिसने देखा है उसने ही मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आर्थिक कठिनाई के कारण जैसी स्मारिका निकलनी चाहिये वैसी नहीं प्रकाशित हो सकती है फिर भी जैसी है वह एक सफल प्रयास ही कहा जा सकता है। इसका सम्पादन भी श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने किया है। यह उन्हीं की कृपा का शुभ फल है। सभा उनकी अत्यन्त कृतज्ञ है।

विशेष प्रवृत्तियां

१. वीर वाचनालय

घी वालों के रास्ते में स्थित बनजी ठोलिया की धर्मशाला में सभा द्वारा एक वाचनालय चलाया जाता है जिसमें दैनिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, मासिक समाचार पत्र पत्रिकायें आती हैं।

२. विशेष सभाओं के आयोजन

बौद्धिक एवं मानसिक विकास के लिये तथा महान आत्माओं के प्रति श्रद्धांजलियां अर्पित करने हेतु सभा द्वारा समय समय पर आयोजन किये जाते हैं। इस वर्ष के मुख्य आयोजन निम्न है :—

(क) गुजरात के वयोवृद्ध महान सन्त क्रान्तिकारी विचारक तथा उच्चकोटि के साहित्यकार मुनि श्री सन्तबालजी का दिनांक ५ मई १९६३ को बड़े दीवानजी के जैन मन्दिर के प्रांगण में मानव धर्म विषय पर व्याख्यान करवाया गया।

(ख) सैद्धांतिक चर्चा में भाग लेने हेतु आये हुये जैन विद्वानों के सम्मान में तथा धार्मिक विषयों पर जनता को जानकारी मिले इस उद्देश्य से दिनांक २१ व २२ अक्टूबर १९६३ को बड़े दीवानजी के मन्दिर में सभाओं के आयोजन किये गये।

(ग) भारत के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार का दिसम्बर १९६३ में बड़े दीवानजी के मन्दिर में भाषण का आयोजन किया गया जिसमें उन्होंने भगवान महावीर नामक एक २५० पृष्ठ की पुस्तक पं० साहब को प्रकाशनार्थ भेंट की।

(ङ) प्रमुख उद्योगपति साहू श्री शांति प्रसादजी के जयपुर आगमन पर एक सभा का आयोजन बड़े दीवानजी के मंदिर के प्रांगण मे दिनांक १९ दिसम्बर १९६३ को किया गया।

अभिनन्दन समारोह

सभा के सम्माननीय सदस्य श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा के विदेश यात्रा से लौटने पर उनके सम्मान में दिनांक २४ नवम्बर १९६३ को बड़े दीवानजी के मंदिर में

अभिनन्दन समारोह श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी की अध्यक्षता में किया गया ।

स्मृति दिवस

समाज के मूक सेवक स्व० मास्टर श्री मोतीलालजी का स्मृति दिवस सन्मति पुस्तकालय के प्रांगण में दिनांक १७ जनवरी १९६४ को पं० देवीशंकरजी तिवाडी की अध्यक्षता में आयोजित किया गया । इस स्मृति दिवस मे जैन अजैन लोगो ने काफी संख्या में भाग लिया । सभा के इस कार्यक्रम से प्रेरित होकर स्व० मास्टर मोतीलालजी की स्मृति में एक उपयुक्त स्मारक बनाने तथा सन्मति पुस्तकालय को अधिक विकासोन्मुख बनाने के अभिप्राय से एक समिति का गठन भी हुआ ।

जैन कर्मचारियों के लिये सुविधा

राजस्थान मे सरकारी कार्यालयों का समय प्रातः ६ बजे से सांयकाल साढे ५ बजे तक का हो जाने के कारण शरद ऋतु में सूर्यास्त जल्दी होने से जैन कर्मचारियों को अपना सायंकालीन भोजन रात्रि मे पूर्व करने मे बडी कठिनाई होने लगी थी । सभा ने सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया । फलस्वरूप राज्य सरकार ने आधा घण्टा लन्च समय का उनके लिये कम कर सायंकाल में आधा घण्टा जल्दी जाने की नवम्बर मास से जनवरी मास तक प्रति वर्ष के लिये घोषणा की । सभा राज्य सरकार के इस सहयोग के लिये आभारी है ।

श्रद्धांजलि एवं शोक

प्रसिद्ध जैनाचार्य मुनि श्री गणेशलालजी महाराज के निधन पर सभा द्वारा श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई ।

हिंसक प्रवृत्तियों का विरोध

महाराष्ट्र सरकार द्वारा देवनार में खोले जाने वाले बूचड खान का एक प्रस्ताव द्वारा विरोध किया गया ।

पंजाब सरकार द्वारा बच्चों को पौष्टिक भोजन के लिये अंडा स्कूल में वितरण किये जाने की योजना का विरोध किया गया ।

राजस्थान सार्वजनिक प्रन्यास अधिनियम

इस संबंध में एक स्मरणपत्र द्वारा सरकार का ध्यान भेजे गये आवश्यक सुझावों की ओर शीघ्र आदेश प्रसारित करे, निवेदन किया गया ।

संस्था की आर्थिक स्थिति

संस्था की आर्थिक स्थिति सुदृढ नही है । सदस्यता शुल्क केवल मात्र २५ नया पैसा वार्षिक है । इसके अतिरिक्त जयन्ती पर समाज से अधिक सहायता प्राप्त की जाती है । संस्था को समय समय पर सार्वजनिक कार्यक्रम व अन्य प्रकार की अनेकों प्रवृत्तियों का आयोजन करना पडता है । आय के इन अल्प साधनों में यह सब करना अत्यधिक कठिन हो जाता है । परिणामतः हमेशा ही आर्थिक विषमता का सामना करना पडता है । इन कठिनाइयों के कारण संस्था उतना काम नही कर पाती जितनी की इसमे अपेक्षा की जा सकती है ।

आभार प्रदर्शन

सभा को समाज के सभी सम्प्रदायो की संस्थाओं, कार्यकर्ताओं एवं सहयोगियों का पूरा पूरा सहयोग मिला है जिसके फलस्वरूप ही उसे अपने कार्यों मे सफलता प्राप्त हुई है । उन सभी के लिये यह सभा उनका आभार प्रगट करती है । स्मारिका ग्रन्थ की तैयारी मे तथा इसके लिये साधन व सामग्री जुटाने में जिन लेखकों कवियों, विज्ञापन दाताओं आदि से सहयोग व सहायता प्राप्त हुई है उन सब के प्रति सभा आभारी हैं । विशेष-तौर पर बाबू छोटेलालजी कलकत्ता, मूलचन्दजी पाटनी बम्बई, प्रवीणचन्दजी छाबडा, हीराचन्दजी पाटनी, जुबली ब्लाक वर्क्स हेमेन्द्र जैन बगडा, केवलचन्दजी ठोलिया, मालचन्दजी जैन, विजयचन्दजी वैद, चतुरमलजी अजमेरा पं० मिलापचन्दजी आदि का नाम उल्लेखनीय है ।

यहां मैं अपनी प्रबन्ध समिति के सभी सदस्यों की सराहना करता हूं जिन्होने सभा के सभी कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिनके कारण सभा अपने कार्यों में सफल रही है विशेष तौर पर श्री केशरलालजी बक्शी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिनके नेतृत्व में सभा फली व फूली है और आर्थिक सहयोग प्रदान कर सभा को सहायता पहुँचाई है । अन्त में वर्तमान कार्यकारिणी के सभी सदस्यों का पुनः आभार प्रकट करता हूं और और आशा करता हूं कि उनका इसी भांति नवनिर्वाचित कार्यकारिणी को पूरा पूरा सहयोग मिलता रहेगा । ●

सभा की नवनिर्वाचित कार्यकारिणी

१. श्री केशरलालजी जैन अजमेरा	अध्यक्ष
२. श्री केवलचन्दजी ठोलिया	उपाध्यक्ष
३. श्री माणिक्यचन्द्रजी जैन	,,
४. श्री रतनलालजी छाबडा	मंत्री
५. श्री ताराचन्दजी गोदीका	संयुक्त मंत्री
६. श्री देवकुमारजी साह	कोषाध्यक्ष

सदस्य

१. श्री सूरजमलजी साह
२. श्री राधाकिशनजी जैन
३. श्री हेमेन्द्रजी जैन
४. श्री ताराचन्दजी साह
५. श्री सुरज्ञानीचन्दजी लुहाडिया
६. डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल
७. श्री ओमप्रकाशजी बाकलीवाल
८. श्री कुबेरचन्दजी काला
९. श्री प्रकाशचन्दजी पाटनी
१०. श्रीमती कपूरीदेवीजी गोधा
११. श्री कपूरचन्दजी पाटनी
१२. श्री बलभद्रकुमारजी जैन

Lord Mahavira and the Mission of Jainism

• Lothar Wendel
Count Hermann Keyserling Library, Pilani (Rajasthan)

THE great importance of Lord Mahavira for Jainism is emphsized by the mere fact that the very name 'Jainism' derives from Jina, the victor as Lord Mahavira was called. He gave to Jainism the final shape for the current cosmical age. He hailed from a Kshatrya family in which the aristocratic tradition was integrated by a kind of simple democracy based on the feeting for human dignity. Bihar was a picturesque background to a religion of which Lord Mahavira was the last great prophet. If one travels through Bihar and visits Pavapuri the place where Lord Mahavira was born, and the nearby lake-temple, where he, obtained omniscience, if one visits Rajgiri, where the lecturing-hall of the Tirthankara was built up by the devas and where he preached to men and animals, one feels an atmosphere of saintliness. And one feels deeply moved if one climbs barefooted in the Parashnath-Hills, where most of the Tirthankaras obtained omniscience.

In Bihar one feels that the 24 Tirthankaras have cosmic importance and that the number 24 reflects the rhythm of time taken as a cosmic entity. And it is certainly not a mere accident that we find this number of 24 elders in that book of the bible which is revealing us the great world drama, filling our hearts with awe and admiration of the glory of God—in Jainism God is equal to Jiva considered in difference to Buddhism as substance which is immortal, blissfull and of unlimited powers.—These Tirthamkaras belong together like the ages and their teaching is one. But to our human eyes the most conspicuous among them are the first and the last : Lord Rishaba Deva with the sign of the bull and Lord Mahavira, with the sign of the lion. Lord Mahavira was a contemporary of Lord Buddha who lived also mostly in Bihar and as late Dr. Vate suggests they might have repeatedly met in rainy-season. Nonetheless Jainism is quite independent from Buddism inspite of some fartures they have in common.

What are the essential features of Jainism ? One of its most conspicuous features is certainly its very old age. Instead of a single founder who is a historical person in its usual sense, in Buddhism, when 24 Tirthankers, who descended to the earliest times of humanity.

A renowned Jain Scholar S. C. Diwakar emphasized the antiquity of Jainism in a paper read on the 5th

January, 1964 at the conference of orientalists at New Delhi.* He refers particularly to the excavations made at Mohanjadaro and Harappa : "... . the pose of standing dieties on the Indus scale resembled the pose of standing image of Rishaba Dev obtained from Mathura. The feeling of abandonment that characterises the standing figures of the Indus scale, three to five (Plate II, I. J. H.) with a bull in the foreground may be the prototype of Rishabha— Rishabha has been spoken of as Yogishwara by poet Jinsena in his Mahapurana. Therefore, the Indus valley excavated material glaringly establishes the fact that the Founder of Jainism belonged to the pre-Vedic peried."

The second striking feature is Jain Cosmology and in this context its conception of soul. Scholars like Glasenapp Kirfel and Schubring and among the younger generation Josejh Kohl frcm Wurzburg University in Germany and among Indian Scholars recently Muni Shri Nagrajji in his excellent book 'Jain Philosophy and Modern Science' have published very acute treatises on this subject. Particularly the book of Muni Shri Nagraj shows to what an extent and what a great authenticity the ancient Jain Philosophers have expounded the subtle element of the Universe thousands of years ago, when the seeds of the science were not even sown.' Even today', so the author assures, 'Science is just staggering on the ladder of knowledge to reach that stage.'

The third striking element of Jainism is Jain logic with its finest flower the Sapta Bangha, which, according to tradition is ascribed to Lord Mahavira. We have here a good introduction in form of a book 'Anekantavada' by Shri Harisatya Bhattacharya published by Shree Jaina Atmanand Sabha, Bhawnagar. The number seven has here a particular importance. 'The Jainas', so the author points out, 'urge that the doctrine of the Sapta Banga does not mean that a thing is possessed of only seven attributes or that it has only seven modes. It recognises on the contrary that the thing has an infinite number of attributes and modes but holds that if one of these attributes or modes is considered in relation to the thing, the thing would present seven aspects, neither more nor less."

Let us sum up : The first mentioned striking feature of Jainism is its hoary antiquity. What does this mean to modern man living in a state of continuous change ? Jainism, at least in its deeper layers, offers, something permanent which has stood the test of time and helps humanity to regain its inner balance.

The second striking feature is the majestic cosmology, develcped by the Jain Philosophers. The knowledge, gained at a time when there were no scientific instruments, was obtained by an unique strength of intuition. Today the merely calculating function of the mind is overstressed and leads often to narrowness, We need a new balance between calculation and intuition and

* Published by P. D. Divakar, Nayayatirth, B. A., LL. B.

here Jainism might have a great mission.

The intuition was stimulated by a system of logic which keeps touch with reality and sacrifices mere formality to it.

In our world, striving for unity, but handicapped by all kinds of sectarianisms which is the ransam of specialisation—the Jain philosophy of non-absolutism could have a great practical importance. In the sense of teachings of Lord Mahavira, my teacher Champat Rai Jain applied Jain logiç to the science of comparative religion, with the result it was possible to his discipline to adopt a Jain philosophy on the basis of any authenttc religion. So I could write to late Prof. von Glasenapp, when he once inquired about my philosophical development, that I was a Christian with a Jain Philosophy and that I did see here any contradiction. Glasenapp thought this information important enough to mention it in his book 'Das Indienbild Deutscher Denker' (The India Image of German Thinkers), in which he points also—see the chapter, 'Indian Religious Communities in Germany'—to the Indian Library (Champat Rai Jain Library) at Bad Godesberg.

---

१. जैनियों के अहिंसा तत्त्व की प्रशंसा में निम्न महानुभावों ने लिखा है कि इसका प्रभाव अजैनों पर पड़ा है जैनियों के उद्योग से बहुत सी पशुबलि बन्द हुई है।

२. उनका (जैनों का) साहित्य तो बहुत ही गम्भीर और देखने योग्य है।

३. जैन कवियों ने हिन्दू व मुसलमान राजाओं के साथ बहुत काम किया है।

४. बड़े साहित्य भण्डार के स्थापित करने वाले जैन लोग हैं।

—मि० जष्टन हर्टन, जर्मनी

The Role of the Idea of Action (Kriyavada) in Jaina Philosophy

• Dr. G. C. Pande
University of Rajasthan
Jaipur.

THE earliest Jaina texts like the *Ayaramga*, *Uttarajjhayana*, and *Suyagadamga* are marked by a strong emphasis on the notion of *Kriya* or willed action. That man has freedom or will *Purusakara*, *Virya*) sufficeint for working out his salvation was claimed almost as a distinctive feature of Jaina faith and contrasted with rival doctrines especially of the *Ajivakas* who presented an extreme contrast. This dominant moral attitude continued as a persistent background in which alone some of the characteristic features of later, systematic Jaina philosophy can best be understood.

Kriya has to be distinguished from *Karman*. *Kriya* has its ultimate source in the inherent and inalienable power of the soul (*Jiva*). *Karman*, on the other hand, represents a subtle physical power which hinders, envelops and binds the soul. One may describe *Kriya* as the activity of the soul, *Karman* as its passivity. Moral and spiritual effort consists in repelling (*Samvara*) and expunging (*Nirjara*) the influence of matter by the force of will. The heroic affirmation of the freedom of the soul over the imprisoning mould and world of matter is *Tapas* and it makes one ultimately Victor (*jina*), Worthy (*Arhant*), and Self-sufficient (*Kevalin*).

The acceptance of the reality and crucial significance of 'action' has far-reaching philosophical implications. Real action implies an acting person who changes and yet persists and a similar mutable but ordered world of other persons and things. The being of things given in experience must be modifiable and hence imperfect and the nature of the soul moreover perfectible Multiplicity and change must be real by the side of identity and persistence Moreover, to make purposive action possible tentative and fragmentary knowledge, which is all we usually have in the contexts of practical urgency, must be held to have a definite though limited reliability and must be regarded as revealing real though partial aspects of things.

The Jainas accepted and formulated these implications in the course of their philosophization. Thus as early as the *Ayaramga* the *Nirgrantha* is declared to be a believer in the Soul, the World and Will (*Ayavai, loyavai, Kiriyavai*). The classic definition of reality "*Utpada-vyaya-dhrauvya yuktam sat*" follows in this same direction, and the logical doctrines of *anekanta*, *naya* and *Syadvada* represent its culminating refinement.

Jaina logic has often been misunderstood by its critics as implying a denial

of the law of contradiction and hence as itself contr adictory. The point of jaina logic is philosophical viz., that the really genuine way in which a thinker should seek knowledge is not by creating a private or purely hypothetical world which achieves formal consistency by depending entirely on a process of arbitrary definition and the exclusion of empirical significance, but by remembering the complex and variable nature of reality and thus holding that every judgment about it where abstraction necessarily enters, is meaningful and true only under certain conditions. Thought cannot afford to become a Procrustean bed, especially when Reality is Protean. This is the common assumption of scientific as wellas historical thinking. In illustrating the 'self-contradiction' of Jaina logic as 'Sctosnavat' 'Sankaracharya' (Comy ad B. S. 2. 2. 33) has unwittingly shown its strength. In experience, 'heat' and 'cold' are relative terms and by adopting two different standards the same thing can be described as 'hot' or 'cold'. The great Vachaspati Misra realizing this weakness of the Master's illustration has to step outside empirical knowledge and adduce *Brahman* and *Prapancha* as examples of absolute Being and non-being.

Basically, rational thought seeks practically significant knowledge. In understanding major philosophies the important thing is not to bring out their obvious mutual inconsistencies and serious inner inconsistencies are either rare or only apparent due to an unavoidable 'sickness of language' or the application of a purely negative dialectic but to discover the empirical and logical conditions which lend them plausibility and value.

Different actual philosophies are thus seen to be true within different abstract worlds. Thus we can have a Vedantic philosophy of Being or a Buddhist philosophy of Flux. Jaina logic conceds to both a partial truth and is basically opposed to the separation of 'semantic' and 'syntactical' questions. Alternatively, Jaina logic is like the concrete Hegelian dialectic which rests on the principle that 'tout comprendre C est tout pardonner'. Thus Being-Non-being Becoming as the succession of Being and Non-being Becoming as the unintelligible Union of Being and Non-being, illustrate the first four steps of the *Sapta-bhangi naya*. *Svabhavavada* which accepts the unintelligible universe, *Sunyavada* which denies it and *Mayavada* which assigns to it a limited reality but a deeper unintelligibility, can be given as illustrations of the last three steps of the seven-fold logic.

With an equal interest in the real process of change, while modern science turns to the measurement, correlation and control of physical phenomena, the Jainas turned to the analysis of the stages and means of the soul's bondage and liberation from physical phenomena. Science leads to the manipulation of Nature through a physical mechanism; Jaina askesis (Tapas) leads to freedom from mechanism.

JAINISM IN MODERN TIMES

• Wilfried Noelle, Ph. D.
Hony Professor

MAN'S achievements in the realm of technology are almost baffling. So baffling indeed are they, being so proliferative in character, that the human mind itself is assailed with doubts whether it is man himself who is the creator and destroyer of all life or is he merely an instrument. Curiously enough this spell of doubt does not last long. A certain realisation dawns upon him inspite of lurking scepticism that howsoever clever he might be in shaping and reshaping fluid and solid matter to raise his living standards, he remains in the final analysis, an impotent entity, in the face of even a puny challenge, hurled at him by nature, to thwart his resolutions. Despits this, man goes on advancing by dint of his prowess, ingeniousness, his art and craft. This advancement, however, is mundane. There is a saying: "Man does not live by bread alone". What does man want besides his crust of bread which symbolically means his material well-being ? Mentally man will be sick if he neglects his soul, his religion, his God.

We humans, the best of His creation, are imperfect and not everlasting. We are born, we grow, live and die. Birth is an event of rejoicing as death is that of gloom and dismay. At birth we thank God and at death we do say "they will be done" but invariably we are left in a perplexed state of mind. We humans philosophise differently about death, the ultimate end because we follow different religions and we interpret everything, both blessing and disasters, according to the teachings of the religions we are initiated into from birth or the religion of our adoption

In this article we discuss some of the tenets of Jainism, and their short or long range influence on the mind of man. The writer in the course of his stay in India came into contact with many followers of this religion, who held with him many religious discourses. This led him to study this religion at some length. Jainism he would say is one religion which claims to have thrashed the problems of life and death in no dogmatic but in quite a rational way although that scope was not exhausted fully.

For a western, toned up in a religious philosophy which lays stress on life affirmation, it is no easy matter for him to reach the roots of an oriental philosophy like Jainism, which originates with life negation and tends to flow down into the shoreless oceans of Nirwana. If he does he would either accept it and discard his own beliefs

or strike a balance and arrive at a compromise. The Nobel laureate Albert Schweitzer has also made a similar observation in his book "Indian Thought and its Development". He said, "the real significance of a disputation between Western and Indian thought lies in the fact that each becomes aware of what constitutes the inadequacy of both, and is thereby stimulated to turn in the direction of what is more complete".

When one thinks of Jainism, one's thoughts irresistibly travel towards that magic word which, like the Ramayna passes on from one epoch to another. Ahimsa is that word. Ahimsa which according to V. S. Apte's Practical Sanskrit English Dictionary signifies harmlessness or abstinence from giving pain to others in thought, word or deed is not only to be practised for its own sake throughout the span of human existence but is also to be directed towards a definite objective. That objective is the attainment of Nirvana or Moksha – the ultimate goal of life with the followers of jainism.

There is a book on Jainism which says that modern age of science had lost its faith in "Religion" because "Religion" itself had lost its scientific foundation. According to Einstein, "Religion and Science do not only not stand in conflict but actually complete each other". So a rational religion is essentially a scientfic religion. But no religion can become scieniiftc merely on insistence; it must have a scientific approach. Science is not static; experiment and correction is inherent in it It is good to describe Jainism as a scientific religion because "right faith, right knowledge and right conduct with compassion as its basis", being the qualities of such a religion were present in it. But what is essentially intriguing is that a subtle religion that jainism is and which in unmistakeable terms seeks to lift the human mind to heights of celestial purity should remain confined to a comparatively small section of the Indian community. Why is this religion not expanding and bringing more and more people into its fold ? Perhaps it would not be far too wrong to say that the reason for this religion's limited following was the presence of an overdose of rigidity of rituals. In fact some of the outward symbols, which people notice in everyday life, as for instance strictly orthodox jain munis sporting a piece of cloth and covering their faces partly tend to make them somewhat inquisitive. The unthinking might dismiss the whole affair as a mere mockery of religion and a sign of fanaticism. The serious-mainded among them would, however, take it in a different light. They would ask themselves whether the followers of Lord Mahavira who preached compassion for all life were indeed so good as not to hurt even the tiniest of creatures in thought, word, or deed. The crucial question is whether it is at all possible to translate this nobility into actuality. If we think hard on this or any other relevant question we would be drawn to the conclusion that one sign of a living religion is that its lofty ideals do not hamper the mental growth of its followers to the exent of isolating them

from other members of the human race. In fact it should offer solutions to all vexed problems arising in different epochs. It should, for example, be capable of breaking the physical national boundaries in order to communicate with others. In short it should not become the monopoly of a limited number of people but a valuable heritage of mankind itself.

The teachings of Jainism prepare and impart training to the votaries of this religion as to how to live a pious life on earth in order to lighten the burden of the soul to such a pitch that it escapes tha pull of the vicious circle of life and death. It is an intricate process a part of which revolves round self-immolation. This in itself is not attractive enough and cannot hold out an absolute appeal to a rational being. But Jainism has one outstanding feature of its whole gamut of philosophy and that is Ahimsa. The philosophy of Ahimsa has a certain amount of fascination provided it is shorn of its rigid application. Jains would not take to agriculture because it infringed the tenets of their Dharma. Can they afford to maintain the same self-imposed aloofness from the defence of their country in a time of crisis ? It is, therefore, imperative that even Ahimsa should be interpreted in a manner that it transcends its narrow bigotry and becomes an inter-religious catch-word. Today we need an Ahimsa which could penetrate into the hearts of those who believe and indulge in perpetuating racial and colour differences among the humans. To kill is by all standareds an awful crime but to spread hatred which makes the hated, especially if they happen to be weak and defenceless, live in constant dread and peril is still worse. Let Jain religious leaders give a modern interpretation to Jainism and make other people aware of its import. Jainism was created to spread the idea of peace when brutality was much in evidence. In fact brutality has never vanished from human society although emphasis of values have undergone a change. A religion which has its roots in peace has a prior right to go to the people, for people do not come forth themselves to embrace. Religion like a new idea is taken to them. It is not to suggest that people of other faiths be proselytised but there is a good deal of scope to give them food for thought. It is not quite charitable to say so but Ahimsa, which is the key-word of ancient as well as modern India, would have almost shrivelled into a tiny shell had it been denied a new lease of life at the hands of Mahatma Gandhi himself. For the Mahatma Ahimsa could be equated with God. These were no empty words when he wrote in his autobiography : "My uniform experience has convinced me that there is no other God than truth. The only means for the realisation of Trust is Ahimsa". Indeed the Father of the Indian nation put it to test many times during his freedom struggle with the British Power and emerged triumphant. He believed in its efficacy.

For the Jain community it is a matter of great pride that it was the founder of their faith, Lord Mahavira, who, having been deeply distressed by animal sacrifice built up a positive resistance to stop it. It could not have been a simple

affair to stand against powerful adversaries who quoted the vedas in support of their indulgence in animal sacrifice. Lord Mahavira, who, today, is respected and worshipped by his followers, led a life of dedication to a great cause. He fought his battles with many weapons and the best in his 'armoury' was Ahimsa.

Times have changed and so have values. No religion, howsoever great its founder, can serve humanity if its followers see only the trees for the wood. Academic discussions on vegetarianism and Moksha will not be of much avail unless an organised effort is made to give the world a modern interpretation of Ahimsa. The message of Ahimsa before being exported should spread far and wide in the land of the birth of Lord Mahavira. The foreigners who come and see India do not find that the concept of Ahimsa is being pursued with an iron will. When it becomes evident here in this country the whole world will look to it and draw sustenance from it.

Let it not be forgotten that Manusamhita, which has a high place among the Dharmashastras says that Ahimsa is common duty of all !

"Jainism is one of the great religions of the East which has moulded the lives of countless people to a higher plane of mental discipline and purity of thought. I am much attracted by the teachings of Lord Mahavir."

AHMED ALI
Former Dy. High Commissioner
PAKISTAN

WAR & AHIMSA IDEOLOGY

• Dr. Bool Chand
Director,
Ahimsa Shodh-Peeth

THERE are those who argue that aggressivness being a fundamental instinct of man, war is an inevitable factor in human affairs. With such thinkers Ahimsa philosophers do not agree.

Ahimsa believes, first, that aggressiveness is merely a derived instinct, and secondly, that even if aggressiveness of man were regarded as a primary instinct it is quite easily possible to give to it an outlet that would provide personal satisfaction and yet not destory society. A sociological analysis of war shows that war is in reality a stage in a cycle, the cycle of war, peace and war again. In human societies this cycle takes more or less distinctive forms. In the beginning a strain or problem occurs in the normally peaceful and accomodative relations of sovereign states; this is followed by the development of what is called the war fever; after that hostilities begin, when military and international policies come to overshadow domestic ones and restrictions on free speech and freedom of assembly are willingly accepted; the newly developing situation is found to have effects on family, education, recreation and other phases of community life; ultimately there is the termination of war with a general sense of relief and the urge to return to 'normal' as quickly as possible. In this cycle the adjustment of individuals and groups to the conditions of war has to be made perforce. The psychological patterns of violent human behaviour such as are noticeable in times of confict are neither a natural nor a normal condition of men.

Permanent Elimination of war

Living in a world in which violence between man and man is an unceasing fact of life, however. Ahimsa philosophers have naturally concentrated their thought on the analysis of the causes of violence. At the same time the ethos of their integral thinking has been naturally directed to a society where violence would disappear and perfect harmony and integration would rule.

It is interesting to note that even the Marxists have been doing their thinking on the same lines. They have sought to explain human conflicts in terms of economic interest and then concentrated their attention upon the ultimate establishment of a class-less non-violent society of the socialist civilisation. The assumption of economic class interest as an explanation of all violence in human society appears wholly unrealistic to the Ahimsa analysts. But a society

based upon the idea of common good would be clearly non-violent; from which war would be eliminated for ever; that is the view of Ahimsa philosophers as also of the Marxian socialists.

Slavery and war have bean regarded as the two cancers of civilisation by all thinkers from quite early times. The conquest of slavery in the early nineteenth century appeared to be a good omen for the prospect of a campaign against war. In this campaign against war neither the unrestricted economic individualism of the Liberals nor the totalitarian control of economic activities by the State of the Marxist school was able to achieve any real success, although both had been preached as panaceas for over a hundred years. At one stage the modern western spirit of democracy gave mankind a new hope, but it was soon realised that even this hope cannot be effectually fulfilled until an international state is established.

As a result of the two World wars, the number of the great powers has been reduced from a fluctuating plurality to just two, namely the U.S.A and U.S.S.R. but two is always an awkward number in any international balance of powers. Nor are the Russian and the American people very well equipped for understanding each other. In a world technologically unified, the competition for power between the U. S. A. and the U. S. S. R. is going to be decided in the long run by the suffrages or those who are today reckoned as the undeveloped or backward nations; but so long as the competition for power continues, it is quite clear that there can be no real elimination of war in the international sphere, however desirable it may be on humanitarian and other grounds.

Conditions of Parpetual Peace

The great German philosopher Emmanuel Kant had stated in an essay on 'Perpetual Peace' written in the year 1795 that the pre-requisites of international peace are that every nation should have a republican constitution, that each people should possess national self-determination, that there should be a general disarmament, and that there should be a federation of states agreeing to abolish war for ever. Kant's programme is as realistic today as when he had formulated it, and it appears to be as far from the realm of attainment. Kant had felt that the federation of states will have to take the form of a world republic.

Ahimsa thinkers feel quite emphatically that beyond all questions of national self-interest every people has a moral obligation to humanity as a whole. Ahimsa programme is and has to be international in character and aim. It is only when a majority of the world's population come to see the underlying principles of Ahimsa ideology that war as an institution and also as a weapon for the settlement of international disputes can be really and permanently abolished.

While aiming at the permanent abolition of war, however, Ahimsa does not preach unthinking pacifism, It realises that world peace involves the private renunciation of war on the part

of an immense majority, and it does not therefore preach that men and nations should agree to submit to being the booty of others who do not renounce war. Nor does Ahimsa countenance cowardice of the running away from dangers, should dangers come one's way in the pursuit of the path of peace and virtue. War itself may well be such a danger; and when involvement in a war takes place, Ahimsa thinkers recommend that all rational steps should be taken with a view to sustain the morale of the army and the civilian population at the highest level.

Modern War

Ahimsa thinkers have not failed to see that mdoern war involve the complete mobilisation of manpower and of the economic and industrial resources of the community. The distinction which used formerly to be made between the home front and the battle front has almost completely disappeared today. This is true with particular force in the countries in which the fighting actually takes place. In any future war, if the present lethal weapons are used, the industrial and production centres may become prime targets even more prominently than the locus of military forces. The need for sustaining civilian morale in war time, therefore, becomes particularly great.

Psychologists have analysed that among the elements which help to sustain moral at a high level in a democracy, there are (1) sound physical and mental health, marked by zest, ability to strive, a sense of humour and a purpose in life; (2) sound religious and spiritual values, involving the presence of a goal or aim to fight for and confidence and faith in ourselves; (3) realistic understading of our past and present situation, the gains to be obtained from victory and the evil consequences of defeat: and (4) a sense of solidarity, including co-operation with all classes and groups in the community. Ahimsa thinkers support the cultivation of the above attitudes and strongly warn against apathy, distrust, scepticism and the acceptance of the enemy values

Ahimsa thinkers further recommend that all help should be given to ensure that the effects of a total war on family and on children and youth are the least harmful, and also that when war ends the return of the armed forces and civilians to peace is least rugged. In our own country, Ahimsa leaders have strongly recommended the formation of *shanti senas* for the above and like purposes.

Weapons of War

Recognising, however, that the waging of wars may be unavoidable for defensive, if not for offensive, purposes. Ahimsa philosophers recommend that even more important than the elimination of war is the need to fight it by means which are free from violence. When Mahatma Gandhi had to wage a war against the British with the object of freeing the country from their domination, he employed for this purpose only non-violent weapons, including fasting, non-cooperation and boycott of things British. The waging of war by such means necessarily invo-

lved great suffering for the whole people. This suffering was borne by all willingly and patiently, with the result that the waging of the war left no scars which remained unhealed. Despite the waging of a relentless war between the Indians and the British, the ralations between the Indians and the British people are today cordial and happy. Ahimsa philosophers ascribe this happy result wholly to the fact the weapons used on the side of the Indians were non-violent (satyagraha).

How far it is possible to employ the weapons of satyagraha for waging awar against a foreign power in our present transitional stage, is a question upon which Ahimsa thinkers are not quite agreed. There are those who feel that satyagraha weapons can be as effectual and powerful against foreign aggressors as against domestic ones. In a statement he made on 29th August 1939, Mahatma Gandhi had said that he would advise Hitler to use Satyagraha weapons in order to gain his just demands from the foreign powers of Europe. There are others who think that the use of satyagraha weapons alone in an international war would be unwise. Our own Government, although generally committed to pursuing the policies for which Mahatma Gandhi, the Father of the Nation, had stood, is, for instance, finding it difficult to do away with the armed forces and to forsake recourse to arms. Among the Jain and Buddhist rulers in history also the same difference of view is noticeable as evidenced by the practice followed by, for instance, Ashoka and Kanishka among the Buddhist rulers and Samprati and the rulers of Rajasthan in medieval times among the Jains.

THE ANCIENT TOWN OF RAJORGARH

• Dr. Kailash Chand Jain
Alwar

RAJORGARH the old capital of Badagurjaras is a place of great antiquity It is situated on a lofty range of hills 28 miles to the south west of Alwar It is a large fortified city and was once inaccessible In the tenth century A D it was known by the name of Rajyaputra[1] but it began to be called Paranagra in mediaeval times It appears that the town Paranagara derived its name from the Jaina Tirthankara Parasanatha A large number of jaina monuments found at Rajorgarh prove that it was a great centre of Jainism Alwar in the neighbourhood of Rajorgarh was also the famous *Tirtha* of Ravana Parsvanatha in medieval times In this way Paranagara may have assumed such name

Rajorgarh was ruled by the Bada Gurjara rulers in early times It is said that Bada Gurjara Raja Baghasimha founded this town in about 145 A D[2] This time seems to be doubtful because the Bada Gurjara Pratiharas actually began to rule from the seventh century A D Therefore Baghasimha may have founded it after the seventh century A D The Baghola embankment which spans the valley near the palace is believed lo have received this name from him In course of time the rulers of this place became feudatories of the imperial Pratiharas of Kanauj In 959 A D Mathanadeva was governing this place as feudatory of Vijayapaladeva of Kanauj His predecessor was Savata residing at Rajaur Ajayapala and Lachchha are known to have ruled over this place in the 10th century A D[3] Ajabgarh a place of great antiquity in Alwar district, seems to have been founded by Ajayapala Lachchha is said to have constructed an old tank called Lachoro An inscription of 1152 A D refers to the reign of Prithvipala[4] Most probably, he is a Badagurjara ruler The Badagurjara rulers of Machari who started to rule from the 13th century, were descendants of the rulers of Rajorgarh Matsyadeva started his separate dynasty at Machari[5]

After the Badagurjaras Rajorgarh was occupied by the Khanzadas From

1 EI, III p 263
2 ASC XX pp 121 122
3 EI III, p. 263
4 Marg March 1959 p 63
5 ARRMA, 1919 p 2

them; it was conquered by the Mughals. The importance of this place continued up to the eighteenth century A. D. because there is a gateway of the city that had been built by Jayasimha, Raja of Jaipur in 1689 A. D. The walls of the fort are attributed to Madhosimha Raja of Jaipur, who reigned from 1760 A.D, to 1778 A D. He also constructed the fine tank Madhu Tala at the foot of the hill. Its importance declined when the capital shifted from this place to Alwar.

As Rajor became a great centre of saivism under the patronage of the Bada Gurjar rulers, Mathanadeva, built the temple of Mahadeva and named it Lachchhukesvara Mahadeva after his mother Lachchuka.[6] This temple became famous by the name of Nilakanthesvara Mahadeva. Mathandeva granted the village of Vijaghrapataka now known as Baghor to this temple. Grass, pasture land, trees, grains and gifts were given to this temple for meeting the expenses of the temple. Certain additional taxes or tolls were also made over to the same deity. These taxes were three *vimsopakas* as customary in the market on every sack (of agricultural produce) brought for sale to the market; two palikas from every *ghataka* kupaka of clarified butter and oil; two *vimsopakas* per mensem for every shop and fifty leaves from every *Choukka* brought from outside the town.

The temple of Nilakanthesvara Mahadeva is a comparatively large pyramidal domed temple, richly decorated with figures. The central structure of this temple is ancient. The *mandapa* of the temple has four central pillars over ten feet in height. These pillars are found 16½" in diameter. They are exquisitely sculptured with *Nayikas* and with frescos of musicians and dancers. The *garbha-griha* contains a black stone lingam. On the south face of the temple, there is an image of Siva with eight arms. To the east is one of the most interesting image of *Surya* riding a chariot drawn by seven horses. It is three headed and eight armed holding eight objects. Around the main temple, there are innumerable fragments of sculptured stone. A bearded three headed figure of Brahma wonderful Siva as Nataraja, Siva and Parvati riding a bull and an eight armed dancing Ganesa in a dark blue stone are noteworthy. This Ganesa image is without doubt one of the most exquisite in the country.[7]

The temple of Nilakanthesvara Mahadeva remained a place of pilgrimage even in the past as it is today. An inscription engraved on the pedestal of a broken image of Ganesa in this temple records its erection by *Mahajanas* who had come from Varvara Nagara for the pilgrimage.[8] For the residence of the Saiva saints, there was also the monastery of Nityapramodityadeva connected with the Gopaladevi tadagapali *matha* at Chhatrasiva. The administration of the grant made by the Bada

6. ASC, VI, p. 77.
7. EI, III, p. 263.
8. Marg, March, 1959, p. 61
9. ARRMA, 1919, p. 2.

Gurjara king Mathanadeva was entrusted to the holy ascetic Omkarasivacharya, a member of the Sopuriya line.[9]

Besides the temple of Nilakanthesvara Mahadeva there were several other temples An inscription dated 997 A. D. records that some members of the Mathura Kayastha family erected the temple of Siva. The name of the queen Prabhavati is also mentioned.[10] An inscription of 1152 A. D. in the temple of Chaturbhujanatha in the fort of Rajorgarh records the erection of an image of Chakra Swami by Valhana, Nalhana and others, sons of Delhana, son of Ralhana, a great devotee of Vishnu when Prithvipaladeva was ruling.[11]

Jainism also flourished side by side with Saivism at Rajorgarh in the early medieval period under the Bada Gurjara rulers who were liberal in their religious out look. As the name Paranagara of this town in the medieval times indicates, that it was associated with Parsvanath. Jaina saints used to have performed penances in some caves which are visible in the hills. By their inspiration, their followers constructed magnificient temples and placed images in them. Three life size Jain figures are all standing upright.[12] There are also the two jambs of a highly ornamented doorway of temple, besides numerous broken figures all apparently Jaina. In one of the ruined temples, there is a colossal Jaina figure of Parsvanatha 13 feet 9 inches with a canopy of 2 feet 6 inches over head which is supported by two elephants.[13] The whole height of the sculpture is 16'3" and its breadth 6 feet. It is known as *Nowgaza* and it is said to have been built by Bhainsa Mahajana during the reign of some Bada Gurjara ruler. Such a big Jaina image is not noticed in the Northern India.

Most of these Brahamanical and Jaina ruined temples definitely belong to the Gurjara Pratihara period. They appear to have been constructed in a period between eighth and twefth centuries. The Gurjara Pratihara rulers inherited the aesthetic traditions of the Gupta period. They added vigour and dynamism to the Gupta Art. By the integration of these two impulses, they became successful in creating great master pieces of medieval sculpture for the decoration of their capital and for satisfying their religious zeal.

ABBREVIATIONS

ARRMA = Annual Report Rajputana Museum, Ajmer.
ASC = Archaeological Survey of India Reports by Sir Alexander Cunningham.
EI = Epigraphia Indica

10. EI, III, p. 264
11. ARRMA, 1919, p 2.
12. ARRMA, 1919, p. 2.
13. ASC, XX, p 124.
14. Ibid.
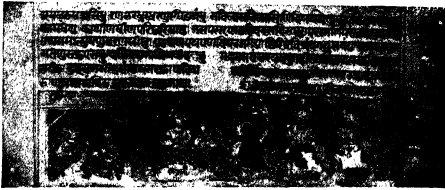
महाकवि पुष्पदंत कृत आदि पुराण की सचित्र प्रति का एक चित्र
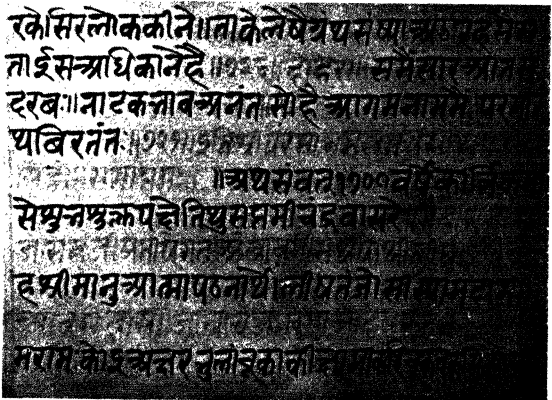
समय सार की अत्यधिक प्राचीन सं० १७०० की प्रति का चित्र

'Sramanic Foundations of Ancient Egypt

• Ram Chandra Jain
Advocate, Ganganagar

HUMAN society, through its long experiences, developed an understanding that in the motly of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful. There is grief, suffering and woe which none cherishes; then why bring grief, suffering and woe to a fellow human being, nay, to my being on earth enjoying life. The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living being became the foundation stone of the human society, this permanentsubstance came to be called Atma or soul. The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of mankind. Human efforts conditioned the nature of society. The efforts of the individual member of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum. The ideal individual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings. The second discovery of the efficacy of effort became the driving force of the Soul or Atma. This is what we call Sama in Prakrta and Srama in Sanskrta. Sama in Prakrta[1] and Sanskrta[2] means Efforts. The rightness of the efforts is indicated by the word "N" both in Prakrta[3] and Sanskrta[4]. The word Samana or Sramana, thus, means Right Atmic Efforts. The way founded on right Atmic effort is called Sramanalogy. The basic foundations of the science of Sramanalogy are the five well-known tenets of Non-violence (Ahimsa) Truth, Non-stealing, Continance and Non-attachment, (Aparigraha).

A group of expert mariners, led by great engineers and accompained by spiritual leaders, under the supreme leadership of Menes, reached the shore of Egypt in the middle of the fourth millenium B. C. He was the first pharaoh the supreme leader of the peoples, who founded the great city of Memphis and excavated a lake on the north and west sides of the city[5]. He peacefully developed the new country as the interpretation of the Slate Palette of Narmer indicates[6]. Menes and his people remembered their original home as Punt. The root of the word is Pwn, the T being the usual feminine ending for a foreign country[7]. The Pwn may be identified with Pani of Bharata. Punt, thus means "the country of the Panis". The Panis of the Ahi sub-race were a great seafaring adventurers of Bharata.

* Read before the Egyptology Section of XXVIth International Congress of Orientalists at New Delhi on 5-1-1964.

Menes, thus appears to be great Pani leader who took his Sramanalogical culture and civilization from Bharata to Egypt.

The Sramanalogical beliefs of the ancient Egyptians are contained in the Book, "The Manifestation of Light" miscalled, "Book of the Dead". The essential parts of this originated in the most ancient times. This book claims to be revelation from Thoth. The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra) the builder of the second pyramid. He belonged to the fourth dynasty and lived circa 2800 B. C. Thoth is the same as Tet. Tet was son of Menea (Narmer of Petrie and Breasted) who flourished circa 2350 B C. This Thoth was later regarded as essentially the god of learning; he was the master of the words of god, i. e , Hieroglyphies; he was the scribe and messenger of the gods; he was the Measurer of time and the Mathematician. Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters. Thoth or Tet and Hespti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the first Dynasty and lived also during the times of Menes[8].

The Egyptians believed in Soul; its Right Effortiveness, Transmigration of Soul and its final Attainment (Siddhi). They believed in body and intelligence Matter and Spirit[9]. The five Sramanalogical tenets of the Egyptians are given in manifold details in the 125th chapter of the Book. This chapter "Hall of Truth" is very significant. This chapter contains 48 Sramanalogical tenets of Non-Violence, Truth Non-stealing, Continance and Non Attachment along with three tenets of Right-Knowledge, Right Conduct and final aim of Siddhi[10].

These Sramanlogical beliefs of the most ancient Egyptians were at the foundations of their political, social and economic institutions.

Sramanalogy reflects itself in political istitutions as a Republican system. Kingship, Ganapatiship and dictatorship is abhorrent to it. Menes was the first great personage at the dawn of the Egyptian history who united the regions of Upper and lower Egypt. Menes, Mena or M'ns means the establishers of the station. He is the first pharaoh. At first no single minister stood between the paraoh and the various branches of the administration. There was no grand vizier. The vizierata was however, introduced under the IV Dynasty[12]. The Egyptian state was divided into various nomarchs. Nomarch was the local administrator resembling the modern pattern of a provincial executive head. Nomarch Nesutnefer, of the fifth Dynasty is marked by his title as "Leader of the Land". He led the people; he did not govern them. Perhaps the people selected him and the Pharaoh nominated him. He enjoyed the confidence of the both the pharaoh and the people. The election or selection of this official was dependent on the moral virtues of the incumbent of the office

The ideal official was "the silent man" who is respectful of established authority and just, since maat (which means Truth, Justice, Rightness) is part of the world order of which his royal master, the pharaoh is the champion. The silent man is not the meek sufferer, but the wise, self-possessed, well-adapted man, modest and self-effacing upto a point but determinate and firm in the awareness that he is thoroughly in harmony with the world in which he lives[13]. His ideology was not of the coward, it was of the brave. Pharaoh, the supreme leader of the people possessed these qualities almost to a point of perfection. He was the best and noblest servant of the people. Men of high moral fibre, possessing great intellectual and spiritual qualities, self-effacing, having little material possessions occupied high public offices with no hereditary rights. This ancient type of republican society flourished in Egypt itll circa 2200 B.C.

Sramanalogy reflects itself in the social sphere as freedom, equality and progress of the individual and the group. This was the age of Tirthankar Mallinah when the first-servants of Egypt, under the leadership of Menes, went from Bharata to their new home. Egypt imported custom of matrilineal descent from her first immigrants. Monogamy was the general custom. The position of women was of equality and prestige. She was economically independent and enjoyed status and freedom. She would attain the position of a priestess. She could go anywhere without molestation. All landed property descended in the female line from mother to daughter[14]. Family was the social unit and based on a single individual, was of necessity small. The marriage took place outside the family. Monogamy was cumpulsory. Polygamy was unknown to the inhabitants of the Nile Valley. Women constantly appeared in public, were equal in the eye of law, could ascend the throne and administer the government of the country. The Nobles also limited themselves to a single wife whom one made the partner of his cares and joys and treated her with respect and affection[15].

The economic life of the ancient Egyptians was marked with simplicity equality, peace and progress. Though the people voluntarily granted certain privileges to the priests for their specific services, their general living was marked by simplicity[16]. The society generally was composed of middle classes. They lived in one-storeyed or two-storeyed simple houses. Side by side the houses of the common people, we find massive, huge, spacious and palatial buildings; pyramids and temples. Private houses and community buildings characterise the individual and state-governed economic life of the people. It was a mixed economy.

Egypt in the fourth millenium B. C. was the granary of the civilised world. The peasantry was simple. It was really free from the entire class of restrictions and interferences. It was not vaxatiously interefered by the Government. It had freedom of choice with respect of crops and farming operations[14]. The common people were mostly tied to the land which

they tilled for their own living and for the maintenance of the State, The Egyptian peasants lived wonderfully simple and unpretending'[19]. The Egyptians were good and industrious peasants and employed improved methods of husbandry. Their natural intelligence was remarkable as they were free tenants of their land. They had not to render forced labour. They employed elaborate system of canals, with embankments, slinves and flood-gates and constructed reservoirs for flood water. Land was extensively reclaimed from marshes for cultivation They had abundant surplus yields.

The Egyptian industries were diversified and individual owned. The most important Egyptian industries were building, stone.cutting, weaving, furniture-making, glass-blowing, pottery, metallury, boat building and embalming [20]

The surplus agricultural and industrial outputs were stored by the society in the community buildings. It appears that the internal trade was left largely in private hands. The international trade was centrally organised by the community. Pharoh was the wholesale merchant. Foreign trade was the royal monopoly.

The earliest immigrants into Egypt peacefully developed their new home. Egypt shows its peaceful development till the fourth Dynasty. Snefru built a fleet of sixty ships of one type for trade purposes. His times were free from wars.

This picture of the most ancient Egyptian people reveals their basic principles of human freedom, equality and harmony. The people lived like brother in peace and happiness. Though the pattern of family earning was private, there was no greed and vulgarity attached to it as no private wealth was counter-balanced by community wealth. There was no private or public display of wealth. The disparities in incomes and possessions appear to be negligible hence there were no classes. There might have been high and low people but that was not on account of the differences in material possessions. That was due to the inherent merit in intelligence and prosperons for want of social tensions. It was an integrated society.

This study of this integrated society of the most ancient Egypt is of prime importance in the present age of disintegration wrought by the Aryan materialism of history that established its begemany over the whole world by the beginning of the first millenium B.C. The communist tribalism and the capitalist tribalism both, the ultimate dialectical developments of the Aryan materialism, stand at the brink of self-annihilation. Matter is characterised by division and disruption. It has divided, disrupted and disintegrated the human soul and the human society. How the materialistic tribal force displaced the Sramanic free society is an interesting chapter of history. The fundamental way that would regain to humanity its lost freedom, equality and peace has to be rightly understood and follow. This is the imperative necessity of the age. This purpose of the age forces

upon us the necessity of undertaking the Sramanalogical research on an international scale. The imperialistic necessity gave birth to the science of Oriental Research. The human necessity has to give birth to the science of Sramanalogical Research to discover the principles which may lead to the establishment of an integrated society of mankind.

REFERENCE

1. M. D. T. Seth; Pai-Sadda-Mahannavo; 1928; Page 1081.
2. Monier-Williams; A Sanskrta-English Dictionary; 1956; Page 1096.
3. M. D. T. Seth; op. cit; Page 467.
4. Monier-William; op. cit; Page 431.
5 Herodotus; The Histories; 955; Page 138.
6 (1) M. A. Murray; The splendour that was Egypt; 959; Plate LXVIII on Page 196
   (2) R. C. Jain, the Most Ancient Aryan society; 1964; Chapter "Origins" The plate is given detailed interpretation here.
7. M. A. Murray; op. cit; Page XXI.
8 (1) G. Rawlinson; Ancient Egypt; 1881; Vol I Page 136 Vol II Pages 38, 31, 28.
   (2) M. A. Murray; op. cit; Pages 330, 161.
9. J. H. Breasted; Development of Religion and Thought in Ancient Egypt; 1959; Pages 52, 55, 56, 418.
10. (1) James. B. Pritchard; Ancient Near Eastern Texts; Relating to the old Testament; 1955; Pages 34, 36.
   (2) R. C. Jain; op. cit; These tenets have been reclassified and re-organised in the chapter "The Sramanic Way."
11. G Rawlinson; op. cit; Page 27.
12. H. Frankfort; The Birth of Civilization in the Near East: 1954; Page 84.
13. H. Frankfort; op. cit; Page 87.
14. M. A. Murray; op. cit; Pages 101, 104.
15. G. Rawlinson; op. cit; Vol I Pages 534, 539, 552; Vol II Page 324.
16. G. Rawlinson; op. cit; Vol I Page 439.
17. G. Rawlinson; op. cit; Vol I Pages 151, 155.
18. H. Frankfort; op. cit; Page 90.
19. G. Rawlinson; op. cit; Vol II Page 42.
20. G. Rawlinson; op. cit; Vol I Page 483.
21. H. Frankfort; op. cit; Pages 98, 99.
22. M. A. Murray; op. cit; Page 97.

Sramana (श्रमण) Tradition and Vedic Literature

• Dr. S. K. Gupta
Reader in Sanskrit, Rajasthan University, Jaipur

We are publishing this article by Dr. S. K. Gupta, as a rejoinder to a paper by Acharya Tulsi Maharaj on Sraman traditions. The author may hold his own views on the subject, but it has not yet been finally accepted by others that Sraman tradition is not Pre-Vedic. Elsewhere in this book itself we have published the article of Mr. R. C. Jain on "Sramanic Foundations of Ancient Egypt". We would like to invite more articles on this subject in our next issue.

—Editors

SEVERAL scholars have tried to show that Sramana (श्रमण) tradition (as identified with the Jain religion) is pre-Vedic. Recently Acharya Shri Tulsi Ji read a paper on this topic before the International Congress of Orientalists held this January in New Delhi. Indirectly Shri R. C. Jain concurred with his views by trying to establish that the ancient Egyptian and Sumerian cultures were Sramanic. He also opined that the Egyptians were the Vedic Panis and as such they were followers of Sramana (Jain) beliefs. It is proposed to study in this paper some of the arguments advanced from the Vedic literature in support of the pre-Vedic existence of Sramanic tradition.

2. A reference to Jain monks and their practices has been seen in Rv. X. 136. The Jains have two types of ascetics- (i) those who keep nude and do not use any clothes or any other type of cover on their body ; and (ii) those who are clad in white clothes. These munis do not keep any hair on their head. An exception to this practice has been pointed out in the case of Lord Risabha Deva who is said to have retained his beautiful locks of hair on two sides of his head at the request of Sakrendra. For this reason he is called Kesin in the Jain tradition.

3. Now Rv. X. 136 is attributed to seven sages who are styled as Vatarasana (वातरशना मुनयः). This name has been treated by Sayana as a patronymic title meaning sons of sage Vatarsana. These sages wore yellow barks (मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसतेमलो). By meditation they identified themselves with the various gods of the mid region represented by wind. People ignorant of this reality cannot reach the ecstacy of their joy and realisation. They can only see and feel the worldy forms (bodies) of these seers :—

उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आ तस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मतीसो अभि पश्यथ ॥

4. The following translation of the hymn (although disputable at several places) by R. T. H. Griffith will give a rough idea as to the nature of these Vatarasana sages (wind-girdled seers).

1. "He with long loose locks supports Agni, and moisture, heaven and earth.

> He is all sky to look upon; he with long hair is called this light.

2. The Munis, girdled with the wind. wear garments sailed of yellow hue.

> They, following the wind's swift course go where the Gods have gone before.

3. Transported with our Munihood we have pressed on into the winds :

> You therefore, mortal men, behold our natural bodies and no more.

4. The Muni, made associate in the holy work of every God.

> Looking upon all varied forms flies through the region of the air.

5. The Steed of Vata, Vayu's friend, the Muni, by the Gods impelled.

> In both the oceans hath his home, in eastern and in western sea.

6. Treading the path of sylvan beasts, Gandharvas, and Apsarases.

> He with long locks who knows the wish, is a sweet most delightful friend.

7. Vayu hath churned for him ; for him he poundeth things most hard to bend.

> When he with long loose locks hath drunk, with Rudra, water from the cup."

5. Roth has given the following note (as quoted by Griffith) about these seers :

"The hymn shows the conception that by a life of sanctity the Muni can attain to the followship of the deities of the air, the Vayus, the Rudras, the Apsarases, and the Gandarvas ; and, furnished like them with wonderful powers, can travel along with them on their course......The beautiful-haired, the long-haired, that is to say, the Muni, who during the time of his austerities does not shave his hair, upholds fire, moisture, heaven, and earth, and resembles the world of light, ideas which the later literature so largely contains."

6. On the basis of a passage in the Taittiriya Aranyaka, viz., "वातरशना ह बा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः" these wind-girdles sages have been surmised to be Jain monks. This passage (II.7) contains a story to eulogize the verses employed in कूष्माण्डहोमाङ्ग. The story narrates that Vatarasana Rsis were celebates and were devoted to penances (i.e., they were Sudras). Other sages came to them to beg. Fearing to something to happen which may be beyond their power they entered the कूष्माण्ड verse. The other sages later on discovered them in those कूष्माण्ड verses. This story indirectly points out that the subject matter or the content of the कूष्माण्ड verses is called वातरशना ऋषय. These sages have been mentioned in this work at four other places also. In one place (I. 23.2) they are described to have been fashioned out of the flesh of the desire of Tad Eka (of Rv. X. 129, 2) and in two places (I. 21.3 ; 31.6) they are described as performers of the Istaka ceremony and attainers of svah (light of heaven) thereby. In the fourth place (I.24.4')

they have been associated as performers with the प्रविश्का ceremony. Moreover, only seers of vedic verses are called Rsis, who can, therefore, be none other than the believers and followers of the Vedic religion. The very fact that a hymn attributed to the wind-girdled sagesappears in the Rg-Veda indicates that they were strict followers of the Vedic religion-sacrificial and spiritual.

7. There is no other passages in the Vedic literature containing the word Vatarasana.

The word Kesi

8 The word Kesi in the hymn Rv. X. 136 cannot refer to Lord Risabha Deva merely because this dignity has been called वातरशन by the Bhagavata Purana and because he had matted hair on two sides of his head. The Vasisthas were also conspicuous on account of their hair and were called Kapardinah (Rv. VII. 33 1; 83 8). Moreover, the Rg-Veda refers to three केशिन: (Rv. I. 164.44) who have been explained as fire, sun and wind or as matter, individual soul and the Supreme Soul. Indra, his horse, Agni's horses and his flames and charioteer of Mudgala have also been called by this name. In the Vatarasana hymn Kesi has been described as the All-Powerful Entity which bears fire, water, the earth and the heaven. It is the light of the whole world. This Entity moves in the Gandharvas, the Apsarasas and all beings (mrga) and drinks water along with Rudra:

The word Vrsabha

9 Vrsabha in the Rg-Veda has been confused with Lord Rsabha Deva. In Rv. X. 102.6 Vrsabha mentioned along with the word Kesin (charioteer of Mudgala) signifies the bull yoked to the chariot of Mudgala in his race where he won a thousand cows. Griffith has translated the two verses (viz., X. 102. 5-6) bearing on the problem as follows.

"5. They came anear the bull; they made him thunder, made him pour rain down ere the fight was ended.

> And Mudgala thereby won in the contest well-pastured kine in hundreds and in thousands.

6. In hope of victory that bull was harnessed: Kesi the driver urged him on with shouting.

> As he ran swiftly with the car behind him his lifted heels pressed close on Mudgalani,"
>
> This bull has been described as follows in verse 4.

"4. The bull in joy had drunk a lake of water. His shattering horn encountered an opponent.

> Swiftly, in vigorous strength eager for glory, he stretched his forefeet, fain to win and triumph."

10. The word Vrsabha in Rv. I. 190.1. II. 33 15, V. 28.4, VI. 1 8; 19,11 and X. 99.11 has been used as an adjective to the gods Brhaspati, Rudra, Agni and Indra. Modern scholars translate it as 'bull'. Sayana and others as 'fulfiller of desires' 'sprinkler of semen' etc. It remains to be shown how this word interpreted as Lord Rsabha Deva fits in the verses and their hymns.

The word Muni

11. The Rg-Veda says that the leader of the Maruts is like a muni 'an inspired being' (VII. 56.8 Griffith's translation).

Indra has been described as a friend of munis 'इन्द्रो मुनीनां सखा'. The Atharva Veda (VII. 78.1) ascribes an arrow to a muni whom Sayana identifies with Atharvan. Munikesa (having hair like a muni) is described by Sayana as demon (VII. 6.17). As has already been said the Vatarasana Munayah are Vedic seers and the Taittiriya Aranyaka expressly states it. The Vedic Munis, therefore, were a part and parcel of the Vedic society, lived in it and worked for it. It is not clear from the scanty description in the Vedic Samhitas as to whether they were householders or recluses. They cannot, however, be regarded as belonging to a non-Vedic tradition. The mention of Satam Vaikhanasah and Vamro Vaikhanasah as Vedic seers and the statement that persons practising penances etc. in mountains and on river banks become vipras-kavis-munis indicate that forest hermits existed among the Vedic Aryans.

The Vratya Kanda

12. According to the Atharva Veda a Vratya is a dynamic force who is the source of all this world and its accompaniments including men, animals, the moveable and the immoveable elements, actions and all else. Nothing can move without this force is seen in human guests and scholars also who have been described at length in the Vratya Kanda. Dr. Sampurnanand preceeded by Ksema Karana and Jai Deva have correctly called this force 'the Supreme Soul'. The Atharava Veda has described this force by various names as Prana, Rohita, Kala, Kama, Brhmachari and so on. Referring to this force appearing in the form of a guest or a scholar Sayana says that such a scholarly person respected by all, pure in nature is hated by persons who are devoted to actions only. Such persons, in the words of the Yajurveda, live in darkness and are to be condemned :

अन्धन्तमः प्र विशन्ति ये ऽ विद्यामुपासते ।

Sayana has nowhere said that the Vratya of the Atharva Veda is hated by all types of Brahmanas.

13. The description of the Vratyas as persons not observing religious practices and celibacy and not devoted to worldly duties like agriculture and trade and worthy of condemnation (Tandya Brahmana XVII. 2.) refers to a later degenerated class of persons who called themselves Vratyas and who were far below the standard of Vedic Vratyas described above. It must have happened just in the same way as we have these days spurious mendicants and ascetics who are a slur on the Hindu society.

14. It does not appear to be natural to read or infer a description of Lord Rsabha Deva in some of the verses of the Vratya Kanda. When Vratya has been described as standing for a year he has been associated with all the seasons of the year, all the different types of Vedic verses, various Samans and the Veda. In his movements for the various directions he has been associated with the Vedic texts gods, rites and ceremonies and other forces of the universe. Among other things he has been associated with samiti, sena and *sura* (which is of special significance if it means wine or liquor). His company makes a man fit to achieve various objects including the Devayan and Pitryana and knowledge of vital airs, earth, heaven and sky. He is not opposed to sacrifices and visits sacrificers.

Sacrifices performed with his permission bear full fruit to the sacrificer.

Arhan

15. This word has been used several times in the Mantras. It has been used there as an adjective (meaning 'adorable, worthy') to Jatavedas, Agni, Idhma, Ila, Rudra, Indra (Nahusa), Jantavah (creatures) Marutah and Indragni. In view of this usage of this word it is unnecessary to quote and discuss all the passages where this word occurs. It is, however, quite obvious that the root, arh' is a very favourite one with the Vedic seers and has been used several times in the Samhitas and later literature.

16. The word 'arhan' and its root 'arh', therefore, do not refer to any non-Vedic or pre-Vedic Sramana tradition. It was later that the word 'arhan' was adopted by the Jains and was particularly used by them for their religious preceptors on account of its import the adorable one. Their use has misled persons ignorant of the Vedic usage. It is no wonder if such persons make statements describing Vedic practices, beliefs and descriptions as non-Vedic.

Asuras

17. Evidences of the identity of the Asuras with the civilized non-Aryan tribes of pre-Vedic India and for their belief in Jainism are based on Pauranic statements which have to be carefully shifted, interpreted and examined. Their examination is beyond the scope of this paper. However, the passages quoted in support of these views unmistakably point out that the Asuras were not originally Jains but were converted to that faith, obviously after its birth and propagation.

18. Again to declare Asuras as non-Aryan tribes merely because they have been described as enemies of Vedic Aryans is not sound. It may be noted in this connection that the word 'asura' is one of the epithets of Vedic gods. Modern scholars have opined that this word changed its meanings and came to denote demons towards the close of the Rg-Vedic period. In a passage (Rv. 1. 108. 6) asuras are no other than the seers of Angirasa order who are devotees of Vedic gods and perform sacrifices. In a verse of Nodhas Maruts have been called asuras and in a passage of Tirasci or Dyutana Indra has been asked to destroy the asuras. Maruts are great allies of Indra. These two passages read together clearly indicate that the word asura had two meanings-one good and the other bad. It, therefore, does not indicate that it is a name of some non-Aryan tribe.

19. This is not the place to discuss the problem of the original home of the Vedic Aryans. Scholars are sharply divided on this point. A group also advocates and not without strong grounds that the Vedic Aryans were either the original inhabitants of the Indian territory or were the first occupants of this country. The doctrine of their conflict with the indigenous tribes is in their view a pure myth and has to be discarded. Not a single reference has so far been traced throughout the range of ancient Sanskrit literature (Vedic and non-Vedic) which may clearly point out that the Aryans came from outside. On the other hand the Aitareya Brahmana (VII. 18) states that the dasyus were the descendents of Visvamitra, a Vedic seer. There is no use of the term 'Dravida' in the early Vedic literature. It

might have originated from the term 'Dravadida Saman' or it might have had something to do with this Saman.

20. As stated by the authors of the pre-vedic existence of the Jain tradition theory the Mahabharata holds that the Asuras were Vedic people with Vedic beliefs. The learned author, however, discards the authority of the Mahabharata on this point since he feels that 'the calm and peaceful attitude towards life and the belief in equality for all' adopted by the Asuras are essentially, originally (and perhaps finally also) Jain or Sramanic. Such an assumption is not acceptable in view of the evidences of the existence of such an attitude and belief in the pre-Jain Vedic literature.

21. It has been stated that Shri K. Sen holds that certain words including tirtha, puja, *deva*, bhakti, asvattha, tulasi, and sindura are non-Vedic terms and were borrowed from pre-Aryan tribes. Majority of these words do not appear to have been used in the Vedic Samhitas and the Brahmanas. They were a later acquisition in Sanskrit. Naturally they would have been acquired when the so-called conflict of the Aryans and the non-Aryan indigenous people had long vanished from the Indian soil and the Aryan sacrificial religion with its spiritual developments embodied in the entire Vedic literature had fully gained ground. The words 'deva' and 'yajan' are the backbones of Vedic religion, philosophy and culture. Out of these two the former, viz. deva is more important than the other since all yajnas are connected with the conception of 'deva'. Take any one or both away from the Vedic religion, philosophy and culture there will remain no vedic religion, philosophy and culture. If 'deva' is non-Aryan then Vedic religion, philosophy and culture is also non-Aryan.

22. A word about the pre-Vedic existence of the snake worship. The Rg-Veda does not appear to have recorded any reference to snakeworship. However, there is a seer Sarparajni (Rv. X. 189). Arbuda Kadraveya Sarpa is the author of Rv. X 94. The word Sarpa has been used in various senses in the Samhitas. It has been explained as 'devah' and 'lokah' in the Brahmanas Yajurveda reads' 'नमः सर्पेभ्यः'. Sarparajni has been identified with 'earth'. Reverence to sarpa sages, to gods and to the worlds (in the form of their knowledge) coupled with the Yajur Veda passage cited above appear to have afforded a sufficient background for the origin of snakeworship in India. If it be so, snake worship would cease to be non-Aryan. The problem needs a thorough examination from the historical and religious points of view.

23. The Rg-Veda mentions several rivers. Rv. X. 75 records most of the rivers of Northern India. In other verses also references to some rivers are found. There is nothing in the Vedic hymns which may suggest that their characteristic nature is absent from the mind of the Vedic seer and that he considers them as sacred and god-like. The conception of a deity in relation to a Vedic stanza has to be fully borne in mind before the nature of river-hymns can be correctly grasped.

24. The Vedic literature, therefore, does not testify to the existance of any 'non-Vedic pre-Aryan 'Sramana Tradition.' •

Practicability of Ahimsa (Non - violence)

• Rajmal Sanghi

THE world is weary of hate, fear and violence. We see that the fatigue which has overcome the world has not benefitted humanity. Only it is through Ahimsa or non-violence as we may call it that the world can be saved from the orgies of violence and war-fare We have already seen the bankruptcy of violence to solve the problems of humanity which in turn has been threatened by violence. Yet there is nothing to be despaired and we can hope for a brilliant future, when man will achieve peace and unity. But this peace and unity will be attained only by following the paths laid down by the seers of old and not through pure intellect of today. This path will be the path of love, cooperation and truth and non-violence, where there is absolutely no room to fraud, hatred, distrust, deceit, falsehood and all the ugly broods of violence.

The methods of Himsa to solve our problems are intended to exert pressure which is insane and full of anger and illwill, but this pressure is ineffective, as it is not based on goodwill and gentleness, since violence appears to be used to achieve quick results, but they rarely turn out to be the results really desired. The good which is sought through it can never be permanent. History supplies ample proof of it that those who have, no doubt with honest motives, achieved the desired aim by using brute against them, have in their turn become a prey to it. Good brought through force destroys individuality.

Moral equivalent of Violence

Non-violence is the moral equivalent of violence. Reason alone can do nothing. Things of fundamental importance can be secured not merely by satisfying reason, but by change of heart. The appeal of reason is more to the head, but the opening up of the inner understanding in man can only be attained by the change of heart. This change of heart can be achieved by an appeal to the higher spirit of man which is possible by adopting the method of love and non-violence.

Non-violence may be defined as non-injury to any body in thought, speech and action (मनसा, वाचा, कर्मणा) A non-violent man looks upon all beings including animals, insects and birds with equal compassion. He is ever ready to undergo any hardship to save others from pains and for the welfare of others. He looks to the whole humanity as one family and is always ready to behave with others, as he would with his own kiths and kins. His guiding principle in this regard is "वसुधैव कुटुम्बकम्" "i.e., "the whole universe is his family." He cannot even imagine

bad of others. Love, forgiveness and friendliness, peace, kindness, and civility, frankness, service and protection, philanthrophy, generosity, truth and cooperation are his virtues. Violence springs up from fear, enemity, selfishness, anger and cruelty. The man who practises non-violence and who is pure-minded disciplines his senses in such a way as to keep the above springs of violence under control. Therefore, it may be said that non-violence is not only non-killing. Violence means causing pain to or killing any life out of anger or from a selfish purpose, or with the intention of injuring it. Ahimsa or non-violence is quite opposite to it, and consists in refraining from doing so. Thus Ahimsa is uttermost selflessness which means complete absence of regard for one's body. When man does nothing for himself and is quite selfless, others do not fear of him and feel safe from him. Therefore, a man who is imbibed in non-violence, never does anything which may harm or pain others. Though it is impossible to sustain once one's body without the destruction of other bodies to some extent as for example, all have to destroy some life for sustaining their own bodies. Though this is unavoidable, but he takes his best care to avoid it as far as possible. But Himsa committed not far personal gain or with selfish motive, but for the sake of large humanity may also be unavoidable and performed as a duty. This may also be called Ahimsa.

A non-violent man therefore, always tries to overcome evil by good, anger by love, untruth by truth, Himsa by Ahimsa. There is no other way of purging the world of evil. A non-violent man never hates others, he believes in the principle 'hate not the sinner, but the sin." For we can only win over the opponent by love, never by hate. Hate is the highest form of violence. Hate and non-violence both cannot tread pace to pace.

Because non-violence consists in not injuring others even by action, thought and words. Therefore, a non-violent man never uses words which injure others feelings. He never speaks a lie and what is true however, harsh or unpopular it may appear to be for the moment and he never anchors at the source of hypocracy. Non-violence of thought can be evolved only be speaking truth, which means that a man practising non-violence never uses words whose essence is violent, that is an intention to do harm to the opponent. If the present distrust among the various nations is shed off and true and honest relations are established among them, there is no fear of war in future. Gandhiji once told "the way of peace is the way of truth' Truthfulness is even more important than peacefulness. Indeed lying is the mother of violence, a truthful man cannot long remain violent."

Biological and physiological evidences show that by his very anatomy, by the structure of his nervous system, man is compelled to seek the truth and that man's spiritual nature and his emotional nature are also a part of the truth.

Strength of Non-violence

In its positive form, non-violence means the largest love, the greatest charity. A non-violent man cherishes a feeling of love, even towards his enemy and wrongdoers. But it requires truth and fearless-

ness. It creates a way for an honourable understanding and removes mistrust among them. Gandhiji said, "Love is the strongest force the world possesses and yet it is the humblest imaginable. The hardest heart and the grossest ignorance must disappear before the rising sun of suffering without anger and without malice. Love makes a man invincible and can unite the whole world in one bond and will be more effective than the ties secured by agreemennt on paper or by arms. We have seen that love acts as a great channel of sublimation for our ego which is the root cause of all our evils. It reduces frustration to a minimum and reduces anger, resentment and violence. What is necessary today is to change the mind and heart of the people and these changes cannot be affected by killing or wounding the opponents which creates in them a feeling of retaliation and hatred, but by pursuing them to adopt new ideas and assumptions by love."

A man adhered to the principles of love and non-violence never indulges in extravagance of thought, action and deed and practises the greatest self-restraint because of his to be detached from all unnecessary things. Attachment breeds desires which, if not satisfied, causes dissatisfaction, sorrow and frustration. Frustration, in its turn, brings violence. It makes man selfish and a selfish man is the saddest man in the world. It is why Mahavir, Buddha, and Gandhi all preached to keep self-restraint, non-possession and 'Aparigarh'. They went even to such an exent as to advising the man to retain only things of his barest necessity and discarding others. Fasting is also a sort of self-restraint and it grows strength of soul in man. Multiplication of wants increases velocity of dissatisfaction and therefore, spirit of non-possession is very essential as love and exclusive possession can never go together. Because a non-violent man is not selfish and loves everyone irrespective of anything, therefore, he practises tolerance also. Tolerance sheds off man's false notions of superiority of one's religion over the other, as he believes in the oneness of God and a spiritual unity in all the human beings. Looking at all religions with an equal eye brings forth adherants of other religions into confidence of the non-violent man. Tolerance necessarily does not mean indifference to one's own faith, rather a more intelligent and purer love for it. It gives us spiritual insight and breaks down the barriers between faith and faith and man and man. It broadens his outlook and brings the entire humanity under his orbit.

Forgiveness

Non-violence is the extreme limit of forgiveness but forgiveness is the quality of brave. Non-violence is impossible without fearlessness. As non-violence is superior to violence, similarly forgiveness is superior to punishment. Forgiveness adorns a soldier. But it is meaningless if a weak fellow unable to strike pretends forgiveness out of cowardiceness. Abstinence is forgiveness only when there is the power to punish. A man who fears none on earth would consider it troublesome even to show anger against one who is vainly trying to injure him.

Non-violence and Cowardice

Thus there is no room for cowardice or even weakness in the dictionary of a

non-violent man. Non-violence and cowardice cannot go side by side. A non-violent man fears none, therefore, he needs no arms to defend himself while a violent man keeps arms as he fears of others. True non-violence is an impossibility without the possession of unadultrated fearlessness. Therefore non-violence is of the strong, not of cowards; Gandhiji once said, "He who has not evercome all fear cannot practise Ahimsa to perfection. The votary of Ahimsa has only one fear, that is of god. He who seeks refuge in God ought to have a glimpse of the Atman that transcends the body; and the moment one has a glimpse of the imperishable Atma one sheds the love of perishable body. Training in non-violence is thus diametrically opposed to training in violence." A non-violent man cannot take to his heels the moment he sees others in danger rather he will even put his life in risk to protect him. He knows how to face danger and death fearlessly and courageously. He possesses capacity to endure all types of hardships. 'Thus a non-violent man fears nothing external but the internal foes as passion and anger, he always must fear. The only remedy to shed off fear is to have the idea that nothing whatever in the world is ours, he should shake off attachment for wealth, for family and for the body and the moment this idea creeps into the mind of a man and makes his place there, fear rolls there like mists.

Ahimsa not a negative force

It is, therefore, wrong to call Ahimsa a negative passive force, for non-violence in its dynamic conditions means conscious suffering. A non-violent man cannot submit meekly to the will of the evil-doer, rather he will put his whole might against the will of the tyrant. If one submits meekly in a cowardice way and in a helpless condition, it is no non-violence, rather it is better to take arms and defend one's honour and prestige. Thus non-violence is infinitely superior to violence in all cases

But certain people are afraid that the method of non-violence is a slow long drawn out process. But this is not so. It is the swiftest the world has ever seen, for it is the surest. It works subtly and invisibly. Besides being a swifter way, non-violence is also the nobler way. It raises people themselves and the whole of humanity who voluntarily suffer from others. It breaks down the morale of the opponents or the exploiters for they who loses their lives in the true cause of humanity through non-violence ennoble themselves and morally enriches the world, for their sacrifices. Gandhiji called it, 'an all-sided sword' for it can be used any way; it blesses him who uses it and him against whom it is used.

After discussing the theory of non-violence, the question arises whether non-violence is always applicable. Several objections have been raised as to its practicability in modern times. It is being held that truth and non-violence are individual morals and have no place in politics and worldly affairs. We do not agree to it. Countries and nations consist of individuals and if the character of individuals is based on highest morals, on such virtues as truth, love and non-violence, there is nothing which can oppose it in any way.

Its Applicability

It has been said that non-violence may be an infallible weapon, but whether it is possible for man not to resort to arms and fighting. It is also pointed out that Lord Mahavir and Buddha tried for a time to lead people along the path of Ahimsa, but what happened after them? Society went back to its old ways, forgetting their teachings. A few persons can be inspired to study Ahimsa and not the society as a whole.

Fighting is not an instinct and its development depends on circumstances & conditon in which a man is brought up. If non-violence can be accepted as an infallible weapon then there is nothing in this world to match a man who has achieved non-violence to the fullest extent. Moreover, if we turn our eyes to the records of history it would be clear that the world has been progressively and steadily advancing towards Ahimsa since long times as we have already seen in the historical analysis of the world events. The very argument that the war and violence has failed to solve the problem of the recurrence of war and violence, weakens their force. The world has to progress towards it still further.

H. G. Wells in 'A Short History of the World' admits that there is a wide demand for coordination and a widespread craving for something called 'peace', but he regrets that there is no self-sacrifice, no great urgency towards a sane, vigorous and creative life. But we have seen that self-sacrifice is an essential quality of a non-violent man and therefore, there is nothing to be regretted. He further points out that even "if at last men do achieve such a concentration of power as to set up and maintain an adequate peace organisation throughout the world, it will certainly not be admitted by the easy road of non-resistance. The Pax Romana was the outcome of acquisition and conquest and the Pax Muindi will surely call for as steadfast resolution and as firm a treatment of recalcitrants" But we have shown that if peace is sought by violence, it cannot be a permanent one rather it will be an imposed peace and a suppressed conflict. It will be unstable and will contain seeds of its own destruction. In such a peace there is always a conflict between the external and the inner conditions. But in peace secured by non-violent resistance there is no longer any conflict between the inner and outer conditions and therefore only such peace is enduring and none else.

Objections

Others have objected it in other ways. Certain modern writers have undermined the value of love and universal brotherhood. James Harvey Robinson contends that it has proved compatible with slavery and serfdom, and wars and industrial operations. He opines that only a very rare soul can dare profess that he loves his enemy, otherwise suspicion and dislike are much more congenial to our natures than love. While on the other hand, Archibald Robertson emphasises a change of head rather than a change of heart. Though he believes that on the whole people are peaceable, desiring only to live and let live, the root of mischief is not sinfulness of these people but the social relations in which they and the rest of us live and move and have our being

He concludes that the fault is not in average human nature but in the frame work within which average human nature functions. Therefore, he suggests that a change of mind is very essential. J. A. C. Brown, the eminent Psychologist, is also of the same view and holds that writers who try, like Aldous Huxley, Gerald Heard, and others, to change society by advocating a change of heart philosophy, are missing the point. He, also, like other westerns, believes in the change of outlook together with a fundamentlly alteration in the environment without which the change of mind would be ineffectual.

With Tagore also the doctrine of Ahimsa was a broken truth although he recognised the strength of non-violence. He did not believe in the efficacy of Ahimsa for the attainment of an immediate attainment of an immediate political objective. He observed inclusively, "like every other moral principles Ahimsa has to spring from the depth of mind, and it must not be forced upon man from some outside appeal of urgent need. The great personalities of the world have preached love, forgiveness, and non-violence, primarily for the attainment of some immediate success in politics and similar departments of life. They were aware of the difficulties of their teaching being realised within a fixed period of time in a sudden and wholesale manner by man whose previous course of life had cheifly pursued the path of self. Nodoubt, though a strong compulsion of desire for some external results, men are capable of repressing their habitual inclination for a limited time, but when it concerns an immense multitude of men of different temptations and stages of culture, and when the object for which such repression is exercised, needs a prolonged period of struggle, complex in character, *I cannot think it possible of attainment.*"

George Russell and Captain Liddell Hart have also raised similar objections about its practicability to solve great conflicts though they recognised its great potentialities. This is the general objection against non-violence.

The doctrine of Ahimsa is generally considered to be a weapon only for spiritual perfection of an individual, and is not considered to be meant for the furtherance of a movement for political gains by men who have not abandoned the path of self. But it is mistaken to think non-violence not applicable to masses or for permanent benefits in the political field. These critics seem to take for granted that the disciplines available to establish mass habits of powerful gentleness are only in the realm of spirit. I am wholly of the opinion that if peace and permanent peace is to come on earth, it will come only through the weapon of non-violence and not through wars and violence.

As a matter of fact reason alone, which is the product of mind, can do nothing. Things of fundamental importance can be secured by satisfying reason as well as by change of heart. Social aims we must have in view. Social service will engender in the plastic young mind a feeling of brotherhood and sisterhood. As Jodh Dewy aptly says, "It is not enough to teach the horrors of war and to avoid everything which would stimulate inter-

national jealousy and animosity. The emphasis must be put upon whatever binds people together in cooperative human pursuits and results apart from geographical limitations." Aldous Huxley also says, "there are some who believe that desirable social changes can be brought about most effectively by changing the individuals who compose society. Of the people who think in this way, some pin their faith to education, some to psychoanalysis, some to applied behaviourism. The real obstacles to peace are human will and feelings, human convictions, prejudices, and opinions" And it requires a change of heart as well as a change of mind to remove the obstacles, for the appeal to man works best through heart and not the head. If a band of firm believers in non-violence suffers for a right cause but does not retaliate, then the heart of the exploiters is bound to be touched by the suffering, and a way is sure to be open for human reconciliation and new social synthesis.

Horace Alexandra rightly pointed out "it is a superficial judgment that sees humanity as a mass of innocent people wanting to be left in peace (as Archibald Robertson remarked) while a few war-mongers seize power and force the peoples to fight their battles." The true peace makers are those who spend their lives, and who devise means by which others may spend their lives in loving service to others : not in self-righteousness, hardly even in pity for suffering but in pure love for their enemies. Only when man learns to be loyal first and foremost to all makind, irrespective of any differences of caste, colour, and creed, as members of one brotherhood, children of one spirit, peace can prevail in the world.

The Jains generally refrain from taking even some fresh vegetables because they are living and according to them even killing of vermin is forbidden under the law of Ahimsa. Though evidently the way which Jains preach and follow seems to be impracticable and unreasonable, but it is a wrong notion. It may be difficult to follow but it is not absolutely unreasonable. Prof. Tan Yun Shan, Director of Vishwa Bharati Cheena Bhawn, observed "It is impracticable because humanity has not yet progressed enough. When humanity has sufficiently developed and reached a certain higher stage, this law of Ahimsa should be and would be followed by all." Therefore, it may be said that so long as we do not recognize the supremacy of the moral law of love and non-violence in our national and inter-national relaitons, we shall have no ending peace.

Examples

There are innumerable instances of the triumph of this wonderful weapon in individual sphere. Only few examples are quoted her to show the strength of the weapon of non-violence in political and mass spheres.

In Hungary, during the mid-nineteenth, when Emperor Franz Josef of Austria, attacked over that country, the Hungarians, under the guidance of Francis Deak offered a non-violent resistance to the outrageous and violent activities of the belligerent, Deak advised them to refuse to recognize the Austrian Government in any way and asked them to admonish acts of violence and abandon grounds of legality. "Thus is the safe ground", he

said, "on which, unarmed ourselves, we can hold ourselves against armed force. If suffering must be necessary, suffer with dignity." This advice was obeyed throughout Hungary till the Emperor finally capitulated and gave Hungary her constitution on Feb. 18, 1867.

Another outstanding example of the application of non-violence has been quoted by Prof. Tan Yun San in 'Lord Mahaveer Memorial Granth' (Agra). In ancient China Lao Tsu, Confucious Mencious and Mo Tsu preached the gospel of non-violence or Jen as they called it. Mo Tse lived a little later than Lao Tsu and Confucius but earlier than Men Cius. He was born about 500 B. C. Mo Tsu preached the gospel of non-violence and opposed not only by words but also by action. Having heard of the news that the Chin State was to attack the Sung State he immediately went from his native State Lu, walked for ten days and ten nights on foot to see the king of Chin. When he reached there he persuaded him to stop the aggression and he succeeded in his efforts.

In the West though there is no memorable achievement of the change of heart, yet there are some remarkable examples of the application of this principle. Hoares Alexander gives a little known example about the heroic resistance of Finnish people to the policy of "Russification" by the Tsars of Russia at the beginning of this century. We also know about the heroic actions of the Norwegian teachers during the German occupation of Norway, how they refused to teach the Nazi and Fascist doctrines to the schoolchildren, though for that they had to suffer in brutal concentration camps. When the Nazies invaded Denmark the Danes instead of meeting armed might with armed resistance, offered non-violent resistance. They did what was consistent with human dignity and the Germans did not dare lay rough hands on them. The result was that loss and damage in Denmark was negligible and her recovery became much easier than in other occupied countries.

Heinz Kraschutzki, German delegate to the World Pacifist Conference in India, related before the session of the Conference an account of the defeat of General Kapp's attempt in 1920 to seize the German Government, by military force. A complete general strike had paralysed this military invasion. Kraschutzki held that freedom from fear is the most important requisite for a peacemaker.

Havelock Ellis in his 'Impressions and Comments' records an incident of January 9, 1915. "French and German soldiers who had fraternized between the trenches at Christmas subsequently refused to fire on one another and had to be removed and replaced by another men." He says that amid the vast stream of war-news which then flowed all over the newspapers he chanced to find that little paragraph in a corner of a half-penny evening journal. This most important item of news how clearly shows that the end of fighting might be reached. If we might be able to bring men together as human beings, they will be prepared to violate all the abstract principles of war and Patriotism, to break any rule of discipline, rather than kill one another. If persons whose hatred of each other had

been artificially excited to the highest pitch could show it only on a single Chaistmas Eve, it is not too much to ask of the humanity in this connection. "Patriotism and War are not human facts" has been rightly pointed out by the seers of old.

The next example occurred in Ireland during the time of Cromwell. The history of Cromwell's conquest of Ireland, and the record of the laws and punishments of those days clearly show that the English in that country acted in a fearfully brutal and callous manner, yet the non-violent resistance of the quackers prevailed against them.

An instructive example of the way a group as a whole can acquire a peaceable and non-violent tradition is given by the relationship between two neighbouring peoples in the Malaya Peninsula the Semang and Malaya. For a long time the more powerful Malayas oppressed the Semang by raiding them for slaves, cheating them in trade and ousting them from their lands. Originally the Semang resisted their powerful opponents but they were severely suppressed. Later they adopted the passive resistance and in due course the aggression of Malaya over them came to an end. Though they had no idea or intention of using non-violence but unconciously its use resulted in a success for them. *(Social Learning and Imitation-by N. Miller and J. Dollard).*

In Jain traditions we get several examples how warfare and bloodshed were avoided by the intervention of persons who followed the principles of non-violence. Such an example belongs to very ancient times when Bharat Chakravarty, a very powerful king, who ruled over Aryavrat decided an issue with his own brother Babubali by a dual between both of them giving up the path of warfare and thus saving lives of lacs of living beings.

The fact that there were several Jain and Buddhist rulers who carried on their administration for long periods quite efficiently prove that Ahimsa can also be worked out in political sphere.

I have not included here what Gandhiji did in his whole life trying to demonstrate the power of non-violence as they are well known to all persons of this age.

This shows that non-violence has been actually used on several occasions in the past and is practicable to solve the various problems of mankind, but the question arises how does it work.

Anger, fear and hatred are the basis of violence and are incapable enough to solve the various problems set before us, but they are required to be sublimated into such channels where they may be utilised. That is why, peace imposed from outside as a result of conflict cannot be stable.

The reason how non-violence works in masses is that even barbarians respect courage. The non-violent men exhibit rare courage in opposing their enemies, as they undergo all sorts of hardships. Non-violent resistance touches human nature itself, not merely its cultured areas. "The psychological forces in non-violent resistance would operate in different ways against different nations, but they will operate effectively against them all, as surely as violent war has operated against them all.."

Non-violence can also be an effective substitute for war. But as the main strength of the armies is their discipline which is more important even than weapons, similarly the non-violent resisters must also have a discipline which is more thorough, deeper, more moral and more effective than military discipline. The foremost requirement of a non-violent man is to have the power of self control, which if he does not possess, it would be a vain hope for a better world.

A non-violent man should inculcate in him the habit of obedience and self respect; self-reliance and self-control; tenacity of will and sense of order; cooperation and unity with others; endurance of common hardships and protection of community; energy and courage and equanimity and poise; besides these qualities he should possess a practice of handling the moral equivalent of weapons, tolerance, patience, satisfaction, humility, love of truth, love of people and faith in the ultimate possibilities of human nature.

" *My faith in non-violence remains as strong as ever. I am quite sure that only should it answer all our requirements in our country, but that it should, if properly applied, prevent the bloodshed that is going on outside India and is threatening to overwhelm the Western world.*"

—GANDHIJI

The Eight-Fold Path of Yoga and Jainism

• **Dr. Kamal Chand Sogani**
Lecturer in Philosophy,
Raj Rishi College, Alwar.

THE term 'Yoga' does not signify any sort of conjunction or union of the self with the other reality like God or the Absolute, but implies the arrest and negation of mental modifications,[1] the practical discrimination between the Purusa and Prakrti,[2] and the attainment of, and establishment in, the original nature of Purusa.[3] These three implications are not separate from one another. One leads to the other without being incompatible. Another meaning ascribed to the word 'Yoga' by Patanjali is indicative of the process to achieve the above ideal[4]. The equivalent expression in Jainism for the term 'Yoga' in the sense of the highest state is Suddhopayoga, Samadhi and Dhyana, wherein the conceptual transformations of the mind occurring in the form of auspicious and inauspicious deliberations are stopped and negated in their entirety on account of the fact that the self has established itself exclusively in its own intrinsic purity and excellence. The practical discipline to be adopted for this highest ascent is styled Charitra (conduct) as compared with the other meaning attributed to 'Yoga' as has been shown above. The actualisation of such a state is not a bed of roses, as may perhaps be conceived, but necessitates an arduous and persistent effort on the part of the Sadhaka. The most general and fundamental discipline required to ascend the sublime heights consists in developing detachment (Vairagya) and in adhering to incessant practice (Abhayasa)[5]. The former comprises the spirit of denial from indulging in the attractions of the world or the pleasures of the heaven[6], the latter signifies the endeavour to proceed on the Yogic path for curbing the unstable nature of mind and that too for a long time without any break[7]. Vairagya is negative in character, while Abhyasa is positive. The former includes wholesale turning from the objects of the transitory world, whereas the latter induces the self to pursue the Yogic path. The twelve reflections (Anupreksas).[8] enunciated by the Jaina Acharyas are potent enough to engender the spirit of detachment from

1. Y Su. I. 2
2. Ibid. II. 25, 26
3. Ibid. I. 3 ; IV. 34.
4. Y. Su & Vrtti II. 1.
5. Y. Su. I. 12,
6. Y. Su. Bhoja Vrtti. 1. 15.
7. Y. Su. I. 13, 14
8. T. Su. IX. 7.

the sordid ways of the world and to give impetus for the constant application of one's own energies for higher life. Thus Vairagya and Abhyasa summarise the whole Yogic movement. Patanjali enjoins eight-fold means of Yogic process, the constant and single minded devotedness to which bears the fruit in the form of emancipation after the filth of nescience is wiped out[9]. They are (1) Yama (2) Niyama (3) Asana (4) Pranayama (5) Pratyahara (6) Dharana (7) Dhyana (8) Samadhi.[10]

(1) Yama is of five kinds.[11] (a) Ahimsa (non-injury), (b) Satya (truthfulness), (c) Asteya (non-stealing), (d) Brahmacarya (celibacy), (e) Aparigraha Non-acquisition). The pronouncement of Patanjali that these Yamas may bear the credit of Mahavratas[12] when they transcend the limitations of kind, space, time, and purpose indicate the possibility of the limited or partial vratas. Besides, we may derive by implication that Patanjali is in favour of ascetic life, inasmuch as the life of the householder inevitably presents certain stumbling blocks in the way of observing Mahavratas. Hence the life of asceticism constitutes an indispensable discipline of the yogic process. The Vyasa-Bhasya pronounces Ahimsa to be at the root of both Yama and Niyama and further tells us that Yama and Niyama are pursued to observe Ahimsa in its pure and unadulterated form[13]. These Mahavratas are in perfect argeement with the Mahavratas[14] prescribed for a Jaina monk alongwith Ahimsa as the basis.[15] The Anuvratas are for the householder. It is not possible to guess the mind of Patanjali regarding the limited character of vows from his Sutras, but Vyasa seems to have included the killing of animals etc. for some purpose or the other under partial vows, which spirit is quite repugnant to Jainism[16]. Jainism observes that the householder should refrain from the Himsa of mobile beings[17].

(2) Niyama. It is also of five kinds[18] (a) Sauca (purity), (b) Santosa (contentment), (c) Tapa (austerities), (d) Svadhyaya (scriptural study), (e) Isvarapranidhana (devotion to God). The Sadhaka who has purged his mind of sins cultivates the above mentioned positive virtues. The Jaina Acharyas prescribe a number of virtues to be assimilated by the aspirant, namely, forbearance, modesty, straightforwardness, purity from greed, truth, self-restraint, austerity, renunciation, non-attachment, and celibacy.[19] Svadhyaya has been included in internal austerity,

9. Y. Su. Bhasya & Vrtti. II 28.
10. Y. Su. II. 29.
11. Ibid. II. 30.
12. Ibid. II. 31.
13. Y. Su. & BHASYA. II. 30.
14. Ca. Pa. 30, 31. ; Acara. II. 15
15. Sarvartha. VII. 1.
16. Y. Su. & Bhasya II. 31.
17. Ca. Pa. 24.
18. Y. Su. II. 32.
19. T. Su IX. 6.

while devotion, in Stuti and Vandana. The statement of Patanjali[20] that when the aspirant finds himself under sway of sinful thoughts he should throw them aside by reflecting on their evil consequences in order to regain firmness in the virtuous path, may be compared with the pronouncement of the Tattvarthasutra[21] that for the proper maintenance of the vows one should reflect on the afflictions that may befall here and hereafter as a result of not observing them properly or violating them.

(3) Asana and (4) Pranayama. Steady and comfortable posture is Asana.[22] Rythmical and regulated breathing is Pranayama.[23] The importance of posture has also been recognised in Jainism. The Mulachara tells us that the saint engaged in study and meditation is not subjected to sleep and passes his night in some caves after having seated himself in the postures of Padmasana, or Virasana and the like.[24] The Kartikeyanupreksa and the Jaanarnava prescribe certain postures to practise meditation.[25] Pranayama has not found favour with Jainism. This recognition may be corroborated by the enunciation of Subhachandra that Pranayama acts as a barricade to the saint aspiring for emancipation on account of the acquisition of supernormal powers by it,[26] though he recognises its importance for the development of concentration.[27]

(5) Pratyahara. It implies the withdrawal of the senses from their natural objects of attractions.[28] This may be compared with the control of five senses as one of the mulagunas of the Jaina-monk.[29]

These five constitute the moral and the intellectural preparation of the saints who move higher on the spiritual path. The external and internal distractions at this stage lose all their potency to seduce the aspirant. Nevertheless, certain obstacles may intervene and imperil his advancement. They are (1) Vyadhi (sickness)—disturbance of physical equilibrium, (2) Styana (languor)—the lack of mental disposition for work, (3) Samsaya (Indecision)—thought debating between the two sides of a problem, (4) Pramada (heedlessness)—the lack of reflection on the means of samadhi, (5) Alasya (Indolence)—inertia of mind and body owing to heaviness (6) Avirati (sensuality)—the desire aroused when sensory objects possess the mind, (7) Bhranti darsana (false, invalid notion)—false knowledge, (8) Alabhdabhumikatva (inability to see reality because of psychomental mobility), (9) Anavasthitatva (Instability which hampers the stability of mind, inspite of achieving

20. Y. Su. II. 33, 34
21. T. Su. VII 9.
22. Y. Su. II. 46.
23. Ibid. II. 49, 50.
24. Mula. 794, 795
25. Karti. 355 ; Jnana XXVIII 10
26. Jnana XXX. 6, 11.
27. Ibid. XXIX. 1,
28. Y. Su. II. 54. 55
29. Mula. 16.

Yoga Bhumi).[30] This concept of obstacles may be compared with the twentytwo parisahas in Jainism but the details do not correspond to each other. The cultivation of friendship with the prosperous, compassion towards the unhappy, commendation for the meritorious and indifference towards the vicious have been recognised as aids to mental purification.[31] The Tattvarthasutra also prescribes universal friendship with the living beings in general, commendation for the virtuous, compassion for the distressed, and indifference towards the immodest, in order to facilitate the proper observance of the vows.[32]

(6) Dharana, (7) Dhyana and (8) Samadhi. These are the "three stages of one and the same process of concentration on an object.[33] They are so much alike that the Yogin who attempts one of them (Dharana) cannot easily remain in it and sometimes finds himself quite against his will slipping over into Dhyana or Samadhi. It is for this reason that these last three yogic exercises have a common name—samyama[34]". Dharana is fixation of mind on a particular object.[35] Dhyana implies the continuous flow of thought on that object.[36] When Dayana becomes free from the distinctions of subject, object and the process of meditation we have Samadhi.[37] This Samadhi admits of twofold classification, Samprajnata and Asamprajnata, or Sabija and Nirbija or Salambana and Niralambana. Jainism does not distinguish between Dhyana and Samadhi; rather it includes these under Sukla Dhyana which is of four types. Samprajnata Samadhi may be compared with the Prthaktva - Vitarka and Ekatva - Vitarka types of Sukla-Dhyana and Asamprajnata Samadhi, with the consummation of Ekatva Vitarka type of Sukla Dhyana. Here the soul, according to Jainism, attains omniscience; this is embodied liberation. The disembodied liberation is arrived at by the last two types of Sukla Dhyana, Suksmakriya Pratipati & Vyuparatakriya-Nivatti.

Inspite of these certain resemblances, there are fundamental differences with the mystical way adopted by the Jaina-monk. Yoga system has not recognised the imperativeness of mystical conversion, probably confuses moral with mystical conversion, the importance of initiation by a Guru, and the necessity of seeking his guidance at every step, the possibility of fall from certain heights i.e. drak-nights of the soul, the significance of Pratikramana, and Pratyakhyana. All these factors are of enormous importance for mystical advancement.

---

30. Y. Su. & Bhasya. I. 30. (Trans. partly from 'Yoga, immortality and freedom' by Miercea Eliade. P. 381.
31. Y. Su. & Bhasya. I. 33.
32. T. Su. VII. 11.
33. Date. Yoga of the Saints. P. 87.
34. Y. Su. III. 4. (Trans. vide Yoga, Immortality and Freedom, P. 70.)
35. Y. Su. III. 1.
36. Ibid. III. 2.
37. Y. Su. & Bhasya. III. 3.

BIBLIOGRAPHY AND LIST OF ABBREVIATIONS

1.	Acara	—Acarasara of Viranandi (Santisagare Digambar Jaina Grnthamala).
2.	Ca. Pa.	—Caritra Pahude of Kunda-kunda (Patani Digambar Jaina Granthamala, Marotha under the title 'Asta Pahuda').
3.	Jnana	—Jnanrnava of Subhacandra (Rayachandra Jaina Sastramala Bombay).
4.	Karti	—Karti Keyanupreksa (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay).
5.	Mula	—Mulacare of Vattakera (Anantakirti Digambar Jaina Ganthamala, Bombay).
6.	Sarvartha	—Sarvarthasiddi of Puzyapada (Bharatiya Jnana-Pitha, Kasi).
7.	T. Su.	—Tattvartha-Sutra of Umasvati (Bharatiya Jnana Pitha, Kasi Under the title Sarvarthasiddhi).
8.	Y. Su.	—Yoga-Sutra of Patanjali (Gita Press, Gorakhpur).
9.	Bhasya and Vrti	—Yoga-sutra Bhasya and Bhozvitti (Madanlal Laxminiwas, Candaka, Ajmer).
10.	Yoga	—Yoga of the Sainti by Dr. Date (Popular Book Depot Bombay).
11.	Yoga	—Yoga, Immortality and Freedom by Micrcee Eliade Routledge and Kegan Paul, London).

संकट काल में आपका सहयोग

देश सेवा का अवसर सभी के लिए

किसान :

★ अधिक उत्पादन करें
★ ग्राम रक्षा दल के सदस्य बनें
★ श्रम बैंक में योग-दान करें
★ सहकारिता को अपनायें

महिलाएँ :

★ फिजूल खर्ची न करें
★ स्वर्ण दान करें
★ गृह उद्योगों में भाग लें
★ बालकों को राष्ट्र प्रेम सिखाएं

मजदूर :

★ खूब उत्पादन बढ़ायें
★ हड़ताल न करें
★ विवादों को बातचीत से सुलझायें

व्यापारी :

★ मुनाफा खोरी न करें
★ माल का अनुचित संग्रह न करें
★ कीमतें न बढ़ावें

सामान्य नागरिक :

★ होम गार्डस के सदस्य बनें
★ सेना में भर्ती होवें

राजस्थान सरकार द्वारा प्रसारित